दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू ।
UNIVERSITY OF JAMMU, JAMMU.

पाठ्य सामग्री

STUDY MATERIAL

एम.ए. हिन्दी

M.A. HINDI

SESSION : 2020 ONWARDS

पाठ्यक्रम संख्या 103	पाठ्यक्रम शीर्षक : आदि एवं भक्ति काव्य
COURSE CODE : HIN – 103	**TITLE : AADI EVAM BHAKTI KAVYA**
सत्र–प्रथम	आलेख संख्या : 1 से 24 तक
SEMESTER–I	**LESSON NO. : 1 – 24**

Dr. Anju Thappa
COURSE CO-ORDINATOR

http:/www.distanceeducationju.in

इस पाठ्य सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ शिक्षा निदेशालय,
जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू के पास सुरक्षित है

Printed and Published on behalf of the Directorate of Distance Education, University of Jammu, Jammu by the Director, DDE, University of Jammu, Jammu

COURSE CONTRIBUTORS

– **Dr. Parvinder Kour** — Lesson No 1,2,5,8
Professor, Department of Hindi
University of Jammu
Jammu.

– **Dr. Vinod Taneja** — Lesson No 3,4,6,7
Retd. Professor, Department of Hindi
Guru Nanak Dev University
Amritsar.

– **Dr. Sant Ram Vaish** — Lesson No. 9 to 12
Professor & Head, Department of Hindi
Guru Kul Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar.

– **Dr. Raj Kumar** — Lesson No. 13 to 16
Retd. Professor
Department of Hindi, University of Jammu
Jammu.

– **Dr. Neelam Saraf** — Lesson No. 17 to 20
Professor & Head, Department of Hindi
University of Jammu
Jammu.

– **Dr. Ashok Kumar** — Lesson No. 21 to 24
Retd. Associate Professor
Department of Hindi, University of Jammu
Jammu.

Review, Content Editing and Proof Reading

– **Dr. Anju Thappa**
COURSE CO-ORDINATOR

© Directorate of Distance Education, University of Jammu, Jammu, 2020

- All rights reserved. No part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the DDE, University of Jammu.
- The script writer shall be responsible for the lesson/script submitted to the DDE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility.

Printed at : Classic / 2020/ 500

एम. ए. हिन्दी

M.A. HINDI

CONTENTS

विषय सूची

LESSON NO. आलेख संख्या	TITLE आलेख	PAGE NO. पृष्ठ संख्या
1.	'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति एवं रासो काव्य–परम्परा	3
2.	पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता	9
3.	'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व	17
4.	पद्मावती समय का काव्य–सौष्ठव	29
5.	विद्यापति की लोक–चेतना	39
6.	विद्यापति भक्त अथवा शृंगारी कवि	57
7.	विद्यापति का विरह–वर्णन	66
8.	पदावली की काव्य–भाषा	77
9.	कबीर का रहस्यवाद	84
10.	कबीर–काव्य का सामाजिक बोध	98
11.	कबीर का काव्य शिल्प	109
12.	सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान	122
13.	पद्मावत अन्योक्ति और समासोक्ति	134
14.	नागमती का विरह वर्णन	145

15.	पद्मावत की सांस्कृतिक दृष्टि	157
16.	सूफ़ी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान	170
17.	सूरदास की भक्ति–भावना	184
18.	सूरदास का विरह–वर्णन	192
19.	भ्रमरगीत की परम्परा में सूरदास का स्थान	201
20.	सूर का काव्य–सौष्ठव	214
21.	तुलसीदास का समन्वयवाद /लोकनायकत्व	231
22.	तुलसीदास की दार्शनिकता	243
23.	तुलसी की भक्ति–भावना	249
24.	तुलसी का काव्य सौष्ठव	256


~~~
~~~

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति एवं रासो काव्य परम्परा

1.0 रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 रासो शब्द की व्युत्पत्ति

1.4 रासो काव्य की परम्परा

1.5 सारांश

1.6 कठिन शब्द

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– रासो शब्द की व्युत्पत्ति से संबंधित विभिन्न विद्वानों के मतों से अवगत हो सकेंगे।

– रासो काव्य की परम्परा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

रासो शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। इसका मूल कारण है कि विभिन्न सामाजिक क्रिया–कलापों के आयामों में रासो परम्परा विकसित हुई है और इसके जितने स्रोत हैं सभी स्रोतों ने किसी न किसी रूप में 'रासो' की व्युत्पत्ति को प्रभावित किया है।

1.3 रासो शब्द की व्युत्पत्ति

गार्सा द तासी रासो शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानते हैं। 'राजसूय' का तात्पर्य एक महान यज्ञ है जिसमें बलिदान किया जाता है। उनका कथन है –पृथ्वीराज के युद्धों, उनकी मैत्रियों, उनके अनेक शक्तिशाली सहायकों तथा उनके निवासों और वंशावलियों के कारण चंद की रचना इतिहास, भूगोल, पौराणिक गाथाओं तथा प्रथाओं आदि की दृष्टि से अमूल्य ठहरती है। इसीलिए उसका नाम 'प्रिथुराज–राजसू' अथवा 'पृथ्वीराज का विशाल बलिदान है।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रासो' की व्युत्पत्ति –रसायन' से मानते हैं– 'बीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में रसायन शब्द बार–बार आया है। अतः हमारी समझ में इस रसायन शब्द से होते–होते यह 'रासो हो गया।'

कविराज श्यामलदास तथा डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल 'रासो' की व्युत्पत्ति रहस्य शब्द से बताते हैं। हिन्दी शब्द सागर के सम्पादकों का भी यही मत है। वे रासो को 'किसी राजा का पद्यमय जीवन चरित्र विशेषतः वह जीवन चरित्र जिसमें युद्धों और वीरता का वर्णन हो' मानते हैं।

चन्द्रवली पाण्डेय, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी रासो शब्द की व्युत्पति 'रासक' से मानते हैं। रासक की गणना अठारह उपरूपकों में की गई है।

काशी–नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो के सम्पादकों ने 'रास' नामक संस्कृत शब्द से 'रासो' की व्युत्पत्ति मानी है। 'रास' शब्द संस्कृत में शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला–विलास, गर्जन–नृत्य एवं कोलाहल आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। ब्रजभाषा सूर–कोश में 'रासो' के सम्बन्ध में लिखा है– 'राजा विशेष की युद्धवीरता आदि को लेकर लिखा गया पद्यमय।'

डॉ॰ दशरथ वर्मा के अनुसार 'रासो मूलतः गानयुक्त नृत्य विशेष से क्रमशः विकसित होते–होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीररस पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया। उक्त गान–युक्त नृत्य विशेष से तात्पर्य 'रास' से है। रास ब्रज प्रान्त का महत्त्वपूर्ण अभिनय है उत्तर भारत में सर्वत्र रास लीला का प्रचलन मिलता है। गीत–नृत्य के साथ 'रास' रचाने का उल्लेख हमारे ग्रंथ श्रीमद्भागवत में भी मिलता है। कृष्ण और राधा की 'रास–लीला ' हमारे लिए अपरिचित नहीं है। अतः 'रास' शब्द से रासो का विकास हुआ होगा।''

अब अधिकांश विद्वानों ने सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया है कि गान–युक्त नृत्य विशेष से क्रमशः विकसित होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों के लिए 'रासक' शब्द ही रासो रूप में प्रयुक्त होने लगा है।

1.4 रासो काव्य की परम्परा

पृथ्वीराज रासो के पीछे काव्यों की विशाल परम्परा है। अपभ्रंश, गुजराती, डिंगल तथा पिंगल भाषाओं के अनेक रास और रासो काव्य उपलब्ध हैं।

1. सन्देश रासक

रासो परम्परा में प्रथम प्रामाणिक कृति 'संदेश रासक' है। इसके रचयिता अब्दुल रहमान है। इसकी रचना तिथि ज्ञात नहीं है। इसे मुनि जिनविजय ने सम्पादित किया है। इसका विषय विप्रलम्भ शृंगार है जिसका अन्त मिलन में होता है। इसके कुल 223 छन्द है परन्तु इतने में ही 22 प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।

2. भरतेश्वर बाहुबली रास

इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं, जिन्होंने इसकी रचना सं॰ 1241 में की। इसमें भगवान् ऋषभदेव के दो पुत्रों भरतेश्वर और बाहुबली के बीच राज्य के लिए हुए संघर्ष की कथा है। यह रचना 203 छन्दों में समाप्त हुई है। वीर रस का परिपाक इसमें अच्छा हुआ है।

3. बुद्धिरास

यह रचना भी शालिभद्र सूरि की है। इसमें रचना सम्वत् नहीं दिया हुआ है। इसका विषय धर्मोपदेश है। यह रचना 63 छन्दों में समाप्त हुई है।

4. उपदेश रसायन

इसके रचयिता जिनदत्त सूरि हैं। इसमें रचना–काल नहीं दिया हुआ है। इस का विषय धर्मोपदेश है। यह रचना 32 छन्दों में समाप्त हुई है। इस में जैन धर्माचारों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

5. बीसलदेव रासो

इसके रचयिता कवि नरपति नाल्ह हैं। यह ग्रन्थ केवल 100 पृष्ठों का है और गीत रूप में है। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'यह ग्रन्थ वीर गीत के रूप में सबसे प्राचीन है। इसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास भी मिलता है।' इसका विषय बीसलदेव की प्रवास–कथा है। इसमें चार खण्ड हैं– प्रथम खण्ड में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से सांभर के बीसलदेव का विवाह होता है। द्वितीय खण्ड में बीसलदेव का राजमती से रूठ कर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष तक रहना है। तृतीय खंड में राजमती का विरह वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना और चतुर्थ खण्ड में भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहां जाकर राजमती को फिर चितौड़ लाना है। इस रचना में शृंगार के अतिरिक्त कोई अन्य रस नहीं है। आदि से अन्त तक एक ही छन्द का निर्वाह हुआ है।

6. खुमाण रासो

इसके रचयिता दलपत विजय हैं जो दौलत विजय भी कहे जाते हैं। इसका विषय मेवाड़ के सूर्य वंश का इतिवृत है। यह ग्रन्थ विविध छन्दों में प्रस्तुत किया गया है और कविता की दृष्टि से भी सरस है। इसके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कहना है– 'यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमान रासो मिलता है। उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराज प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रन्थ अब मिलता है, वह उसे वि. सं. की 17वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।

7. विजयपाल रासो

इसका रचयिता नल्हसिंह भाट है। इसका विषय विजयपाल की दिग्विजय की कथा है। इसका मुख्य रस वीर है। रचना पूरी प्राप्त नहीं हुई है। इसके केवल 42 छन्द प्राप्त हुए हैं।

8. हम्मीर रासो

इस नाम की कोई रचना अभी तक नहीं मिली है, किन्तु 'प्राकृत–पैंगलम्' के आठ छन्दों में हम्मीर का स्पष्ट नामोल्लेख होता है। ये छन्द आठ विभिन्न वृत्तों (छन्दों) के उदाहरण में आते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि विविध छन्दों से विभूषित हम्मीर के जीवन से सम्बन्धित कोई समादृत कृति उस समय थी जब 'प्राकृत पैंगलम्' की रचना हुई। हमारे साहित्य के इतिहासों में शारंगधर द्वारा रचित एक 'हम्मीर रासो' माना जाता है किन्तु कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

9. राम रासो

इसके रचयिता माधवदास चारण हैं। इसका विषय राम का चरित्र तथा गुण वर्णन है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में कुल 1600 छन्द हैं।

10. रतन रासो

इसके रचयिता कुंभकर्ण हैं। इसमें रतलाम के महाराजा रतनसिंह का चरित्र वर्णित है। इसमें विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।

11. पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो रासक शैली में लिखा हुआ एक चरित काव्य है जिसका चरित–नायक भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज चौहान है। इसकी प्राप्त प्रतियों की संख्या सौ से ऊपर है। विद्वानों ने आकार के अनुसार उनका वर्गीकरण वृहद्, मध्यम्, लघु एवं लघुत्तम चार प्रकार के रूपान्तरों में किया है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' में ढाई हजार पृष्ठ हैं जो 69 समयों में विभाजित हैं। सबसे बड़ा कनवज्ज युद्ध है जो सम्भवतः रासो का मूल कथानक है। इस ग्रन्थ में पृथ्वीराज चौहान का वीरत्वपूर्ण आदर्श एवं दर्प प्रदर्शित किया गया है। उनमें जन्म से मृत्यु पर्यन्त के संघर्ष एवं युद्धों का सविस्तार वर्णन मिलता है। इसमें इतिहास और कल्पना का मणिकांचन सम्मिश्रण है। यद्यपि यह वीर रस प्रधान महाकाव्य है तथापि इसमें वीर रस के समानान्तर ही शृंगार रस का प्रतिपादन हुआ है। इसकी छन्द–योजना के आधार पर चन्द को छन्दों का राजा कहा जाता है। महाकाव्य के समस्त लक्षणों का निर्वाह इस में मिलता है। यह रासो काव्य–परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। परवर्ती एवं पूर्ववर्ती रासो काव्य इसकी बराबरी नहीं कर सकते। मिश्रबन्धुओं के शब्दों में – ''चन्दबरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ जान पड़ता है यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते थे और स्वयं इन्हीं ने हिन्दी काव्य रचना की नींव डाली।''

1.5 सारांश :– निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि रासो काव्य एक ऐसा काव्य है जिसमें राजाओं की वीरता का गुणगान किया गया है चूंकि रासो साहित्य का उद्देश्य सामन्तों का मनोरंजन मात्र रहा इसलिए रासो साहित्य में हमें श्रृंगार एवं युद्धों का सजीव चित्रण देखने को मिलता है।

1.6 कठिन शब्द

1	विप्रलम्भ	2	धर्माचारों
3	परिपाक	4	इतिवृत
5	समादृत	6	मणिकांचन

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 रासो काव्य की परम्परा का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. रासो विमर्श – माताप्रसाद गुप्त
2. रासो काव्य परम्परा – सुमन राजे
3. चन्दबरदाई और उनका काव्य – विपिन बिहारी


~~~
~~~

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

2.0 रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

2.3.1 अप्रामाणिक मानने वाला वर्ग

2.3.2 अर्द्वप्रामाणिक मानने वाला वर्ग

2.4 विभिन्न रूपान्तर

2.5 सारांश

2.6 कठिन शब्द

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– पृथ्वीराज रासो को प्रामाणिक, अप्रमाणिक एवं अर्द्धप्रामाणिक मानने वाले वर्गों से अवगत हो पाएंगे।

– रासो के विभिन्न रूपान्तरों को समझ सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

'पृथ्वीराज रासो' सामान्यतः आदिकाल के वीरगाथात्मक काव्यों की प्रतिनिधि सर्जना मानी जाती है। इसमें एक युग की समूची प्रवृत्तियों के सम्पूर्ण दर्शन होते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराज रासो में ढाई हज़ार पृष्ठ हैं जो 69 सर्गों में विभाजित हैं। सबसे बड़ा समय कनवण्ण युद्ध है जो सम्भवतः रासो का मूल कथानक है।

2.3 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

प्रामाणिकता की दृष्टि से केवल अपने युग का ही नहीं बल्कि आज तक के समूचे हिन्दी साहित्य का यह सर्वाधिक विवादास्पद ग्रन्थ है। इस विवादपूर्ण स्थिति में आज पृथ्वीराज रासो को हिन्दी–साहित्य का प्रथम विकसनशील महाकाव्य कहा जा सकता है।

पहले यह प्रमाणिक और ऐतिहासिक काव्य समझा जाता था, इसी कारण प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान बूलर ने इसकी सर्वांगपूर्ण सुन्दरता पर मुग्ध होकर इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रारम्भ कर दिया था और कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी इसे प्रकाशित भी करने लगी थी। किन्तु सन् 1883 ई. के पश्चात् डाक्टर बूलर को कश्मीरी पण्डित जयानक–रचित 'पृथ्वीराज–विजय' नामक ग्रन्थ मिला तो उसके आधार पर इन्होंने पृथ्वीराज रासो को अनैतिहासिक ही घोषित नहीं किया, बल्कि इसका अनुवाद और प्रकाशन बीच में ही रुकवा दिया। तब से लेकर आज तक इसकी प्रामाणिकता विवाद और दुराग्रह का विषय बनी हुई है। यहां तक कि विवाद को लेकर विद्वानों के तीन वर्ग किये गये हैं। पहला वर्ग इसे अप्रामाणिक तथा अनैतिहासिक मानता है, यह वर्ग कवि चन्दबरदाई के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। दूसरा इसे और चन्दबरदाई को प्रमाणिक और तीसरा अर्द्ध–प्रमाणिक मानने के साथ–साथ चन्द के अस्तित्व को भी स्वीकारता है। इन तीनों वर्गों के तर्क इस प्रकार हैं :–

2.3.1 अप्रामाणिक मानने वाला वर्ग

इस वर्ग के समर्थक हैं:– कवि श्यामलदास, कविराज मुरारिदान, पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ॰ बूलर, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ॰ रामकुमार वर्मा आदि।

इस वर्ग के प्रबल आक्षेप ये हैं कि रासो में दी गई न तो घटनाएं ही सही हैं न उनके पात्रों के नाम और काल ही। भाषा भी इसकी अव्यवस्थित है। अर्थात् रासो की अप्रामाणिकता तथा अनैतिहासिकता के तीन मुख्य आधार हैं–

1. घटना और नाम वैषम्य
2. काल–वैषम्य
3. अव्यवस्थित भाषा

घटना और नाम–वैषम्य के अन्तर्गत प्रमुख बातें ये हैं–

1. रासो में परमार, चालुक्य और चौहान अग्निवंशी राजपूत माने गये हैं जबकि प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी सिद्ध होते हैं।

2. चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों आदि के नाम उपलब्ध शिलालेखों और इतिहास–विवरणों से मेल नहीं खाते।

3. संयोगिता–स्वयंवर की घटना भी काल्पनिक और अनैतिहासिक है।

4. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय न तो दिल्ली का शासक ही था, और न उसने पृथ्वीराज को गोद ही लिया था। हां, पृथ्वीराज के चाचा विग्रहराज ने दिल्ली को सैन्य–बल से जीत अवश्य लिया था। पृथ्वीराज भी तब तक दिल्ली का न होकर अजमेर का राजा था, बाद में दिल्ली भी अजमेर राज्य का अंग बन गई थी।

5. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित नहीं होता कि समरसिंह पृथ्वीराज के समसामयिक थे। साथ ही यह गौरी से लड़ते हुए मरे भी नहीं थे, बल्कि पृथ्वीराज के 50 वर्ष बाद तक समरसिंह के रहने के प्रमाण मिलते हैं।

6. गुजरात के राजा भीमसिंह का पृथ्वीराज के द्वारा वध करवाया जाना भी इतिहास–सम्मत नहीं है, क्योंकि भीमसिंह, पृथ्वीराज के 106 वर्ष बाद तक जीवित रहे। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज के समय भीमसिंह यदि होगा भी तो निरा बालक ही रहा होगा।

7. पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी की मृत्यु का विवरण भी ऐतिहासिक नहीं है। गौरी की मृत्यु मुलतान के गक्खरों के हाथों से हुई थी, गजनी में जाकर पृथ्वीराज के शब्द–बेधी बाण से नहीं।

8. रासो में पृथ्वीराज के छत्तीस वर्ष तक की आयु में ग्यारह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज केवल तीस वर्ष तक ही जीवित रहे। इतनी अल्पायु में इतने विवाहों का होना असम्भव है।

9. पृथ्वीराज के द्वारा सोमेश्र का वध भी इतिहास–विरुद्ध है।

इस घटना–वैषम्य के अतिरिक्त पृथ्वीराज रासो में काल–विषयक त्रुटियां भी मिलती हैं जो इतिहास से बिल्कुल मेल नहीं खाती। यथा–

1. रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् 1158 में बताई गई है और जन्म 1115 में, जबकि इतिहास में ये सम्वत् क्रमशः 1249 और 1220 है।

2. आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण, शाहबुद्दीन गौरी से राय पुंडीर के युद्ध की तिथियां भी इतिहास–सम्मत नहीं हैं।

3. पृथ्वीराज से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का जैसे– उसका गोद लिया जाना, मेवाती –मुगल युद्ध, संयोगिता

स्वयंवर आदि इतिहास विरुद्ध उल्लेख हैं, क्योंकि सम्वत् 1460 के लगभग रचित हमीर महाकाव्य में इन घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

भाषा की विविध–रूपता भी रासो की अनैतिहासिकता का एक प्रमुख कारण है। इसमें अरबी फारसी के बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो चंद के समय किसी भी प्रकार सम्भव नहीं थे। इसी आधार पर डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने इसे 16वीं शती की रचना माना है। रासो की अनैतिहासिकता और अप्रमाणिकता का उद्‌घोष आचार्य शुक्ल ने इन शब्दों में किया है–

इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह ग्रंथ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर–उधर चंद के कुछ पद्य भी बिखरे हों, पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि यह किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश भी पीछे मिले होते तो कुछ घटनाएँ और इसके संवत् तो ठीक होते।''

इस प्रकार ये विद्वान 'पृथ्वीराज रासो' को तो जाली मानते ही हैं, इस काव्य के सर्जक कवि चन्दबरदाई का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते।

2.3.2 प्रामाणिक मानने वाला वर्ग

इस वर्ग में प्रमुख विद्वान – डा॰ श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, मिश्रबंधु और मोतीलाल मेनारिया आदि हैं। इन विद्वानों ने रासो को अप्रामाणिक मानने वाले वर्ग के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर देने का प्रयास किया है। रासो को प्रामाणिक मानने में इन विद्वानों के तर्क ये हैं–

1. मूल रासो न तो जाली ग्रंथ है और न उसकी रचना संवत् 1600 के लगभग हुई है। रासो की लघुत्तम प्रतियों के आधार पर घटना वैषम्य, काल वैषम्य और भाषा–विषयक अव्यवस्था सभी का स्वतः निराकरण हो जाता है, क्योंकि उनमें इतिहास–विरुद्ध घटना और काल का कहीं उल्लेख नहीं है।

2. डॉ॰ दशरथ शर्मा के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर की लघुत्तम प्रति में नहीं है। अपने मन्तव्य का निष्कर्ष देते हुए वे लिखते हैं–

   ''सारांश यह है कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति को खोज निकाला जाये। यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाए, तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन चरित में उद्धृत बातें मिलेंगी, क्योंकि यह संस्कृत में रासो का सारांश है।''

3. काल–वैषम्य का निराकरण करने के लिए मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने 'आनन्द संवत्' की कल्पना की है। इस संवत् के अनुसार रासो में दी गई तिथियों और ऐतिहासिक तिथियों में नब्बे वर्ष का अन्तर बैठता है पर इस अंतर का कोई विशेष कारण अब तक नहीं बताया जा सका है और न यह अंतर सर्वत्र सही उतरता है।

4. रासो की भाषा–सम्बन्धी अव्यवस्था का समाधान करते हुए इस वर्ग के विद्वानों का कहना है कि उस समय से भी पहले से–अर्थात् सातवीं शताब्दी के आस–पास से सिन्ध और उसके बाद पंजाब पर मुसलमानों के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे और स्वयं चंद भी लाहौर के निवासी थे। अतः उनकी भाषा में अरबी–फारसी के शब्दों का आ जाना स्वाभाविक ही है।

घटना–वैषम्य के बारे में इनका कथन है कि भारत का इतिहास अनेक बार विदेशियों द्वारा अपने –अपने दृष्टिकोण से लिखा गया है। इन्होंने भारतीयों को हीन बताने के प्रयत्न किए हैं। अतः इन परवर्ती इतिहासकारों की घटनाओं को प्रामाणिक न मान प्रत्यक्षदर्शी कवियों द्वारा वर्णित को ही प्रामाणिक मानना उचित है।

2.3.3 अर्द्धप्रामाणिक मानने वाला वर्ग

इस वर्ग के प्रमुख विद्वान हैं डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिन विजय, नगरचंद नाहटा, डॉ॰ दशरथ शर्मा और डॉ॰ हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि। रासो में दिए नामों के हेर–फेर के सम्बन्ध में इनका कहना है कि कई बार प्रसिद्ध और घरेलू नामों में अन्तर रहता है। बहुत सम्भव है कि पृथ्वीराज के बाल्य सखा कवि चन्द ने स्नेहवश घरेलू नाम दे दिये हों यह तर्क काफ़ी वज़नदार है। इस वर्ग की मान्यता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चंद नामक कवि अवश्य था और उसने पृथ्वीराज रासो की रचना भी की थी, किन्तु आज वह अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं है। डॉ॰ द्विवेदी का मत है कि ''रासो का काव्यरूप दसवीं शताब्दी के साहित्य के रूप में समानता रखता है। इसकी संवाद प्रवृत्ति कीर्तिपताका और संदेश–रासक से साम्य रखती है। इसमें सभी प्राचीन कथानक रूढ़ियों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। रासो में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश–साहित्य की प्रवृत्तियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। 12वीं शती की भाषा की संयुक्ताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति इसमें उपलब्ध होती है। रासो विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रंथ नहीं है, प्रत्युत काव्य ग्रंथ है। हर्ष चरित के समान रासो में भी यत्र–तत्र दैवी शक्ति का आरोप है। वस्तु स्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इतिहास को सीमित भौतिक अर्थ में ग्रहण न करके उसे व्यापक साँस्कृतिक रूप में ग्रहण किया गया है। उसमें तथ्यों (facts) और कल्पना (fiction) का अद्भुत–सम्मिश्रण है तथा उसमें ऐतिहासिकता तथा निजंधरी कथाएं साथ–साथ चलती हैं।''

आचार्य द्विवेदी ने अनेक ऐसे प्रसंग भी गिनाए हैं कि जो भाषा, प्रवृत्ति आदि सभी दृष्टियों से युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः कहा जा सकता है कि मूल रासो में बाद में बहुत कुछ मिला दिया गया है।

2.4 विभिन्न रूपान्तर

पिछले कुछ वर्षों में रासो के विभिन्न रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। इन प्रतियों को चार रूपों में विभाजित किया गया है–वृहद् रूपान्तर, मध्यम रूपान्तर, लघु रूपान्तर। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

1. **बृहद रूपान्तर–** इनमें 69 समय और 16306 छंद हैं। इसकी अब तक 33 प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।
2. **मध्यम रूपान्तर–** इसकी ग्यारह प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। दीक्षित जी के अनुसार इस रूपान्तर का पाठ आर्या छंद के हिसाब से लगभग 7000 छंदों में है। इसमें 36 समय हैं।

3. **लघु रूपान्तर–** इसकी पांच प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इसमें कुल 15 समय (सर्ग) हैं। इसका छंद पाठ 3500 के लगभग है।

4. **लघुत्तम रूपान्तर–**इसकी अभी तक दो प्रतियां उपलब्ध हो सकी हैं। इसमें कुल दस समय हैं और इसकी पाठ संख्या स्वयं लिपिकर के अनुसार 1400 है।

पाठ संख्या के अतिरिक्त इन चारों रूपान्तरों में पाठ भेद भी इतना अधिक है कि चारों रूपान्तर किसी एक पुस्तक के पाठ भेद न होकर स्वतंत्र रचनाओं जैसे प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि लघु, लघुत्तम और मध्यम ये तीनों रूपान्तर बृहद रूपान्तर के ही संक्षिप्तीकरण हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि मध्यम और बृहद रूपान्तर लघु या लघुत्तम के ही परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप हैं।

डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि रासो की रचना शुक–शुकी के संवाद रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का आरम्भ इस संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर द्विवेदी जी निम्नलिखित समयों को प्रामाणिक मानते हैः–

1. आदि पर्व, 2. इच्छिनी–विवाह–प्रसंग, 3. इच्छिनी–विवाह कथा, 4. शशिव्रता–विवाह–प्रस्ताव, 5.कैमास–करनाटी–प्रसंग, 6. कनवज्ज समय, 7. बड़ी लड़ाई– समय, 8. वानवेध–समय।

2.5 सारांश :– इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता का जो द्वंद्व प्रारम्भ हुआ था, वह एक महत्त्वपूर्ण दिशा में परिवर्तित होने के पश्चात् भी ज्यों का त्यों बना हुआ है और भविष्य में इसके समाधान की कोई आशा दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस विषाद को यहीं समाप्त कर दिया जाये, क्योंकि पृथ्वीराज रासो इतिहास नहीं, काव्य है। आचार्य हज़ारी प्रसाद के शब्दों में–

''निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रंथ के सात्विक रस तक पहुंचना हिंदी–साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव–सा व्यपार हो गया है। अतः इस निरर्थक मंथन को त्याग देना ही साहित्य और काव्य दोनों के हित में है।''

2.6 कठिन शब्द

1.	वैषम्य	2.	वंशावली	3.	शब्द–बेधी
4.	आक्षेप	5.	मन्तव्य	6.	निजंधरी
7.	अक्षुण्ण	8.	रूपान्तर		

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर सारगर्भित लेख लिखिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता – अप्रामाणिकता से जुड़े मुद्दे का विश्लेषण कीजिए।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र03 रासो के विभिन्न रूपान्तरों पर प्रकाश डालिए।

उ03 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. रासो विमर्श–माताप्रसाद गुप्त
2. रासो काव्य परम्परा – सुमन राजे
3. चन्दबरदाई और उनका काव्य – विपिन बिहारी


~~~
~~~

पृथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व

3.0 रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 पृथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व

3.3.1 कथावस्तु

3.3.2 चरित–नायक

3.3.3 वस्तु वर्णन

3.3.4 प्रकृति चित्रण

3.3.5 भाव तथा रस

3.3.6 अलंकार–निरूपण

3.3.7 छन्द योजना

3.3.8 भाषा

3.4 सारांश

3.5 कठिन शब्द

3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व के विशिष्ट रूप से परिचित हो सकेंगे।

– पृथ्वीराज रासो में अभिव्यक्त प्रकृति चित्रण से परिचित होंगे।

3.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकाल के समुज्ज्वल रत्न के रूप में मान्य चन्दवरदाई का जीवन वृत्त विवादास्पद है। उनकी प्रसिद्ध कृति पृथ्वीराज रासो के आदि समय में प्राप्त अन्तः साक्ष्य : **''बलिभद्र सु नागौर, चन्द उपज्जि लाहौरह'** – के आधार पर यह कहा जाता है कि उनका जन्म स्थान लाहौर (अब पाकिस्तान) में हुआ था। इसके साथ ही प्रचलित जनश्रुति : **''इक्क दीह ऊपन्न इक दीहै समाय क्रम''** के अनुसार उनका जन्म व मृत्यु दिल्ली के अंतिम हिन्दू नरेश पृथ्वीराज चौहान – जिनके वे सखा, मन्त्री, सेनानायक व राजकवि थे – के साथ हुई थी। इस जनश्रुति के आधार पर उनका जन्म संवत् 1205 वि. (1148 ई.) के लगभग माना जाता है। इसी आधार पर यह भी प्रसिद्ध है कि पृथ्वीराज तथा कवि चन्द की मृत्यु संवत् 1249 वि. (1192 ई.) एक साथ गजनी में हुई थी।

कवि चन्द षड् भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द शास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विधाओं को जानने वाले राजकवि थे। आपकी जालन्धरी देवी इष्ट थी। साहित्य मर्मज्ञ होने के साथ–साथ वीर एवं साहसी भी थे। इसी कारण वे दिल्ली–नरेश पृथ्वीराज के साथ जहाँ सभासद के रूप में कार्य करते थे वहीं आखेट एवं युद्ध क्षेत्र में भी सदैव उनके साथ रहते थे।

3.3 पृथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व :– पृथ्वीराज रासो चन्दबरदाई की प्रसिद्ध रचना है। यह एक ऐतिहासिक रासो काव्य–परम्परा की महत्वपूर्ण रचना है जिसमें तत्कालीन राष्ट्रीय आदर्शों का वर्णन बड़ी कुशलता से कवि द्वारा किया गया है। इस रचना में कवि द्वारा ''पहले से चलती आई रासो ग्रन्थों की परम्परा को सुरक्षित रखा गया है'' यह मान्यता श्याम चन्द्र कपूर की है। जबकि डॉ. हौसिला प्रसाद सिंह का कहना है कि ''पृथ्वीराज रासो एक विपुलायतन प्रबन्ध काव्य है जिसमें अपने युग का यथार्थ जीवन–स्वरूप अंकित है। किन्तु घटनाओं की नियोजना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह काव्य एक घटनाकोश है, यद्यपि घटनाओं के भीतर भी रचनाकार ने अपनी रस–दृष्टि का नियोजित रूप में विस्तार किया है। अतः इस मायने में यह 'महाभारत' की तरह एक विशाल इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य है, किन्तु इन इतिवृत्तों के मध्य भी विविध परिभूमियों में रसात्मक अनुबंधों का नैसर्गिक और यथार्थ सौन्दर्य देखने को मिल जाता है। इस काव्य की पूरी मनोभूमि दो रसों के ताने–बाने से बनी है : शृंगार और वीर। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व हैं। एक ओर ये जितने वीर हैं दूसरी ओर उतने ही शृंगार–प्रेमी। वैसे यह एक वीर गाथात्मक काव्य है।'' डॉ. वासुदेव सिंह ने भी इसे ''शृंगार और वीर रस की दृष्टि से अप्रतिम महाकाव्य'' मानते हुए अन्य रसों का संयोजन इस रचना में अंग रूप में माना है।

चन्दबरदाई की यह रचना पृथ्वीराज रासो हिन्दी ऐतिहासिक वीर काव्य परम्परा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना तो है पर इसके मूल में प्रक्षिप्त अंशों के समावेश के कारण इसे विवादास्पद भी माना गया है। इस रचना की सर्वप्रथम सूचना 'एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान' के माध्यम से सन् 1829 ई. में कर्नल जेम्स टाड द्वारा दी गई, पर बाद में सन् 1876 ई. में डॉ. बूलर द्वारा 'पृथ्वीराज विजय' की उपलब्धि के पश्चात् चन्द की रचना पर विद्वानों में विवाद प्रारम्भ हो गया और तभी से ऐतिहासिक दृष्टि से लेकर यह रचना विवाद में चली आ रही है। चन्द कृत पृथ्वीराज रासो की उपलब्ध हस्तलिखित पोथियों ने भी इस विचार को जन्म दिया। यदि इस विवाद से अलग होकर इस रचना को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से परखा जाए तो निश्चित रूप से ''चंद का पृथ्वीराज रासो' आदिकाल ही नहीं सम्पूर्ण हिन्दी–साहित्य का महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ है।'' डा. शम्भू नाथ पाण्डेय का यह कथन पूर्णतया सत्य है। इस सन्दर्भ में डा. हरिश्चन्द्र वर्मा जी ने स्पष्ट कहा है कि पृथ्वीराज रासो ''रासक शैली में रचित एक ऐतिहासिक चरितकाव्य है। इसमें अनेक मार्मिक तथा सरस स्थल सुलभ हैं। रासो एक सरस अलंकृत काव्य है। इसमें संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों, अपभ्रंश के प्रेम मूलक काव्यों और चरित्र काव्यों की परम्पराओं का सामंजस्य मिलता है। यह वीर काव्य के साथ ही प्रेमकथा काव्य भी है।'' इन सभी विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि चन्द की यह रचना पृथ्वीराज रासो एक प्रबन्धात्मक रचना है और अपने रूप में इसे विद्वानों ने आदिकालीन हिन्दी का महाकाव्य माना है।

जो श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य की रचना में निपुण या प्रवीण हो उसे महाकवि कहते हैं। काव्य भेद के अन्तर्गत जहाँ सभी पद्य स्वतन्त्र हों उसे मुक्तक व जहाँ पूर्वापर सम्बन्ध के साथ कथा बद्ध रूप हो उसे प्रबन्धात्मक रचना कहा जाता है। प्रबन्धात्मक रचना में यदि चरित्र नायक के जीवन के किसी एक विशेष पक्ष का निरूपण हो तो उसे खंड काव्य कहा जाता है। जबकि महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण रूप विशाल पटभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय साहित्य शास्त्र कोश के अनुसार ''साहित्य शास्त्र में महाकाव्य का सर्वप्रथम वर्णन आचार्य भामह ने किया है, तत्पश्चात् दंडी, रुद्रट, आनंदवर्द्धन, कुंतक, अग्निपुराण एवं कविराज विश्वनाथ ने इसके स्वरूप का मीमांसन किया।'' आचार्यों द्वारा प्रदत विभिन्न लक्षणों का समाहार करते हुए आचार्य भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में स्पष्ट किया कि ''महाकाव्य में रस तथा अलंकार का औचित्यपूर्ण नियोजन हो। इसका नायक चतुरोदात्त हो और उसका उद्देश्य चतुर्वर्ग–फल की प्राप्ति हो। इसी दृष्टि से विचार करते हुए डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने माना है कि महाकाव्य की कथा सर्ग बद्ध होनी चाहिए, सर्ग न छोटे हों और न बड़े, सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन होना चाहिए, सर्ग का नामकरण भी किया जाना चाहिए, कथा का नायक शूरवीर व सद्वंशी होना चाहिए, श्रृंगार, वीर या शांत में से एक रस अंगीरूप में प्रतिष्ठित तथा शेष रस अंग रूप में अपनाए गए हों। महाकाव्य का कथावृत्त ऐतिहासिक व सदाश्रित होना चाहिए, इसमें धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। इसमें प्रकृति वर्णन का भी नियोजन होना चाहिए तथा सज्जन प्रशंसा व खल निन्दा के साथ ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण, नमष्क्रिया तथा वस्तु निर्देश होना चाहिए। इस दृष्टि से जब किसी भी रचना को इस कसौटी पर कसना हो तो उसके लोक ख्यात कथानक, उदात्त चरित्र सृष्टि, विशिष्ट रचना शिल्प तथा महत् उद्देश्य और जीवन दर्शन के आधार पर परखा जा सकता है। उद्देश्य की दृष्टि से रचना में युगीन जीवनादर्शों की स्थापना, जीवन मूल्यों का निरूपण व रचना का सांस्कृतिक उन्नयन में योगदान देखा जा सकता है।

पृथ्वीराज रासो डॉ. सुमनराजे के अनुसार ''एक विकासशील काव्य है। कोई कवि जब किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक नायक का चरित् लघु या बृहत् काव्य के रूप में निबन्धन करता है, परन्तु वह नायक इतना लोकप्रिय होता है कि कालान्तर में उसका व्यक्तित्व निजन्धरी हो जाता है। उसके जीवन चरित् की भिन्न–भिन्न घटनाएं भिन्न–भिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न रूपों में विकसित हो जाती हैं। इस कवि का काव्य कवि–पेशा वाली जातियों में सामूहिक सम्पत्ति बन जाता है और उसमें निरन्तर विकास होता रहता है।'' चन्द की रचना के साथ भी कुछ ऐसा ही घटा जिस कारण रचनाकाल, प्रामाणिक पाठ और वर्तमान रूप को लेकर विवाद खड़े हो गए पर जहां तक उसके काव्य सौष्ठव व महाकाव्यत्व का प्रश्न है उस पर दो राय नहीं हो सकती। इस दृष्टि से पृथ्वीराज रासो निश्चित रूप से आदिकालीन हिन्दी साहित्य का महाकाव्य ठहरता है। क्योंकि ''पृथ्वीराज रासो का काव्य–सौन्दर्य ताजमहल के गीतात्मक सौन्दर्य के समान नहीं है, वह उस पर्वतीय दुर्ग के समान है, जिसमें चिकने–नुकीले छोटे–बड़े सभी तरह के पत्थर बिना नाप जोख या खराद के बैठाए गए हैं। वह उस गिरि–निर्झर के सदृश्य हैं जिसके अवनि–स्पर्श में भी शिखर–सिंचन की तथा जिसकी तरलता में भी शिला–भंजन की अप्रतिहत शक्ति विद्यमान है।'' डॉ. सुमन राजे का यह कथन चन्द की रचना के महाकाव्यात्मक स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। पृथ्वीराज रासो के तीन संस्करण मिलते हैं जिनमें काशी वाले संस्करण में 69 समय (सर्ग), उदयपुर वाले संस्करण में 61 समय तथा डॉ. माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित संस्करण में 12 समय हैं। इस प्रकार सर्गबद्धता की दृष्टि से इस महाकाव्य का कथानक भारतीय शूर–सामन्तों की वीरता, शौर्य–सम्पन्न विजय एवं पराक्रम पूर्ण गौरव–गाथा से अनुस्यूत है, इस दृष्टि से भी यह एक महाकाव्य ठहरता है। इसके महाकाव्यत्व का विशिष्ट रूप इस प्रकार है :

3.3.1 कथा वस्तु : पृथ्वीराज रासो में मंगलाचरण के बाद क्षत्रियों की उत्पत्ति, अजमेर के सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के अनंगपाल (तोमर) की पुत्री कमला के साथ, अनंगपाल की द्वितीय पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राठौर विजयपाल के साथ, जय चन्द का जन्म, अनंगपाल का पृथ्वीराज को गोद लेना, जयचंद को बुरा लगना, राजसूय यज्ञ, पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता हरण, पृथ्वीराज का भोग–विलास में लीन होना, शहाबुद्दीन का आक्रमण, पृथ्वीराज के अनेक युद्धों और विवाहों तथा आखेटों आदि का वर्णन है। अन्त में पृथ्वीराज की शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के हाथों पराजय, उसे बन्दी बना कर गजनी ले जाना, वहीं पृथ्वीराज की आँखें निकाली जाना, चंद का वहां पहुँचना और पृथ्वीराज की शब्द–बेध विशिष्टता का बताना, उसी प्रक्रिया में गोरी की मृत्यु तथा चन्द और पृथ्वीराज का एक दूसरे को मार कर जीवन–लीला समाप्त करना–यही इस ग्रन्थ की संक्षिप्त कथा वस्तु है।

चन्दबरदाई ने शुक–शुकी के संवाद के रूप में इस काव्य की रचना की है। चन्द ने इस काव्य रचना में पूर्ववर्ती प्रचलित काव्यरूढ़ियों का निर्वाह भी इस रचना में बड़ी कुशलता से करते हुए अपने पूर्व–कवियों के प्रति आदर भी प्रकट किया है।

3.3.2 चरित–नायक : इस काव्य का चरित्र नायक प्रसिद्ध हिन्दू नरेश पृथ्वीराज चौहान है। जिसके शौर्य, श्रृंगार, युद्ध–प्रेम तथा जय और पराजय की कहानी इस रचना का मूल विषय है। पृथ्वीराज उच्चकुलोद्भव तथा क्षत्रिय वंश गौरव है जो दया, क्षमा गाम्भीर्य, रूप–सौन्दर्य, उत्साह व स्वाभिमान से पूर्ण है :

संभरि नरेश सोमेस पूत,
देवंत रूप अवतार धूत।
सामन्त सूर सब्बै अपार,
भूजान भीम जिय सार भार ।।

उसके दानी रूप की भी खूब प्रशंसा की गई है :

बलिबैन करन जिमिदान पान,
सत सहस सील हरिचंद समान।
साहस सुक्रम्म विक्रम जु बीर,
दानव सुमत्त अवतार धीर।।
दस च्यार जानि सब कला भूप,
कन्द्रप्प जान अवतार रूप।

ऐसे चरित नायक को जो :

वीर जा बर बीर भीमति बरं कामं तनं उक्खया।
पंथे बानति वान मानति वर, कुरनद केवं कुरु ।।

– है की कौन अवहेलना कर सकता है।

इस रचना में चरित नायक पृथ्वीराज के कई विवाहों का उल्लेख किया गया है और सभी राजकुमारियां – संयोगिता, इच्छिनी, पद्मावती, शशिव्रता, प्रभृति सभी सौन्दर्य की प्रतिमान हैं :

प्रमुदित अँगनि अनंग, कौक कूकनि उच्चारति
एक रमन रस रंग वात वातनि पुच्चारित।।
गंद्य अरु वस्त्र गहनै करणि, हास भास मडी ररिय।
तिनि मध्धि पवारी पिख्खियई, जनु विधना अप्पनु धरिय ।।

– तथा :

मनहुं कला ससभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय ।।

इंछिनी और पद्मावती के समान ही शशिव्रता का सौन्दर्य भी अतुलनीय है :

ससिर अत आवन बसत, अत बालह सैभव गम ।

अलिन पंख कोकिल सुकंठ, सज्जि पौगुंड मिलत भ्रम।।

संयोगिता का नख–शिख वर्णन उसके सौन्दर्य के अतुलनीय पक्ष को प्रस्तुत करता है।

कुंजर उप्पर सिंध सिंध उप्पर दोय पव्वय।

पव्वर उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुम्भय ।।"

इस प्रकार नायक नायिका के सौन्दर्य का वर्णन कवि ने किया है।

3.3.3 वस्तु वर्णन : पृथ्वीराज रासो अपने विशाल कलेवर में विभिन्न प्रकार के वस्तुवर्णनों से सुसज्जित है। इस काव्य में चन्दबरदाई ने सरसता, विधिता एवं विदग्धता सहित विशाल नगरों, झीलों एवं सरोवरों से युक्त सुरम्य वन प्रदेश, राजदरबार सुसज्जित जनवासा, दान–दहेज आदि के साथ–साथ मांगलिक कार्यों व युद्ध क्षेत्र आदि जिसका भी वर्णन किया है वह भावक समाज को मन्त्र मुग्ध कर देता है।

पृथ्वीराज रासो के कथा नायक को सामन्तीय प्रकृति के कारण आखेट प्रिय है। कवि ने राजा के साथ शिकार करने वाले पूरे दृश्य का समायोजन बड़े मनोयोग के साथ किया है :

इक्क सहस संग स्वान, इक्क सत चित्त संग्रह।

उभय सत्त संग हरण, करत मन पवन सु भंगहि।।

इसी प्रकार युद्ध वर्णन करते समय भी कवि ने युद्ध की तैयारी से लेकर युद्ध स्थल के प्रत्येक दृश्य का ब्यौरेवार वर्णन किया है :

तब सुकन्ह चहुआन। गहिय करवान रोस भरि ।।

असिय लष्ष त्रिनगनिय। हनत हय गय पय निंदरि।।

करत कुंभ स्थल घाव। चाव अवगुन धरि धीरह।।

तुबक तीर तरवार । लगत संक्यौ न सरीरह।।

कहि चंद पराक्रम कन्ह कौ। लिय ढहाय गेवर समर।।

उछरंत छिंछ श्रोनित सिरह। मनहु लाल फरहरि समर ।।

कवि के युद्ध वर्णन की प्रमुख विशेषता उसकी वर्णन शैली की गत्यात्मकता है। यह सारा वर्णन इतना स्वाभाविक व सजीव है जो इस बात को सिद्ध कर देता है कि कवि ने स्वयं युद्धों में पूरी तरह से भाग लिया है।

आखेट व युद्ध वर्णन के साथ–साथ कवि ने अपनी रचना में साक्ष्य रूप में साथ होने के कारण पृथ्वी राज के विवाहों का भी सजीव वर्णन किया है। कवि ने विवाह संस्कार की सभी लोक–रीतियों का भी विस्तार से वर्णन किया है :

पटां विट्ठि पट गाठ गुहि, पूजे प्रथम गनेस ।
दुव कुलवारि विचारि करि, ब्याही बाम नरेस।।
ग्रहन पूजि ग्रह देव पूजि, पूजि अगनि दुज–देव।
सखोचर उचार धुनि प्रसन भए नृप बेव।।
चंद सूर ताह साख दिय, वान्हि वरू न बुध वाइ।
प्रोहित गुरु उपदेस करि, बांम अंग तब आइ।।

इससे कवि की लोक रीतियों से परिचय स्पष्ट हो जाता है।

3.3.4 प्रकृति चित्रण : पृथ्वीराज रासो में प्रकृति की भी बड़ी मनोरम झांकियां प्रस्तुत की गई हैं। कवि ने प्रकृति का स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त अवलोकन कर आलम्बन रूप की अपेक्षा उद्दीपन रूप में अधिक वर्णन किया है। इस रूप में कवि ने षट् ऋतु वर्णन बड़े मनोयोग के साथ किया है। बसंत, पावस, ग्रीष्म, शरद आदि सभी ऋतुओं का भावानुरूप वर्णन, सभी को बरबस आकर्षित करते हुए कवि पाठक की भावनाओं को अपने भावों के साथ रमा लेने में समर्थ हुआ है। सभी ऋतुओं का चन्दबरदाई ने बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। वसन्त ऋतु की विशिष्टताएं किस प्रकार भावोद्रेक करती हैं द्रष्टव्य है :

"बहत बाउ उझ्झलति मौर, अति विरह अगनि किय।
कुह कुहंत कल कण्ठ, पत्त–राखस रति अन्तिय ।।
पय लाग्गि प्रानपति वीनवों नाह नेह मुझ चित्त धरहु।
दिन–दिन अबद्धि जुवन घटय, कंत बसन्त न गम करहु।।

3.3.5 भाव तथा रस : भाव तथा रस की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक युद्ध प्रधान वीर काव्य है। इस कारण इसमें उत्साह भाव प्रधान वीर रस की प्रधानता है। विशेष कर युद्ध वर्णनों में वीर रस के अन्तर्गत युद्धवीर का बड़ा ही मार्मिक व सजीव चित्रण इस रचना में किया गया है। उत्साह के आवेग में वीरों के हृदयगत उत्फुल्लता की व्यंजना कवि ने सटीक रूप में की है। क्षत्रिय के विषय में कवि की मान्यता है :

सूर मरन मंगली, स्याल मंगल घर आये।
वाय मेद्य मंगली, धरनि मंगल जल पाये।
क्रियन लोभ मंगली, दानि मंगल कछु दिन्ने
सत मंगल साहसी, मगन मंगल कछु लिन्ने।।

वीर रस के स्थायी भाव का आवेग वीरों के हृदय में उत्फुल्लता द्वारा प्रस्तुत होता है :

सुनत सुअन सोमेस मिरख भयभीत भयउ तन।
रोस रंग प्रज्जुलिग, मंगि सनांह–अमरजन।।
ध्यान हुक्म किय दैन मत्त गज अंदुणि खुल्लिय।
नालि गोल जुत जंम हसम हाजर सह बुल्लिय।
लोहान बुल्लि आदर अनंत विवरि बत्त दूतनि कही।
विफ्फुरे वीर हुकनि सुनत जनु कि पुंछ म्यंडी अही।।

युद्धवीर के साथ ही पृथ्वीराज रासो में दयावीर तथा दानवीर के भी उदाहरण मिलते हैं। वीर रस के सहायक रूप में रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों के उदाहरण भी पृथ्वीराज रासो में मिलते हैं।

वीर रसात्मक इस काव्य में श्रृंगार की अगाध सलिला की धारा का प्रवाह भी दिखाई देता है। इसके अन्तर्गत राजकुमारियों के नख–शिख, वयः सन्धि आदि से युक्त श्रृंगार रस का पूर्ण चित्रण कवि ने किया है। इंछानि का सौन्दर्य द्रष्टव्य है :

अति सुरंग वर स्याम सधि वय सधि जुरिय वर।
ज्यों दंपति हथलेव पंथ जोगिदं मिलत गुर।।

नयन मयन आरूहिन धर्‌यौ आरूहन थांन दिन।
कछुक लज्ज अंकुरिय करि–ण आवे यें लज्ज मन।।

शशिवृता का चित्र भी श्रृंगार भाव जागृति में सहायक होता है :

सोमंत उरगपति भुअशरन, हंस मुत्ति चर–वरकरी।
सुज काज चढ़ै पप्पील सुत, काम–पात्ति दुख डरी।।

चन्दबरदाई ने संयोग श्रृंगार की मधुर व्यंजना के साथ ही पृथ्वीराज रासो में वियोग श्रृंगार की भी मार्मिक झांकी अंकित की है। संयोगिता की विरह वेदना द्रष्टव्य है :

हंजेह आहै नंखी, कंपी तनयाह काम संजोई।
न्निद्धा अधार विनसं या बाले जीवन कुतः।।

इस प्रकार संयोग एवं वियोग के अनेक सुन्दर चित्र पृथ्वीराज रासो में बिखरे पड़े हैं। पृथ्वीराज रासो में चन्दबरदाई ने करुण तथा शान्त रस का भी यथोचित संकेत दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस रचना में कवि ने विविध भावों की उर्मियों के संकेत से नवरसों का आस्वादन सहृदय जनों को कराया है और जैसा कि कवि ने स्वीकार भी किया है कि **"रासउ असंभु नवरस सरस"** को पूर्णतया सार्थक सिद्ध किया है।

3.3.6 अलंकार – निरूपण : अलंकार काव्य सौन्दर्य के उपकरण होते हैं। चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में इनके प्रयोग से अपने काव्य की शोभा का वर्द्धन किया है। अलंकार काव्य में चमत्कार के साथ ही उक्ति वैचित्र्य द्वारा काव्य में अर्थ गाम्भीर्य के साथ–साथ सरसता की भी अभिवृद्धि करते हैं। इस दृष्टि से शब्द और अर्थ की प्रधानता के आधार पर शब्दालंकार या अर्थालंकार इनके दो रूप हो जाते हैं। कहीं–कहीं दोनों पक्ष एक साथ उभय अलंकार के रूप में मान्य होते हैं।

चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में भाव व रसानुकूल अलंकार–योजना कर काव्य–भाव से सामाजिक को चमत्कृत करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। विविध वस्तु वर्णन में कवि ने परम्परित उपमानों – कमल, भ्रमर–खंजन, मृग आदि के साथ ही मौलिक कल्पनाओं का भी पुट दिया है। शब्दालंकारों में से कवि ने अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति और श्लेष का मुक्त भाव से प्रयोग किया है। अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, रूपकातिशयोक्ति, स्मरण प्रतीप, भ्रान्तिमान, सन्देह आदि अलंकारों द्वारा भाव सौन्दर्य का अभिवर्द्धन किया है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

सावन भद्दव संधि घुमरि घन घटा मिलित हुअ।
जनु समुद्र अरु गंग उमड़ि मिलि दुहुनि थोभ हुअ ।।
जनु सुरगुरु अरु सुक्र सग रिखि गगनि गगन मिलि।
जनु दधि मथि सुर असुर करण मधुपान खिभिर ठिलि।।

पृथ्वीराज रासो के युद्ध प्रसंगों में चन्दबरदाई ने विशेष रूप से अलंकारों के माध्यम से उत्साह भाव को वीरता के साथ साकारता प्रदान की है। अपनी रचना में अर्थ गांभीर्य व अर्थ सौष्ठव के लिए कवि ने विशेष रूप से अलंकार योजना द्वारा भाव सम्प्रेषण में सफलता प्राप्त की है।

3.3.7 छन्द योजना : काव्य में नादात्मक सौन्दर्य की सृष्टि के लिए छन्दों की योजना की जाती है। छन्द प्रयोग की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो में कवि चन्द इस क्षेत्र में अपना उदाहरण स्वयं ही हैं। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार रासो के अन्तर्गत "भाव–भंगिमा के साथ भाषा दनादन नए छन्दों में गति धारण करती चलती है। विशेषता यह है कि बल खाती नदी में बहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छन्द–परिवर्तन के प्रवाह में सहज आत्म–विस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।" छन्द–योजना की दृष्टि से चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।

मात्रिक :

सम छन्द : तोमर, मलिका, सुलक्षण, मनोरम, चौपाई, चौबोला, चौपाई, पद्धारि, चन्द्र, रासा, उपमान, रोला, हरिगीतिका, त्रिभंगी तथा करषा।

अर्द्धसम : दोहा तथा सोरठा ।
विषम : गाहा / गाथा (आर्या)
मिश्र : छप्पय, कुंडलिया, रड्डा ।

वर्णिक :

पंक्ति, सोमराजी, तिल्ल, विज्जोहा, हंसमाला, हंसावती, विद्युन्माला, प्रमाणिका, ईश, संयुता, कंठ शोभा, मोदक, तोटक, भुजंगप्रयात, मोतीराम, स्रग्विनी, मालिनी, भ्रमरावली, पंच चामर, शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा, दुर्मिल सवैया ।

वर्णिक मुक्तक : अनुष्टुप तथा समर क्रीडित ।

इन सभी छन्दों का साधिकार प्रयोग चन्द ने किया है। इनमें से कई छन्दों का अन्य नाम भी मिलता है। जैसे 14 मात्रा के छन्द सुलक्षण को कई विद्वानों ने ऊधो या ऊधोर छन्द कहा है । इसी प्रकार 14 मात्रा वाले मनोरम छन्द का दंडमाल, दंडक, सरस या मोहन भी कहा गया है। इसी कारण सभी में प्रयुक्त उपर्युक्त 45 प्रकार के छन्दों की गणना में अन्तर भी आ गया है। जो भी हो छन्द प्रयोग की दृष्टि से भी यह रचना हिन्दी साहित्य की एक अद्भुत रचना है। 15 मात्रा वाले चौबोला छन्द का उदाहरण द्रष्टव्य है :

झगरू साह साज सब लई।
सो पहुँचाय नीर पथ दई।
वारी सघन वारि बहु जहाँ
बैठि गोठ विस्तारी तहाँ।

मात्रिक छन्दों की ही भांति वर्णिक छन्दों का भी खुल कर प्रयोग कवि ने किया है। इनके नामों का भी भेद मिलता है जैसे हंसावती का लक्षण (त त ग) कमंध नाम से भी जाना जाता है। चार यगणों वाले भुजंग प्रयात को भुजंगी, बेली भुजंग, लीलावती भी कहा जाता है।

परम्परित छन्दों के अतिरिक्त पृथ्वीराज रासो में चालि, जुति चाल, वार्त्ता और वचनिका का प्रयोग भी हुआ है। वैसे इस दृष्टि से चन्द ने अपनी रचना में छप्पय छन्द का प्रयोग अधिक किया है। छप्पय के बाद दोहा छन्द का प्रयोग इस रचना में हुआ है।

3.3.8 भाषा : पृथ्वीराज रासो की भाषा डिंगल मानी जाती है। यद्यपि प्राप्त प्रतियों में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि के शब्दों का भी इसकी भाषा में समावेश है। परन्तु सही रूप में रासो की भाषा (हिन्दी साहित्य के आदिकाल की) प्राचीन हिन्दी का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करती है। इसे अपभ्रंश तथा राजस्थानी मिश्रित डिंगल भाषा कहा जा सकता है। साथ ही विभिन्न देशी–विदेशी सामयिक भाषाओं के पुट से कवि की भाषा बहुलता के ज्ञान का परिचय मिलता है।

शब्द–प्रयुक्ति बाहुल्य के कारण विद्वानों ने इसकी भाषा को पिंगल, मध्यकालीन ब्रज, प्राकृतामास ब्रज, अपभ्रंश प्रधान डिंगल आदि कई रूपों में देखा। इस सम्बन्ध में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी का कथन बहुत महत्वपूर्ण है ''युद्धों के प्रसंग में पृथ्वीराज रासो की भाषा डिंगल का रूप धारण करती है। किन्तु विवाह और प्रेम आदि सुकुमार प्रसंगों में वह प्रधान रूप में पिंगल ही बनी रहती है।'' वास्तव में पृथ्वीराज रासो की भाषा जनसामान्य की लोक भाषा है किन्तु परवर्ती काल में चारणों ने उसमें परिवर्तन कर उसे वर्तमान रूप में प्रस्तुत किया है।

3.4 सारांश :– अन्ततः यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य व्यंजना, चरित्रांकन, वस्तु वर्णन एवं शिल्पसौष्ठव सभी दृष्टियों से पृथ्वीराज रासो कवि चन्दबरदाई की काव्य प्रतिभा का समर्थ परिचायक है। अतिशयोक्ति पूर्ण स्थलों और कवि कल्पना की उड़ान के कारण भले ही ऐतिहासिकता विवादास्पद है पर शुद्ध काव्य की दृष्टि से यह कवि की रचना प्रगल्भता के अविच्छिन्न रूप को प्रस्तुत करता है। यह रचना कवि की राष्ट्रीय चेतना–मातृभूमि के गौरव को सजीव रखने की ललक जगाने वाली कृति है। यह एक ऐसी विपुलायतन प्रबन्धात्मक रचना है जिसमें कवि ने अपने युग को बड़ी सजगता से प्रस्तुत किया है। इस तरह काव्य रूप की दृष्टि से यह ''एक ऐसा बेजोड़ महाकाव्य है जिसमें मानव–जीवन के दोनों गरिमामय और उदात्त पक्षों तथा वीर और शृंगार भावनाओं का प्रभावक रूप एक साथ वर्णित दिखलाई देता है।'' (डॉ. हौसिला प्रसाद सिंह)

3.5 कठिन शब्द :–

1. समुज्ज्वल
2. विपुलायतन
3. पार्श्व
4. अवनि–स्पर्श

5. अप्रतिहत
6. उत्फुल्लता
7. प्रगल्भता
8. विधिता
9. विदग्धता
10. नमष्क्रिया
11. सदाश्रित
12. मीमांसन

3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व पर प्रकाश डालिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 भाव तथा रस की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो किस तरह का काव्य है स्पष्ट करें ?

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

प्र03 पृथ्वीराज रासो की छन्द योजना पर प्रकाश डालें?

उ03 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3.7 सदंर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. रासो विमर्श – माता प्रसाद गुप्त
2. रासो काव्य परम्परा – सुमन राजे
3. चन्दबरदाई और उनका काव्य – विपिन बिहारी


~~~
~~~

पद्मावती समय का काव्य सौष्ठव

4.0 रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 पद्मावती समय का काव्य–सौष्ठव

4.4 सारांश

4.5 कठिन शब्द

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– 'पद्मावती समय' के काव्य सौष्ठव के महत्वपूर्ण पक्षों की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– 'पद्मावती समय' की भाषा से अवगत हो सकेंगे।

– 'पद्मावती समय' के शिल्प पक्ष को समझ सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्येतिहास के प्रथम चरण आदि या वीरगाथा काल के प्रसिद्ध कवि चन्दबरदाई जगात जाति के भाट या चारण थे। अनुश्रुति के अनुसार आप के पिता का नाम वेण व गुरु का नाम गुरु प्रसाद था। आपका जन्म 1148 ई. के लगभग लाहौर (अब पाकिस्तान) में हुआ था। अन्तः साक्ष्य के आधार पर :

''बालिभद्र सु नागौर, चन्द उपजि लाहौरह।'' (आदि समय)

विद्वानों ने यह माना है कि चन्दबरदाई अपने समसामयिक दिल्ली नरेश पृथ्वीराज के सभासद, सखा तथा मन्त्री थे।

चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' आदिकालीन हिन्दी साहित्य का एक महत्वपूर्ण वीर गाथात्मक काव्य है। उपलब्ध रूप में इसकी कथा 69 समयों (सर्गों) में विभाजित है। इसके सम्बन्ध में डॉ. द्विजराम यादव का कहना है : ''पृथ्वीराज रासो अपने युग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। जिसमें भारतीय समाज विशेषकर सामन्ती जीवन का चित्रण मिलता है। इस रचना के पठन–पाठन से तत्कालीन सामन्ती परिवार की मनोभावनाओं का परिचय आसानी से हो जाता है। सामाजिक राजनैतिक समस्याओं के चित्रण के साथ–साथ इस रचना की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि इसका साहित्यिक महत्व है।''

4.3 पदमावती समय का काव्य–सौष्ठव

हिन्दी साहित्य की आदिकालीन इस महत्वपूर्ण रचना का 'पद्मावती समय' महत्वपूर्ण सर्ग है। इसमें कवि चन्दबरदाई ने समुद्र शिखर के राजा विजयपाल की अपूर्व सुन्दर पुत्री पद्मावती के पृथ्वीराज के साथ विवाह का वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज रासो' का यह 'समय' एक निजन्धरी काव्य रूढ़ि कथा के रूप में प्रस्तुत हुआ है। निजन्धरी काव्य रूढ़ि होते हुए भी कवि ने इस कुशलता से इसे कथा–क्रम के साथ जोड़ा है कि यह कथा ऐतिहासिक सी ही प्रतीत होती है। लोक–प्रचलित इस कथा–प्रसंग को चन्द ने काव्यात्मकता की दृष्टि से अद्भुत काव्य कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। 'पद्मावती समय' वस्तुवर्णन, भावाभिव्यंजना, अलंकार योजना, भाषा तथा भावानुरूप छन्द योजना आदि सभी पक्षों से कवि के काव्य–प्रस्तुति सौष्ठव को प्रमाणित करने में समर्थ है।

काव्य सौष्ठव की दृष्टि से **भावाभिव्यंजना** की गणना प्रथमतः की जाती है। 'भाव' से अभिप्राय काव्य के अन्तरंग से है। क्योंकि कोई भी रचनाकार अपने मन की भावना अथवा कल्पना से भावक समाज को जो कुछ देना चाहता है उसके मूल में 'भाव' ही प्रधान होता है। इसी दृष्टि से काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में भाव की गणना की जाती है। 'भाव' ही रस कोटि में पहुंच कर सहृदय सामाजिक को आह्लादित करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि काव्य में कवि का भाव 'रस' रूप में उनके अकेले का निजी न रहकर सर्वसाधारण का हो जाता है। इस दृष्टि से पद्मावती समय में वीर रस की प्रधानता है साथ ही स्निग्ध धारा के रूप में शृंगार रस का प्रवाह भी मानक समाज को प्रभावित करने में समर्थ सिद्ध हुआ है।

'उत्साह' भाव की पूर्णता उत्तम प्रकृति वालों से सम्बद्ध वीर रस में होती है। युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर तथा दानवीर इसके चार रूप माने जाते हैं पर ''वीर शब्द का जैसा प्रयोग प्रचलित है उसके अनुसार केवल युद्धवीर में ही वीर रस का प्रयोग सार्थक माना जाता है।'' पद्मावती समय के पृथ्वीराज के विजयपाल, कुमोदमणि तथा शहाबुद्दीन से युद्धों का वर्णन करते समय युद्धवीर रस का पूर्णतया परिपाक होता है। युद्ध करते समय योद्धाओं का साहस शौर्य युद्ध के प्रति उत्साह देखते ही बनता है। शहाबुद्दीन के पृथ्वीराज से युद्ध प्रसंग द्रष्टव्य है :

बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहुं दिस।
सकल सूर सामंत, समरि बल जंत्र मंत्र तस।।
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनौ लग्ग बीर नट।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनौ बीजु झट्ट घट।

थकि रहे सूर कौतिग गगन, रगन मगन भइ स्रोन धर।
हदि हरीष वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ रग नव रत्त बर।।

यहां पृथ्वीराज की अद्‌भुत वीरता का वर्णन बड़ा सटीक हुआ है।

योद्धा वेश में पृथ्वीराज का रूप भी दर्शनीय है :

''गही तेग चहुवान हिंदवाँन रानं,
गज जूथ परि कोपि केहरि समानं।
करे रूंड मुंढ करी कुंभ फारे,
वरं सुर सामतं हुंकि गर्ज मारे।।''

युद्ध करते समय योद्धाओं का साहस, शौर्य, युद्ध के प्रति, उत्साह भी वीर रस परिपाक का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है :

''अग्गे जु राज पृथिराज भूप,
पच्छे सु भयो सब सेन रूप।
पहुंचे सु जाय तत्ते तुरंग,
भुअ भिरन भूप जुरि जोध जंग।।
उलटी जु राज प्रथिराज बाग
धकि सूर गगन धर धसत नाग
सामंत सूर सब काल रूप,
गहि लोह छोह बाहै सु भूप ।।''

वीर रस के साथ–साथ ही युद्ध भूमि के दृश्यों में रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का रूप भी पद्‌मावती समय में दिखाई देता है। युद्ध भूमि में वीर योद्धा का रूप तो रौद्र पूर्ण ही होता है। इसी प्रकार–युद्ध क्षेत्र में क्षतविक्षत योद्धाओं के शरीर व चारों ओर फैले खून का दृश्य वीभत्स रस का रूप प्रस्तुत करते हैं :

कहौं कमध, कहौ मध्य कहौकर, चरन अत्तरूरि।
कहौं कंध बह तेग, कहौ सिर जुद्धि फुद्धि उर।।
कहौं दन्त मन्त हय षुर षुपरि, कुंभ भ्रसुंडह रूंड सब।
हिन्दवाँन रान भय भाँन मुख, गहिय तेग चहुवान जब।।

इसी प्रकार युद्ध भूमि में भयंकर स्थिति का चित्रण जब 'भय' भाव को उद्दीप्त करता है तो भयानक रस के दर्शन होते हैं :

गिरद्दं उड़ी भांन अँधार रैनं।
गई सूधि सुज्ज नहीं मज्झि नैनं

सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राज।
पकरियै साह जिमि कुल्लिंग बाजं।।

वीर रस के साथ–साथ गौण रूप में इन–भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रस की योजना कवि ने अपने चरित नायक की वीरता का पूर्ण रूप से साक्षात् करने के अन्तर्गत की है और अपने इस प्रतिपाद्य में उसे पूरी तरह सफलता मिली है।

युद्ध भूमि के वीरत्व प्रस्तुत करते समय जहां पृथ्वीराज एक वीर योद्धा के रूप में युद्ध वीर की साक्षात् प्रतिमा हैं वही दान देने में भी उनका दानवीर रूप भी प्रस्तुत हुआ है :

''दै दांन मांन षट भेष को,
चढ़ें साज द्रुग्गा हुजर ।।''

वीर रस के साथ–साथ चन्दबरदाई ने 'पद्मावती समय' में शृंगार रस की स्निग्ध धारा की विविध उर्मियों से भी सहृदय सामाजिक को प्रभावित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। शृंगार रस का मूल भाव 'रति' है जो मानव–हृदय की मधुरतम् भूख 'काम' की तृप्ति का साधन होता है। शृंगार रस उत्तम प्रकृति से युक्त भावाभिव्यंजन का रूप होता है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायक नायिका के सौन्दर्य का चित्रण, पारस्परिक भाव मुग्धता व मिलन का रूप प्रमुख होता है। शृंगार का वियोग पक्ष भी मानसी–भावों को व्यथित करने में समर्थ सिद्ध होता है। पद्मावती समय में कवि चंद ने सर्वप्रथम पद्मावती का नख–शिख सौन्दर्य वर्णन कर चरित–नायिका के रूप सौन्दर्य का वस्तु वर्णन किया है :

मनहुं कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बेनु षंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।।

नायिका के साथ नायक का शौर्य व रूप वर्णन भी किया है :

कामदेव अवतार हुअ सुअ सोमेश्वर नन्द।
सहस किस झलहल काल रति समीव वर बिंद।

इसके साथ पूर्वराग के अन्तर्गत पद्मावती को श्रवण दर्शन से पृथ्वीराज के प्रति प्रेम–जाग्रत होना भी शृंगार रस का ही एक अंग है :

''सुनत स्रवन प्रथिराज जस उमंग बाल विधि अंग।
तन मन चित चहुवांन पर बस्यो सुरत्तह रंग।

यहां नायिका की पूर्वराग जनित विह्वलता का मार्मिक चित्रण कवि ने किया है । साथ ही उसके यौवनावस्था आगमन पर :

बैस बिती सिसुता सकल आगम कियो बसंत।

– से माता–पिता के मन में उसके विवाह की चिन्ता होती है और वे उसके लिए उपयुक्त वर की तलाश में कुल–गुरु की आज्ञा से ब्राह्मण को विवाह लग्न के साथ भेजते हैं जिसे कुमाऊँगढ़ नरेश कुमोदमणि स्वीकार कर लेता है। इसका संज्ञान होते ही पृथ्वीराज के प्रति अनुराग–पगी पद्मावती बिलख उठती है :

पद्मावती बिलषि बर बाल बेली ;
कही कीर सों बात तब हो इकेली।
झट जाहु तुम्ह कीर दिल्ली सुदेसं,
बरं चाहुआन जु आवौ नरेसं।।

शुक पद्मावती का सन्देश पृथ्वीराज तक पहुँचा देता है और वे :

उहै घारी उहि पलन, उहै दिन बेर उहै सजि।
सकल सूर सामन्त लिए सब बोलि बंब बजि।।

पद्मावती को प्राप्त करने के लिए चल पड़ते हैं, और

"दिषंत पंथ दिल्ली दिसानं,
सुष भयो सूक जब मिल्यो आन।

राह देखती नायिका को गौरी पूजन करते हुए उसकी मांगी मन्नत को पूर्ण कर देते हैं :

पूजियइ गउरि संकर मनाय,
दच्छिनइ अंग करि लगिय पाय।
फिर देषि देषि पृथिराज राज,
हंस मुद्ध मुद्ध कर पट्ट लाज।।
कर पकरि पीठ हय पर चढ़ाय,
लै चल्यौ निश्पति दिल्ली सुराय।।"

इसके पश्चात् विरह की परिणति संयोग में हो जाती है।

"बोलि विप्र सोधे लगन्न सुभ घरी परट्ठिय।
हर बांसह मण्डप बनाय करि भांवरि गंठिय।।
ब्रह्म वेद उच्चरहि होम चौरी जु प्रत्ति वर।
पद्मावति दुलहिन अनूप दुलह प्रथिराज नर।।

भावाभिव्यंजन पक्ष के अन्तर्गत काव्य सौष्ठव की दृष्टि से **वस्तु वर्णन** का भी समावेश होता है। इस दृष्टि से जहां कवि ने पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन किया है वहीं नायिका के श्रृंगार–प्रसाधनों, उसकी व्यवस्था का भी वर्णन बड़ी कुशलता से किया है :

''कुट्टिल केस सुदेस पौहप रचियत पिक्कसद।
कमल गन्ध वय संध हंस गति चलत मंद मंद।।

इसी प्रकार बारात तथा सेना का वर्णन भी चित्ताकर्षक है। राज परिवार की मर्यादा के अनुरूप बारात तथा वाद्यों का वर्णन दर्शनीय है :

''चले दस सहस्सं असवार जानं,
पूरियं पैदलं तैतीसु थानं।
मत्त मद गलित सै पंच दंती ;
मनो सांम पाहार दुगपंत पंती।।

पद्मावती समय में जहां बारात आदि का वर्णन श्रृंगार रस की परिणति में सहायक हुआ है वहीं सेना और युद्ध का वर्णन वीर रस प्रवणता का परिचायक है।

शहाबुद्दीन की सेना का वर्णन करते हुए कवि ने शत्रु पक्ष के शौर्य का भी सराहनीय वर्णन किया है :

क्रोध जोध जोधा अनंत पंती अनि गज्जिय।
बांन, नालि, हथनालि, तुपक, तीरह स्रब सज्जिय।।
पब्बै पहार मनो सार के, भरि भुजान गजनेश बल।
आए हंकारि हंकार करि षुरासान सुलतान दल।।

कवि युद्ध वर्णन में तो सहृदय सामाजिक की आंखों के सामने युद्ध भूमि का चित्र सा उकेरने में सफल हुआ है :

न को हार नह जित्त, रहेइ न रहहिं सूर वर।
घर उप्पर भर परत करत अति शुद्ध महाभर।।

इस प्रकार वस्तु वर्णन से कवि चन्द का पद्मावती समय के काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भावाभिव्यंजन बड़ी कुशलता से हुआ है।

काव्य–सौष्ठव में कवि–कुशलता का परिचय उसके भावों की अभिव्यक्ति में भी देखा जाता है क्योंकि भावों की अभिव्यक्ति यदि कुशलता पूर्वक न हो तो काव्य की भावयत्री प्रतिभा का औचित्य नहीं ठहरता। इस दृष्टि से कवि कारयत्री प्रतिभा का रूप भी देखना अनिवार्य होता है। इस रूप में सर्वप्रथम भावाभिव्यक्ति के माध्यम में भाषा को देखा जाता है।

भाषा मानव–जीवन का वह बहुमूल्य अवदान है, जिसने भावों एवं विचारों को विनिमय शक्ति प्रदान कर समस्त मानव जाति को मानवीय समाज के रूप में संगठित करने के साथ ही चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान की है। इस विषय में आचार्य दण्डी की उक्ति दर्शनीय है :

''इदमन्धन्तमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसार न दीप्यते।।''

इससे स्पष्ट है कि भाषा ही विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है जो मानव–हृदय के अन्धकार को दूर करती है।

भाषा की दृष्टि से चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो की भाषा युगीन सन्दर्भों में प्रयुक्ति की दृष्टि से 'चारणी' भाषा है जिसमें भाव तथा परिस्थिति का परिवेश के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, डिंगल तथा पंजाबी की विशेषताओं की छाप दिखाई देती है। भाषा की प्रकृति के अनुरूप पद्मावती समय की भाषा हिन्दी साहित्येतिहास के प्रथम सन्धि युग (अपभ्रंश+हिन्दी) की भाषा है। जहां कवि ने 'प्रेम' पक्ष को लिया है वहां भाषा का माधुर्य गुण ध्वनित होता है और जहां युद्धों का वर्णन है वहां भाषा में ओजगुण प्रधान है। ''पसु पंछी सब मोहिनी, सुरः नर, मुनियर पास'' –जहां माध्युर्य गुण युक्त है वहीं ''करी चीह चिक्कार कर–कल्प भग्गे, मंद तंजिय लाज उमंग भग्गे।'' ओज गुण युक्त भाषा का उदाहरण है।

इस प्रकार पद्मावती समय में चन्दबरदाई की भाषा समृद्ध कल्पना और सशक्त अभिव्यक्ति से युक्त है। वर्ण्य विषय को जिस ढंग से कवि ने सशक्त शब्दावली में प्रस्तुत किया है वह उसके भाषा अधिकार व प्रयुक्ति की कुशलता का परिचायक है।

'पद्मावती समय' की भाषा में भाव–प्रस्तुति को अलंकरण के माध्यम से कवि ने आकर्षक बनाया है। काव्य में **अलंकारों** का उपयोग भावों को रमणीयता प्रदान करने में सार्थक होता है। पं. रामदहिन मिश्र की मान्यता है : ''अलंकार भाव–भाषा के आभूषण हैं।'' इनसे युक्त भाषा माधुर्य भाव से युक्त होकर सहृदय की भावनाओं को जागृत करने में सक्षम होती है। इस दृष्टि से पद्मावती समय में भाव–भाषा की प्रभावोत्पादिकता और प्रेषणीयता में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। 'पद्मावती समय' में अलंकारों के दोनों भेदों–शब्दालंकार व अर्थालंकार – का भावानुरूप सुन्दर प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों में कवि ने अनुप्रास के विभिन्न भेदों का प्रयोग पद्मावती समय में किया है। अनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति होती है : 'जंग, जुरन, जालिम, जुझार' में 'ज' की आवृति की गई है। 'बिलखि बर बाल बेली में 'ब' की आवृत्ति है। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों पर ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

शब्दों की आवृत्ति भिन्नार्थ रूप में होने पर यमक अलंकार होता है : 'भंडार लछिय अगनित पदम, सो पदम सेन कुंवर में 'पदम'की आवृत्ति है पर दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न, पहले 'पदम' का अर्थ संख्यावाचक है जबकि दूसरा नामवाचक।

इसी प्रकार अर्थालंकारों का भावानुरूप प्रयोग भी कवि ने विशेष रूप से किया है। उत्प्रेक्षा, उपमा, भ्रान्तिमान, रूपकातिशयोक्ति, रूपक, प्रतीप आदि अलंकारों का प्रयोग 'पद्मावती समय' में हुआ है। यहां 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का विशेष रूप में प्रयोग दिखाई देता है : 'मनहुं कला समभान', 'मनहुं काम–कामिनी रचिय', 'मनै राहु छाया सुरत' आदि उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं।

छंद की यति–गति आदि के नियमों से भाव–भाषा की अभिव्यक्ति को एक निश्चित गति मिल जाती है और इससे भाव सम्प्रेषण में लय बद्धता के कारण अधिक आकर्षण आ जाता है। ''छंद–ज्ञान से पाठ का शुद्ध ढंगों से विवेचन हो सकता है।'' डॉ. विजेन्द्र का यह कथन पृथ्वीराज रासो के सन्दर्भ में और भी सटीक बैठता है क्योंकि चन्दबरदाई ने अपनी इस रचना में पूर्ववर्ती परम्परित छन्दों के साथ ही अपभ्रंश में प्रचलित सभी छन्दों को भी युगीन सामयिक छन्दों की भावानुकूल प्रयुक्ति से अपनी इस काव्य रचना के कथ्य को एक विशेष गतिशीलता प्रदान की है।

पृथ्वीराज रासो के सम्यक् अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि चन्दबरदाई मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग करने में सिद्ध हस्त थे। 'पद्मावती समय' में भी कवि का यह कौशल दिखाई देता है। कवि ने जहां इस समय में अपभ्रंश में प्रचलित 'दूहा' तथा 'गाथा' छन्द का इसमें प्रयोग किया है। वहीं पुरानी परम्परा के 'कवित्त' तथा 'भुजंगी' छन्द को भी भावानुकूल प्रयुक्ति के लिए उचित माना है। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश का पद्धरि छन्द भी प्रयुक्त हुआ है।

दूहा व पद्धरि छन्द का प्रयोग पद्मावती समय में बहुतायत हुआ है। इस दूहा (दोहा) की प्रत्येक पंक्ति की 24 मात्राएं होती हैं व 13–11 पर यति होती है :

''सुक समीप मन कुंवरि को, लग्यौ बचन के हेत।
अति विचित्र पंडित सुआ, कथत जु कथा अमेत।।

पद्मावती समय में यह छन्द 25 बार प्रयुक्त हुआ है। इसके साथ ही पद्धरि छन्द भी अपभ्रंश का बहु श्रुत छन्द है। 16 मात्रा वाले इस छन्द में चार चतुष्कल होते हैं। इसके अन्त में लघु रखने की छूट है, कहीं कहीं अन्त में जगण (1S1) का भी विधान होता है :

''अग्गे जु राज प्रथिराज भूप,
पच्छे सु भयो सब सेन रूप।
पहुँचे सु जाय तत्ते तुरंग,
भुअ भिरन भूप जुरि जोध जंग।।''

पद्मावती समय में प्रयुक्त 'गाहा'–गाथा छन्द प्राकृत भाषा का प्रमुख छन्द रहा है। संस्कृत में इस छन्द को आर्या छन्द के रूप में मान्यता प्राप्त थी। पद्मावती समय में इस छन्द के दो उदाहरण मिलते हैं :

''उच्चरिय कीर सुनि बयनं,
हिन्दुवान दिल्ली गढ़ अयनं।
जहाँ इन्द अवतार चहुआनं,
तहँ पृथिराजह सूर सुभानं।।'

पद्मावती समय में कवित्त भुजंगी छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। कवित्त रूप में वास्तव में चन्द ने रोला+ उल्लाला के मिश्रित रूप छप्पय छन्द का प्रयोग किया है। चार यगन (1SS) वाले भुजंगी (भुजंगप्रयात) छंद का प्रयोग भी कवि ने प्रसंगानुरूप भाषा सौन्दर्यवर्द्धन हेतु किया है। जहां कवित्त का प्रयोग 14 बार किया गया है

वहीं भुजंगी छन्द का प्रयोग नौ बार हुआ है। कवित्त का प्रयोग कथा प्रवाह के लिए किया गया है। जबकि भुजंगी छन्द का प्रयोग उछाह और वियोग दोनों ही स्थितियों के लिए किया है।

पद्मावती समय में प्रयुक्त छन्द वैविध्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने भावाभिव्यंजना को सार्थक रूप देने के लिए जिस लयबद्धता को स्वीकार किया है उससे उसके भावों का प्रभाव पाठक वर्ग पर बहुत गहरा पड़ता है।

4.4 सारांशः इस प्रकार 'पद्मावती समय' में कवि चन्दबरदाई ने अपने वर्ण्य–विषय को जिस ढंग से सुसज्जित कर प्रस्तुत किया है वो उनकी काव्य कुशलता का परिचायक है। काव्य रूढ़ियों का निजन्धारी कथा के रूप में प्रयोग जिस प्रकार से कवि ने किया है उससे कल्पना में भी साकारता के रूप की झलक मिलती है अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'पद्मावती समय' के भाव और अभिव्यक्ति गत शिल्प पक्ष दोनों ही दृष्टियों से काव्य–प्रतिभा का प्रभावी रूप दिखाई देता है। यह प्रसंग चन्दवरदाई के अपने युग के अग्रिम पंक्ति के कवियों में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है।

4.5 कठिन शब्द

1.	सहृदय	2.	वीभत्स
3.	उद्दीप्त	4.	प्रवणता
5.	सौष्ठव	6.	भावाभिव्यंजन
7.	निजन्धारी	8.	अग्रिम

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 काव्य सौष्ठव की दृष्टि से 'पद्मावती समय' सर्ग में भावाभिव्यंजना के महत्व को स्पष्ट करें।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 पद्मावती समय के काव्य–सौष्ठव पर विस्तार–पूर्वक चर्चा करें।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. रासो विमर्श–माताप्रसाद गुप्त
2. रासो काव्य परम्परा – सुमन राजे
3. चन्दबरदाई और उनका काव्य–विपिन बिहारी


~~~
~~~

विद्यापति की लोक चेतना

5.0 रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 विद्यापति व्यक्तित्व कृतित्व

5.3.1 व्यक्तित्व

5.3.2 विद्यापति की रचनाएं

5.4 विद्यापति की लोक–चेतना

5.5 सारांश

5.6 कठिन शब्द

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

– विद्यापति के व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– विद्यापति की रचनाओं से अवगत हो सकेंगे।

– विद्यापति की लोक–चेतना का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

5.2 प्रस्तावनाः– विद्यापति एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। शृंगारी कवि होने के साथ–साथ वह परम भक्त भी थे। विद्यापति पदावली में महाकाली, शिव–पार्वती, राधा–कृष्ण आदि प्रसंगों का चित्रण देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति एक दरबारी कवि थे। अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होंने विभिन्न राजाओं के दरबार में बिताया इसके बावजूद

वह अपने समय के सामाजिक जीवन के प्रति जागरूक रहे। न केवल उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के विलास एवं पराक्रम का वर्णन किया अपितु तत्कालीन समाज की रूढियों, मान्यताओं एवं आचार–व्यवहार का भी चित्रण किया। इस प्रकार विद्यापति के काव्य में लोक–चेतना की अभिव्यक्ति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत हुई है।

5.3 विद्यापति व्यक्तित्व कृतित्व

5.3.1 (क) व्यक्तित्व : चाहे कवि हो, चाहे शास्त्र रचयिता, भारतीय व्यक्तित्व की प्रवृत्ति आत्माभिव्यक्ति की ओर तो रही किन्तु आत्म–प्रकाशन की ओर नहीं। 'पर' और 'परोक्ष' का प्रकाशन और उद्‌घाटन तो इन्होंने किया, किन्तु 'स्व' अथवा 'निज' को छिपाये ही रखा। सौभाग्य से विद्यापति की कृतियां उनके जीवन–वृत्त पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं, भले ही उन्होंने आत्म–कथा न लिखी हो। उनकी 'पदावली' तथा अन्य रचनाओं में जिन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख है, जिन तथ्यों का उद्‌घाटन है, उन्हें ही *अन्तर्साक्ष्य* स्वीकार किया जाना चाहिए, *बहिर्साक्ष्य* में वह अटपटा इतिहास है, जो सही तौर पर लिखा ही नहीं जा सकता।

1. जन्म स्थान :–

विद्यापति का जन्म स्थान है –'बिसपी' ग्राम। इसे 'गढ़ बिसपी' भी कहते हैं। यह स्थान बिहार के दरभंगा ज़िला के अन्तर्गत जरैल परगना में है और उत्तर–पूर्व रेलवे के कमतोल स्टेशन के अत्यन्त निकट है। प्रसिद्ध है कि यह ग्राम मिथिला के महाराज शिवसिंह ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि सहित उपहार–स्वरूप दिया था।

जन्म: विद्यापति के जन्म के सम्बन्ध में डॉ॰ उमेष मिश्र का कथन है– इनके पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राज–सभासद थे और महासभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु 252 लक्ष्मण संवत् में हुई थी, अतः विद्यापति उस समय 10 या 11 की अवस्था के अवश्य रहे होंगे, जिसमें उनका राज दरबार में आना–जाना हो सकता था। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह का जन्म 243 लक्ष्मण संवत् में हुआ और 50 वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे। यह माना जाता है और यह भी लोगों की धारणा है कि विद्यापति उनसे दो वर्ष मात्र बड़े थे। तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने को 'खेलन कवि' कहा है, इसलिए यह अवश्य कीर्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्पवयस्व के साथ खेलने के लायक रहे होंगे। इन सभी बातों से अनुमान होता है कि विद्यापति 252 लक्ष्मण संवत् में लगभग 10 या 11 वर्ष के थे। इस प्रकार डॉ॰ उमेश मिश्र के अनुसार विद्यापति का जन्म 1351 ई॰ ठहरता है। परन्तु श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त उनका जन्म 1358 ई॰ बताते हैं और महामहोपाध्याय पं॰ हरप्रसाद शास्त्री 1357 ई॰। श्री रामवृक्षबेनीपुरी 1350 ई॰ और डॉ॰ बाबूराम सक्सेना 1357 ई॰ से 1359 ई॰ के बीच किसी भी समय। श्री रमानाथ झा के स्वर में स्वर मिलाते हुए श्री शिवनंदन ठाकुर, डॉ॰ जयकांत मिश्र आदि 1360 ई॰ में विद्यापति का जन्म मानते हैं।

मृत्यु–काल–जन्म काल की भांति विद्यापति का मृत्यु–काल भी अनुमान का विषय बना हुआ है। जन्म–काल का अनुमान राजा शिवसिंह के माध्यम से हुआ, इसी प्रकार मृत्यु–काल का अनुमान भी राजा शिवसिंह की मृत्यु से लगाया जाता है।

कवि ने स्वयं कहा भी है–

"सपन देखल हम शिवसिंघ भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति राजा के 32 वर्ष बाद तक अवश्य जीवित रहे। इस समय तक कवि 87–88 वर्ष के हो चुके थे। इस समय उन्हें अपने पूर्वज, गुरूजन आदि भी स्वप्न में दिखाई देने लगे थे और उन्हें अपना अन्त निकट जान पड़ने लगा था, जैसा कि लिखा भी है–

"बहुत देखल गुरूजन प्राचीन।
आब भेलहुँ हम आयु विहीन।"

सम्भवतः इसी के आस–पास कवि का शरीरांत हो गया हो। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में एक पद्यांश प्रचलित है–

"कातिक धवल त्रयोदसि जान।
विद्यापतिक आयु अवसानि।"

इस प्रकार विद्यापति का देहावसानकाल कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी सन् 1448–1449 ई॰ के आस–पास ठहरता है।

2. दन्तकथाएं–विद्यापति एक ओर बड़े प्रतिभा–सम्पन्न कवि थे तो दूसरी ओर परम भक्त भी थे। उन्होंने भगवान् शिव, श्रीकृष्ण, दुर्गा देवी तथा गंगा माता की स्तुति में अनेक पदों की रचना की है। कवि विद्यापति की कविता –शक्ति के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनमें से एक यह है कि राजा शिवसिंह ने दिल्ली के बादशाह को जब 'कर' देना बन्द कर दिया तो दिल्ली के बादशाह ने उन्हें बन्दी बना लिया। कवि विद्यापति जब अपने आश्रयदाता तथा मित्र को छुड़ाने बादशाह के पास गये तो उन्होंने अपनी कवित्व–शक्ति का भी बखान किया। उन्होंने बादशाह से यह भी कहा कि मैं अदृश्य–काव्य की रचना भी करता हूँ। न देखी हुई चीज का वर्णन करने की प्रतिभा से बादशाह को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कवि से वादा किया कि यदि तुमने ऐसी कविता की रचना की तो तुम्हारे मित्र को कैद से मुक्त कर दिया जायेगा। बादशाह ने आज्ञा दी कि इसी समय स्नान करके आई हुई नारी का वर्णन करो। कवि ने तत्काल ही सद्यःस्नाता का वर्णन करते हुए गाया–

"कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हने पंचबाने।।
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख–ससि डर रोअए अँधारा।"

किन्तु बादशाह इससें संतुष्ट नहीं हुआ। उसे संदेह बना रहा कि सम्भव है सद्यः स्नाता सुन्दरी कवि ने पहले कभी देखी हो, अतः उसने विद्यापति को काठ के सन्दूक में बन्द करवाकर कुएँ में उल्टा लटकवा दिया और एक

दासी को आज्ञा दी कि तुम कुएँ की मुंडेर से नीचे झाँकते हुए, अग्नि जलाओ। सुन्दरी के ऐसा करने पर विद्यापति को आदेश दिया गया कि वह अपनी काव्य–प्रतिभा से बताए कि अब क्या हो रहा है? विद्यापति ने गाया–

"सुन्दरि निहुरि फूँकल आगि।
तोहर कमल भ्रमर मोर देखल मदन उठल जागि।"

इस पर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शिवसिंह को कैद से छोड़ दिया।

इसी प्रकार उनके भक्त–जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। कहते हैं कि इनकी प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान शिव नौकर के रूप में इनकी सेवा में तत्पर रहते थे। विद्यापति को बहुत समय बाद इस रहस्य का पता चला। कहते हैं, किसी समय विद्यापति यात्रा पर निकले थे। मार्ग में बड़ी प्यास लगी, किन्तु कहीं पानी नहीं मिला। अपने नौकर 'उगना' से विद्यापति ने आग्रह किया कि जैसे भी हो, पानी लाकर दो अन्यथा प्राण निकल जायेंगे। उगना गया और लौटे में जल लेकर लौटा। निर्मल शीतल जल को पीकर विद्यापति को आश्चर्य हुआ; उन्होंने उगना से बार–बार प्रश्न किया कि जहाँ दूर–दूर तक पानी का ठिकाना नहीं; वहाँ यह गंगा–जल कैसा? इस पर उगना ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया और विद्यापति से वचन लिया कि वे इस रहस्य को किसी पर प्रकट नहीं करेंगे अन्यथा भेद प्रकट होते ही वे अन्तर्धान हो जायेंगे। दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ भी। विद्यापति की कठिन रोग–दशा में उगना से कोई अपराध हो गया। रोष के आवेश में कवि की धर्मपत्नी ने लकड़ी से उगना को मारा। इस पर विद्यापति के मुँह से निकल पड़ा 'हरे, हरे तुम तो साक्षात शंकर का अपमान करती हो'। बस, इतना सुनना था कि 'उगना' रूपधारी शिव अन्तर्धान हो गये। विद्यापति ने 'उगना' के विरह में एक पद की रचना भी की है–

"उगना हे मोर कतए गेलाह।
भाँग नहिं बटुआ रूसि बैसलाह।"
जोहि हेरि आनि देल हैसि उठलाइ।
जे मोर कहता उगना उदेस।।
ताहि देबओ कर कंगना वेस।
नंदन वन में भेंटल महेस।।
गौरि मन हरखित मेंटल कलेस।
विद्यापति भन उगना सों काज।।
नहिं हितकर मोरा त्रिभुवन राज।

विद्यापति की गंगा–भक्ति के सम्बन्ध में भी किंवदन्ती है। विद्यापति अपने अन्तिम समय में गंगा में प्रवाहित होना चाहते थे, किन्तु वे इतने रोगी और दुर्बल थे कि गंगा तक जा नहीं सकते थे, अन्ततः उन्होंने गंगा माता से विनती की–

'भनहि विद्यापति समदओं तोही,
अंतकाल जनु बिसरह मोही।।'

और उपालम्भ भी दिया कि मैं तेरे निकट सदा ही आता रहा, अब तू दो मील चल कर क्या मेरे लिए आ नहीं सकती। कहते हैं गंगा माता ने कवि की विनती सुनी और उन्हें बहा कर ले गईं। कवि पद्माकर के सम्बन्ध में भी लगभग ऐसी ही किंवदन्ती प्रचलित है।

इन दन्तकथाओं और किंवदन्तियों में सत्यासत्य कितना है और कितना नहीं; इसका विश्लेषण करना व्यर्थ है। इनकी पृष्ठभूमि से इतना निष्कर्ष तो निकलता ही है कि विद्यापति एक प्रतिभाशाली आशुकवि भी थे और आस्थावान् भक्त भी।

विद्यापति निस्सन्देह प्रतिभा के धनी थे। यदि वे उच्चकोटि के कवि न होते तो न तो उन्हें अनेक राजाओं का आश्रय ही मिलता, न उनकी प्रशंसा में इतनी और इस प्रकार की दन्तकथायें ही प्रचलित होतीं; न उनके पदों को मिथिला की जनता गाती फिरती और न ही वे अनेकानेक उपाधियों से विभूषित होते। साहित्य में इतनी अधिक उपाधियाँ प्राप्त करने वाला सम्भवतः एक भी कवि नहीं मिलेगा। अभिनव जयदेव, दशावधान, कवि–शेखर, कवि–कंठहार, कवि–रंजन, राज–पंडित, खेलन कवि, सरस कवि, कवि–रत्न, नव कवि आदि उपाधियों से विभूषित कवि विद्यापति निस्सन्देह कवि शिरोमणि थे।

5.3.2 विद्यापति की रचनाएँ

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली तीनों भाषाओं में अपनी रचनाएँ लिखी हैं। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उनके परिवार में संस्कृत के अनेक विद्वान जन्म ले चुके थे। विद्यापति के समय में संस्कृत केवल शिष्ट एवं विद्वान लोगों की भाषा रह चुकी थी, जनसाधारण में उसका प्रचार न था। हाँ, अपभ्रंश और मैथिली को लोक–भाषा के रूप में लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। संस्कृत के विद्वानों की परम्परा का अनुसरण करते हुए विद्यापति ने अपनी अधिकांश रचनाएं संस्कृत में ही लिखी हैं किन्तु देशभाषा अथवा लोकभाषा की महत्ता एवं उपादेयता को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपभ्रंश (अवहटठ) और मैथिली में भी काव्य प्रयास किया है। अपभ्रंश एवं मैथिली जैसी देशभाषाओं की महत्ता की ओर कवि ने इन शब्दों में संकेत किया है–

"सक्कय वाणी कुह जन भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वयना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओं अवहट्ठा"।।

संस्कृत में विद्यापति की निम्नलिखित रचनाएं प्राप्त होती हैं–

(१) भूपरिक्रमा, (२) पुरूषपरीक्षा, (३) लिखनावली, (४) शैवसर्वस्व–सार (५) शैवसर्वस्वसार–प्रमाणभूत–पुराणसंग्रह, (६) गंगावाक्यावली, (७) विभागासार, (८) दानवाक्यावली, (९) दुर्गाभक्तितंरगिणी, (१०)गयापत्तलक और (११) वर्षकृत्य।

अपभ्रंश में उनकी दो रचनाएं पाई जाती हैं–

(१) कीर्त्तिलता और (२) कीर्त्तिपताका।

इसी प्रकार मैथिली में उन्होंने अनेक पदों की रचना की जिनका संग्रह 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यावती की इन समस्त कृतियों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है–

(१) भूपरिक्रमा–विद्यापति ने इस ग्रंथ की रचना महाराज देवसिंह के आदेश से की थी। इसमें उन कथाओं का वर्णन है जो शापग्रस्त होने पर बलराम को मिथिला में सुनाई गई थीं। बलराम ने शापग्रस्त होकर प्रायश्चित के लिए मिथिला से नैमिषारण्य तक विविध तीर्थों की यात्रा की। भूपरिक्रमा में रोचक कहानियों के साथ–साथ इन तीर्थों के हृदयग्राही वर्णन भी पाए जाते हैं। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति एशियाटिक सोसायटी, बंगाल के कलकत्ता स्थित पुस्तकालय में पाई जाती है।

(२) पुरूषपरीक्षा–यह कृति महाराज शिवसिंह की आज्ञा से लिखी गई थी। यह एक नीतिग्रन्थ है। सुकुमार बुद्धि वाले बालकों को नीतिकुशल बनाने तथा कामकला में रूचि रखने वाली परस्त्रियों के मनोविनोद के लिए विद्यापति ने इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें भिन्न–भिन्न प्रकार के पुरूषों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं। पारावार नामक राजा अपनी विवाहयोग्य पुत्री पद्मावती के लिए वर ढूँढना चाहता है। राजा के पूछने पर सुबुद्धि नामक मुनि ने उसे बताया कि उसकी पुत्री के लिए 'पुरूष' वर होना चाहिए। मुनि ने 'पुरूष' को पहचानने के लिए अनेक लक्षण बताते हुए पुरूष के चार भेद स्वीकार किये – (१) वीर पुरूष, (२)सुधी पुरूष, (३) विद्यानिपुण पुरूष और (४) पुरूषार्थी पुरूष।

इस ग्रन्थ में प्रायः सभी कथाएँ ऐसी हैं जिनके उदाहरण लोक में सदैव मिल सकते हैं। इसलिए साधारण लोग भी इन कथाओं को सरलतया हृदयगम कर सकते हैं। कवि की भाषा–शैली सरल, सुबोध एवं रोचक सिद्ध होती है।

(३) लिखनावली–यह ग्रन्थ विद्यापति ने राजा पुरादित्य की आज्ञा से लिखा था। इसकी रचना अल्पशिक्षित लोगों को विभिन्न प्रकार के पत्रों की लेखन–शैली की शिक्षा देने के उद्देश्य से की गई। इसमे उच्च कक्षा, समकक्षा और अधः कक्षा के लोगों के प्रति साधारण पत्र–व्यवहार के लिए उपयोगी तथा विवाद के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध पत्रों के नमूने प्रस्तुत किए गये हैं।

लिखनावली में कुल मिलाकर 89 पत्रों के नमूने प्रस्तुत किये गये हैं। ये सारे पत्र संस्कृत में ही लिखे गये हैं। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था पर भी ये पत्र अच्छा प्रकाश डालने में समर्थ हैं।

(४) शैवसर्वस्वसार–यह ग्रन्थ विद्यापति ने महाराज पद्मसिंह की पत्नी विश्वासदेवी के आदेश से लिखा था। इसमें शिव–पूजाविधि का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में राजा भवसिंह से लेकर विद्यापति के समय तक के राजाओं का वर्णन भी उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। एशियाटिक सोसायटी, बंगाल के पुस्तकालय तथा दरभंगा राजकीय पुस्तकालय में इसकी हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं।

(५) शैवसर्वस्वसार–प्रमाणभूत–पुराणसंग्रह–यह ग्रन्थ भी शैवसर्वस्वसार का समकालीन है। इसमें विद्यपति ने

शैवसर्वस्वसार में दिये गये प्रमाणों का संग्रह प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ भी अभी तक मुद्रित नहीं है। इसकी एक प्रति दरभंगा राजकीय पुस्तकाल्य में विद्यमान है।

(६) गंगावाक्यावली–इस ग्रन्थ की रचना भी विद्यापति ने विश्वासदेवी की आज्ञा से की थी। गंगा के माहात्म्य एवं पूजा आदि पर इसमें विस्तार के साथ विचार किया गया है। हरिद्वार से लेकर गंगासागर तक के तीर्थों के विषद वर्णन भी इस में उपलब्ध होते हैं। इस में रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति आदि के वचन प्रमाण रूप में उद्धृत किये गये हैं।

(७) विभागसार–दायभागनिरूपण सम्बन्धी यह ग्रन्थ विद्यापति ने राजा नरसिंहदेव की आज्ञा से लिखा था। इसमें दामादों में धन के विभाजन की व्यवस्था पर विचार किया गया है। दायभाग के अतिरिक्त द्वादशपुत्रलक्षणनिरूपण, अपुत्र–धनाधिकारनिरूपण एवं स्त्री–धनविभागानिरूपण आदि विषयों पर भी इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है।

(८) दानवाक्यावली–इस ग्रंथ की रचना राजा नरसिंहदेव की पत्नी धीरमति की आज्ञा से की गई थी। इसमें तुलापुरूष, स्वर्ण, रथ, हाथी के दान के महत्त्व, दान के भेदों एवं विधियों का विवेचन किया गया है। दानविधि के निरूपण में कवि ने इस रचना में कल्पतरू, दानसागर, रत्नाकर, लक्ष्मीधरसागर आदि के वचन पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किये हैं। दान के योग्य विविध प्रकार की वस्तुओं का वर्णन भी इसमें विस्तार के साथ किया गया है।

(९) दुर्गाभक्तितंरगिणी– इस ग्रन्थ की रचना विद्यापति ने महराजा भैरवसिंह के आदेश से की थी। इसमें दुर्गापूजा–पद्धति का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। मिथिला में दुर्गापूजा– महोत्सव बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। और विशेषकर आश्विन तथा चैत्र के नवरात्रों में दुर्गा–पूजा का अधिक महत्त्व माना जाता है। विद्यापति ने इस ग्रन्थ में दुर्गा–पूजा की विधियों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

(१०) गयापत्तलक– इस कृति में गया श्राद्धसम्बन्धी विधियों का विवेचन है। विद्यापति ने किस राजा के आश्रय मे रहते हुए इस ग्रन्थ की रचना की, यह अभी तक ज्ञात नहीं है। इसकी अनेक प्रतियां मिलती हैं जिनके अन्त में महामहोपाध्याय विद्यापति का नाम उल्लिखित है।

(११) वर्षकृत्य–इसमें वर्ष भर के सारे शुभ पर्वों का विधान है। विविध देवी–देवताओं की पूजा, व्रत, दान आदि के नियमों का विवेचन इस ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया गया है। इसमें विविध ग्रन्थों की उक्तियां प्रमाणरूप में कवि ने उद्धृत की हैं।

(१२) कीर्तिलता–यह ग्रन्थ अपभ्रंश(अवहट्ठ) में लिखा गया है। विद्यापति ने महाराज कीर्तिसिंह के यशोगान के उद्देश्य से इसकी रचना की है।

इसमें कीर्तिसिंह के पिता गणेश्वर की मृत्यु, कीर्तिसिंह की विजय और राज्याभिषेक आदि का वर्णन है। मलिक असलान–द्वारा राजा गणेश्वर की हत्या के पश्चात् उसके पुत्र कीर्तिसिंह सहायता के लिए जौनपुर के शासक इब्राहीमशाह के पास पहुंचते हैं। कवि ने कीर्तिसिंह की जौनपुर–यात्रा तथा जौनपुर नगर की समृद्धि का वर्णन विस्तार के साथ किया है।

(१३) कीर्तिपताका– कीर्तिलता के समान इस ग्रन्थ की रचना भी अपभ्रंश (अवहट्ठ) भाषा में की गई है। इसमें महाराज शिवसिंह की कीर्तिपताका का वर्णन है। दोहा, छन्द तथा गद्य में इसकी रचना हुई है। यत्र–तत्र संस्कृत के श्लोक एवं संस्कृत–गद्य का प्रयोग भी किया गया है। अर्धनारीश्वर शिव तथा गणेश की वन्दना से ग्रन्थ का आरम्भ होता है। इसके पश्चात् कवि ने राजा शिवसिंह के शौर्य, ऐश्वर्य एवं विलासमय जीवन के मनोरम चित्र अंकित किये हैं। अन्त में सुलतान के साथ शिवसिंह के युद्ध का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है।

(१४) पदावली–विद्यापति ने बाल्यावस्था से लेकर मृत्युकाल तक मैथिली भाषा में समय–समय पर जिन पदों की रचना की थी उनका संग्रह 'पदावली' नाम से प्रसिद्ध है। 'पदावली' के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं। उनका आधार मुख्यतया दो–तीन हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। विद्यापति के पदों का एक संग्रह मिथिला से प्राप्त हआ है। कहा जाता है कि विद्यापति के प्रपौत्र ने यह संग्रह प्रस्तुत किया था। दूसरा संग्रह महामहोपाध्याय स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल के राजपुस्तकालय से प्राप्त किया था। इन दोनों संग्रहों के अतिरिक्त विद्यापति के कुछ पद बंगाल के 'कल्पतरू' में भी संगृहीत किये गये थे। मैथिली कवि लोचनकृत 'राजतरंगिणी' में भी उनके कुछ पद पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'मिथिलागीत संग्रह' में विद्यापति के कुछ पद संगृहीत हैं। बंगाल तथा नेपाल से प्राप्त पदों में स्थानीय बोलियों के सम्मिश्रण से उनका वास्तविक स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो गया है। वस्तुतः मिथिला में प्रचलित विद्यापति के पदों में ही उनके वास्तविक स्वरूप की रक्षा हुई है और इन पदों की शुद्धता की रक्षा में मिथिला की स्त्रियों का विशेष हाथ रहा है।

'पदावली' के पदों को हम मुख्यता तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं– श्रृंगाररसात्मक, भक्तिपरक और विविधविषयक। पदावली के अधिकांश पद श्रृंगारी हैं। राधा–कृष्ण एवं नायक–नायिका के प्रेम, मिलन, विरह आदि से सम्बद्ध पदों की गणना श्रृंगाररसात्मक पदों में की जाती है। ऐसे पदों में कवि ने नायिका तथा नायक के प्रेम के अत्यन्त मादक एवं हृदयग्राही चित्र अंकित किये हैं। ये पद पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में श्रृंगाररस का उद्रेक करने में पूर्णतया समर्थ हैं। भक्तिपरक पदों में शिव की महेशवानी, नचारियाँ तथा दुर्गा, गौरी, गंगा आदि की स्तुति से सम्बद्ध पद सम्मिलित किये जाते हैं। तृतीय वर्ग में विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पदों को स्थान दिया जाता है। दृष्टिकूट, प्रहेलिका आदि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध तथा राजा शिवसिंह के राज्याभिषेकवर्णन तथा युद्धवर्णन सम्बन्धी पद इसी श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं।

5.4 विद्यापति की लोक–चेतना

समाज और कवि के सम्बन्धों पर काफी वाद–विवाद हुआ है। आलोचकों का एक वर्ग किसी कवि या लेखक की सफलता का सबसे बड़ा मानदण्ड उसकी लोक–चेतना को मानता है और उसके साहित्य के हर पहलू का अध्ययन समाज को परिपार्श्व में रख कर करना चाहता है। ऐसी अवस्था में जब समाज में कई प्रकार की विचारधाराएं संघर्षरत हों और प्रत्येक मतवाद के मानने वाले हर दूसरे को अस्वस्थ, प्रतिक्रियावादी और रूढ़िग्रस्त तथा विकास के प्रतिकूल कहते हों, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन कवि स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों का पोषक है और किस ने अस्वस्थ तथा रूग्ण मानव–मन के चित्रण में ही अपना समय

नष्ट किया है। कई बार एक कवि की रचनाएं भी मतवादों के इस जाल में उलझ कर नाना प्रकार की मान्यताओं का शिकार हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आधुनिक युग के किसी कवि को लीजिए। उसके साहित्य के अध्ययन करने वाले किन्हीं दो आलोचकों का मत मिलता नजर न आयेगा। एक ही कवि अथवा लेखक की रचनाओं को कुछ आलोचक समाज की यथातथ्य प्रवृत्तियों का आईना, स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाली और सामाजिक यथार्थ को सही रूपों में चित्रित करने वाली बताएंगे। इन परस्पर विरोधी मतवादों के घटाटोप में साधारण पाठक के लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि अमुक लेखक कैसा है या था। भारतीय परम्परा साहित्य और लोक से समुचित गठबंधन की रही है। अतः प्रत्येक महाकवि की रचनाओं में इस गठबंधन का स्वरूप देखने को मिलता है।

विद्यापति एक दरबारी कवि थे। उनके जीवन का अधिकांश भाग विभिन्न राजाओं के दरबार में व्यतीत हुआ। राजा शिव सिंह और रानी लखिमा देवी जैसे आश्रयदाताओं से प्रेरणा पाकर उन्होंने 'पदावली' के अनेक पदों की रचना की। राजदरबार में रहकर भी वह अपने समय के सामाजिक जीवन के प्रति जागरूक रहे। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के ऐश्वर्य, विलास एवं पराक्रम का ही वर्णन नहीं किया अपितु जनता के हृदय की सहज भावनाओं को भी वाणी प्रदान की है। उनके काव्य में तत्कालीन समाज की मान्यताओं, रूढ़ियों, आचार–व्यवहार एवं जीवन–मूल्यों का समावेश है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सिद्धों या निर्गुण सन्तों, विशेष रूप से कबीर की तरह समाज की कुरीतियों एवं रूढ़ियों के प्रति उग्र विरोध प्रकट नहीं किया। कवि राजनीति की तरह मतवाद का प्रचार नहीं कर सकता और न ही समाचार–सम्पादक की तरह किसी घटना या परिस्थिति का चित्रण ही करना उसे अभीष्ट होगा। साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है तथा उस शैली में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में थोड़ा कष्ट अवश्य होगा।

विद्यापति का जन्म संस्कृत के विद्वानों के परिवार में हुआ था और वह स्वयं भी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना करके विद्यापति ने अपनी संस्कृत–साहित्य–विषयक विद्वत्ता का परिचय दिया था। परन्तु अपने समय के जन–जीवन के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्होंने पदावली की रचना में बुध–जनों की भाषा को अपनाते हुए लोक चेतना के प्रति आदर भाव व्यक्त किया है। जनता के हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जन भाषा को ही माध्यम बनाया है।

विद्यापति की 'पदावली' एक शृंगारिक गीतिकाव्य है। गीतिकाव्य में कवि की दृष्टि समष्टिगत न होकर व्यक्तिपरक की अधिक होती है। पर विद्यापति ने जन–जीवन से पृथक रहकर केवल अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का चित्रण 'पदावली' में नहीं किया है, अपितु जनमानस के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करते हुए जनजीवन को वाणी प्रदान की है। उनमें कवि की व्यक्तिगत भावनाओं के साथ–साथ लोकजीवन की गम्भीरतम अनुभूतियों का भी सरल स्वाभाविक प्रतिफलन हुआ है–

"मोरा रे अंगनवाँ चनन केरि गछिया,
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोए बायस,
जवो पिया आओत आज रे।"

विरहिणी नायिका का काक–शगुन–सम्भाषण सम्बन्धी यह पद लोक–हृदय का स्पर्श करने में पूर्णतया समर्थ है। यहाँ विरहिणी नायिका एक सरल स्वभाव वाली सामान्य नारी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। उसके हृदय की मिलनोत्कण्ठा की व्यंजना यहाँ स्वाभाविक ढंग से सीधी–सादी लोक–भाषा में हुई है।

विद्यापति के गीतों मे लोक हृदय को स्पर्श करने की पूरी क्षमता पाई जाती है। इसीलिए इनके गीत मिथिला में सामाजिक उत्सवों और त्योहारों के अवसर पर गाए जाते हैं। विवाह के पश्चात् प्रथम समागम के अवसर पर मिथिला की स्त्रियाँ नवविवाहित वधू को शिक्षा देती हुई गाती हैं–

"सुन्दरि चललिहु पहु–घर ना।
चहु दिस सखी सब कर धर ना।
जाइतहु लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।"

मिथला के जन–समाज में विद्यापति के गीतों को जितनी ख्याति प्राप्त हुई उतनी अन्य किसी कवि के गीतों को नहीं मिल सकी। मिथिला में विद्यापति के पद लोक–गीत बन गए हैं। वे जनसाधारण के हृदय में स्थान पाने में समर्थ हुए हैं।

लोक–तत्वों के चयन में विद्यापति का अद्‌भुत कौशल दृष्टिगत होता है। उन्होंने अनेक गीतों छन्द, धुन, स्वर एवं शब्द विन्यास लोकजीवन से ग्रहण किए और संयोग तथा वियोग के वर्णनों में लोकजीवन की मान्यताओं को स्थान दिया। उदाहरणार्थ बालक के रूप में बसंत का वर्णन करते हुए बालक–जन्म के अवसर पर जनजीवन में प्रचलित टोने–टोटके एवं अन्य लौकिक प्रथाओं का चित्रण किया है–

"मधु लए मधुकर बालक दएहलु, कमल–पंखरी लाई।
पओनार तोरि सूत बाँधल कटि, केसर कइलि बघनाई।
नख नव पल्लव सेज ओछाओल, सिर देल कदम्बक माला।
बैसलि भमरी हरउद गाबए, चका चन्द निहारा।
कनअ केसुअ सुति–पत्र लिखिए हलु, रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित–गुनित भल जानए, रितु बसन्त नाम थोला"।

विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने विरहिणी नायिका के दुःख का चित्रण करते समय उसे रानी या राजकुमारी की भूमिका में नहीं रखा है, जो उनके लिए ज्यादा उचित और उस वातावरण के अनुकूल होता। कवि ने नायिका के रूप में एक ऐसी नारी की कल्पना की है, जिसके चारों तरफ शील और मर्यादा की बाड़ लगी है, परिवार है, सास और ननद की पहरा देती आँखें हैं।

विद्यापति ने राधा और कृष्ण को सामान्य नायिका एवं नायक के रूप में चित्रित करते हुए उनके प्रेम–व्यापार में सामान्य प्रेमिका और प्रेमी के हृदयगत भावों को प्रतिबिम्बित किया है। उनके राधा और कृष्ण पथ में, यमुना–तट पर और कुंज भवन में एक दूसरे से मिलते हैं। उनकी रूपासक्ति, मिलनोत्कण्ठा,

हर्षोल्लास, हास्यविनोद आदि का चित्रण विद्यापति ने सामान्य प्रेमी और प्रेमिका के रूप में किया है। एक साधारण प्रेमी के रूप में कृष्ण कभी कुन्जभवन से निकलती राधा के मार्ग को रोक कर उससे छेड़छाड़ करने लगते हैं–

"कुन्जभवन सएँ निकसलि रे, रोकल गिरिधारी।
एकहि नगर बस माधव हे, जनि कर बटमारी।
छाड़ि कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव सारी।
अपजस होएत जगत भरि हे, जनि करिअ उघारि।"

राधा भी कभी एक सामान्य प्रेमिका के रूप में कृष्ण का हाथ पकड़ कर यमुना पार पहुँचाने का अनुरोध करती है–

"कर धरु करु मोहे पारे। देब मैं अपरुब हारे कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेलि। न जानू कोन पथ भेली कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे। जाएब ओघट घाटे कन्हैया।।"

विद्यापति ने प्रेम–विरह के चित्रण में सर्वत्र मनोवृत्ति का ही अंकन किया है, ऐसा तो नहीं परन्तु इतना सत्य है कि विद्यापति की राधा अपने विरह में भी निराश नहीं है और न ही संसार का किंचित अमंगल सोच पाती है। यही नहीं, जहां नायिका अपनी विरह की पीड़ा से व्याकुलचित होकर अपना नाश कर देना चाहती है, वहां विद्यापति उसे आश्वासन देते हुए उसे उसके प्रिय से मिलने की आशा बँधाते हैं–

"सून सेज मोहि सालए रे
पिया बिनु घर मोये आजि
विनती करौं सहलोलवि रे
मोहि देह अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आइ मिलबे प्रिय तोर।"

विरह के इन गीतों में जहां नायिका आत्मग्लानि से पीड़ित होकर हज़ारों तरह की परिस्थितियों की कल्पना कर के अपने दुःसह दुःख की भयंकरता से ऊब कर अनिष्ट की बात सोचती है, कवि उसे प्रत्येक परिस्थिति में सखी के मुख से, पथिक के मुख से अथवा अपने मुख से आश्वासन के दो शब्द, आशादायक दो बातें अवश्य कहता है। विद्यापति के इन गीतों को गाकर जाने कितनी प्रोषितपतिकायें सुदूर कर्मरत अपने प्रेमियों व पतियों के विशेष दुःख को सँभालने में समर्थ हुई होंगी। ऐसे गीत स्वस्थ प्रवृत्तियों के विकास के द्योतक हैं।

उन्होंने जनजीवन में प्रचलित स्वस्थ प्रवृत्तियों का ही नहीं, अपितु अस्वस्थ प्रवृत्तियों का भी चित्रण यत्र तत्र किया है। लोक जीवन में प्रचलित अनमेल विवाह और बाल विवाह जैसी कुप्रथाओं पर भी कवि ने तीखा व्यंग्य किया है–

"पिया मोर बालक हम तरुनीगे,
कौन तप चुकलौंह, भेलौंह जननी गे।
पहिर लेल सखि एक दछिन क चीर,
पिया के देखैते मोर दगध शरीर।
पिया लेली गोद कए चललि बजार,
हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार।
नहि मोर देवर कि नहीं छोट भाई,
पुरुब लिखल छल बालमु हमार।
बाट रे बटोहिया कि तुहु मोर भाई,
हमर समाद नैहर लेले जाउ।
कहिहुन बाबा के किनथु थेनु गाइ,
दूधवा पियाइ के पोसता जमाइ।"

उपर्युक्त पंक्तियों में विद्यापति ने लड़की के बाप की भर्त्सना नहीं की, उसे मूर्ख भी नहीं कहा और न उसका समाज के लोगों द्वारा उपहास कराया, परन्तु व्यंग्य कितना तीखा और मार्मिक है।

समाज में कुत्सित जीवन व्यतीत करने वाली कुटनी नारी का विद्यापति ने सजीव चित्रण किया है। यह सत्य है कि आर्थिक वैषम्य या दीनता का उल्लेख वैसा नहीं है जैसा, आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओं में होता है। यह सम्भव भी नहीं था क्योंकि चौदहवीं शताब्दी में एक कवि को न तो आजकल का बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था, न उसके सामने वर्ग–संघर्ष की वर्तमान परिस्थितियाँ ही स्पष्ट थीं। इसलिए कुटनी नारी पर लिखी कविता में दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरी तरह से कामकला के प्रचार ने जिस प्रकार के छिछले प्रणय का प्रचार किया, उसमें कुटनी नारी या शिष्ट शब्दों में दूती का महत्व है। यह दूती केवल प्रेमी–प्रेमिकाओं के स्वाभाविक प्रेम–व्यापार में ही सहायता नहीं देती थी, बल्कि नागरजनों की काम–वासना की तृप्ति के लिए नाना–प्रकार के जाल फेंक कर भोली–भाली व मूर्ख लड़कियों को फँसाने का भी कार्य करती थी। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन को इस प्रकार के छद्मपूर्ण प्रेम–व्यापार में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति से भर उठती है। कुटनी नारियाँ न केवल परनारी को लोभादि दिला कर फँसाने का ही कार्य करती थीं, बल्कि स्वयं भी एक प्रकार से वेश्या का जीवन व्यतीत करती थीं। विद्यापति ने एक ऐसी ही वृद्धा कुटनी का सजीव चित्र उपस्थित किया है–

"हम धनि कूटनी परिनत नारी
बैकहु वास न कहौं विचारि
काहु के पान काहु दिअ सान
कत न हकारि करल अपमान
कय पर माद धिया मोर भेल

आहे यौवन कतय चल गेल
भागैल कपोल अलक भरि साजु
संकुल लोचने काजर आंजु
धवला केस कुसुम करू वास
अधिक सिंगार अधिक उपहास
थोथर थैया थन दुहुँ भेल
गरूउ नितम्ब कहाँ चलि गेल
यौवन सेस सुखायेल अंग
पाधु हेर विलुलइत अनंग
खने खस घोघट विघट समाज
खने–खने अब हकारलि लाज
भनहिं विद्यापति रस नहिं छेओ
हासिनी देह पति देवसिंह देओ।"

उपर्युक्त पद में कूटनी अपने पूर्व जीवन से विरक्त होकर अपनी आत्म–ग्लानि एवं पश्चात्ताप की भावना व्यक्त करती है। विद्यापति ने यहाँ परिस्थितियों के कारण विवश होकर इस प्रकार गर्हित जीवन बिताने वाली कूटनी का चित्रण पर्याप्त सहानुभूति के साथ किया है। कूटनी अपने चरित्र के कारण अपनी लड़की पर लगाये जाने वाले प्रवादों से दुःखी है, वह जानती है कि यौवन च्युत नारी का यह कृत्रिम शृंगार उसका उपहास करता है। परन्तु वह अपनी परिस्थितियों के कारण विवश है, कवि ने आर्थिक परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इस ओर काफी साफ ढंग से संकेत कर दिया है।

विद्यापति के कृष्ण, नंदराजा के राजकुमार नहीं ग्वाल थे, इसलिए जिस वातावरण में उन्हें उपस्थित किया गया है, वह उसी के उपयुक्त हैं। राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुए कहती है कि कैसा मूर्ख है यह कृष्ण, कहीं कौड़ी से घोड़ा खरीदा जाता है या उधार मांगने से घी मिलता है? बैठने के लिए स्थान तक नहीं और और खाने के लिए उत्तम व्यंजन माँगता है–

"कउड़ि पठओले पाव नहीं घोर,
घीव उधार माँग मति भोर।
बास न पाबए माँग उपाति,
लोभ क रासि पुरूष थिक जाति।"

सामान्य सामाजिक जीवन में प्रचलित परकीया प्रेम के अनेक चित्र पदावली में पाए जाते हैं–

"हम जुवती पति गेलाह विदेस।
लग नहिं बसए पडौसिया क लेस।
सासु दोसरि कछओ नहिं जान।

आँख रतौंधि सुनये नहिं कान।
जागह पथिक जाह जनु भोर।
राति अँधार–गाम बड़ चोर।"

ऐसे पदों में ग्राम्य–जीवन के सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। उनमें विद्यापति का लोक–जीवन सम्बन्धी ज्ञान अधिक प्रकाश में आता है।

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होंने सारे अभिजात प्रयोगों के बावजूद कई स्थानों पर घोर ग्राम्य या लोकप्रसूत प्रयोग किये हैं। ऐसे प्रयोगों से कवि की सामाजिक पैठ और बातचीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहावरे और कहावतों के प्रयोग में विद्यापति ने कमाल कर दिया है। विशेष रूप से ये प्रयोग राधा तथा अन्य गोपियों की बातचीत में दिखाई पड़ते हैं। लोक प्रयोग प्रायः स्त्रियों के वार्तालाप में ज्यादा सुरक्षित रहते भी हैं। उदाहरण–

"सखि हे बूझल कान्ह गोआर
पितरक टाँड़ काज दुहु काओन लहु
ऊपर चकमक सार"

कान्ह बिल्कुल गँवार है, यह मैंने आज जाना। पीतल का आभूषण ऊपर से मुलम्मा। यह चमक–दमक से कोई काम करने वाला नहीं।

राधा अपनी सखियों को अपना रात का अनुभव बताती हुई मर्मस्पर्शी लोकोक्तियों की योजना द्वारा कृष्ण के मूर्खता पूर्ण व्यवहार पर व्यंग्य करती है–

"किं कहब हे सखि रातुक बात।
मानसिक पड़ल कुबानिक हात।
काँच कंचन न जानह भूल
गुंजा रतन करह समतूल।
जे किछु कभु नहि कलारस जान।
नीर खीर दुहु करह समान।
तन्हि सौ कहाँ पिरित रसाल।
बानर कंठ कि मोतिम माल"

कवि ने लोक प्रचलित मुहावरों के प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति दी तथा अपने कथ्य को अधिक जीवन्त और लोक–जीवन–सम्पृक्त बनाया। मुहावरों के साथ ही उन्होंने लोक जीवन के अन्य तत्व भी ग्रहण किए। उदाहरणस्वरूप उनके गीतों में कई स्थानों पर प्रेम–विरह आदि की सूक्ष्म परिस्थितियों में लौकिक अन्धविश्वास, भूत–प्रेत, टोना–टोटका तथा अन्य प्रकार के रूढ़ विश्वासों का प्रयोग हुआ है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने

इन विश्वासों को हानिकर या अवैज्ञानिक समझ कर इनका प्रतिकार किया, ऐसा करने का वह युग भी नहीं था; किन्तु उन्होंने अपनी सहजता में ही इनका विरोध किया है। उदाहरण के लिए, उनके गीत में एक प्रेमिका गोपी अपनी सास को धोखा देने के लिए भूताविष्ट का अभिनय करती है, कृष्ण एक ओझाइन बनकर आते हैं और अकेले में मंत्र–प्रयोग की आज्ञा ले कर घर के लोगों को उसके पास से हटा देते हैं, गोपी का रोग दूर हो जाता है–

"निरजन होई मंत्र जब झाड़िए
तब इह होएब भाल
हत सुन जटिला घर दोहे लाओल
निरजन दुहु एक ठाम
सब जन निकसल बाहर बइसल
पुरल कान्ह मन काम
बहु खन अतनु मंत्र पढ़ि झारल
भागल तब सेहो देवा
देव देयासिनी घर सयें निकलल
चातुरि बूझबि केवा।"

इस प्रकार के भूत–प्रेत के बहाने के पीछे कितना सत्य होता है, क्या–क्या अभिप्राय होते हैं, उनका एक व्यंग्यात्मक संकेत यहाँ विद्यापति ने दिया है। राधा के विरह–प्रसंगों में भी इसी प्रकार के लौकिक विश्वासों का प्रयोग किया गया है। इसके कारण ऐसे वर्णन ज्यादा मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी हो सके हैं।

विद्यापति ने 'पदावली' में यत्र–तत्र सुन्दर भावपूर्ण नीतिपरक सूक्तियों का प्रयोग कर के अपनी लोकजीवन सम्बन्धी चेतना का परिचय दिया है। लौकिक जीवन में धनी का आदर और निर्धन की उपेक्षा युग–युग से होती आई है। विद्यापति ने इस जीवन–सत्य का उद्‌घाटन भी किया है–

"धनिकक आदर सब तहँ होय,
निरधन बापुर पुछय न कोय।"

इसी प्रकार कृपण पुरूष के जीवन का उपहास कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है–

"कृपन पुरूष के केओ नहि निक कह,
जग भरि कर उपहास।
निज धन अछइत नहिं उपभोगब,
केवल परहिक आस।"

विरह सम्बन्धी पदों में विद्यापति ने अनेक पदों में लौकिक विश्वासों का प्रयोग करके अपनी उक्तियों को अधिक मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी बनाया है। कृष्ण के विरह में राधा कृष्ण की निष्ठुरता की ओर संकेत करती हुई अपनी आत्मग्लानि इन पंक्तियों में व्यक्त करती है–

"की हम साँझ क एकसर तारा,
भादब चौथ क ससि।
इथि दुहु माझ कवन मोर आनन,
जे पहु हेरसि न हँसि।"

राधा कहती है कि क्या मैं साँझ का एकाकी तारा हूँ अथवा भादों की चौथ का चन्द्रमा, जो कि मेरे प्रियतम मेरे मुख को कलंकित समझ कर मेरी ओर देखते भी नहीं? राधा की ऐसी उक्तियों में लोक–संस्कार अन्तर्निहित हैं।

5.5 सारांश :– विद्यापति के काव्य में जन–जीवन की अभिव्यक्ति सुन्दर ढंग से हुई है। 'पदावली' के पदों से सामन्तीय जीवन की अपेक्षा लोक–जीवन ही अधिक मुखरित हुआ है। विद्यापति ने अपनी कविता को राजदरबार की नर्तकी न बनाकर जनमानस की अधीश्वरी के पद पर प्रतिष्ठित किया है। लोक–तत्वों के समावेश के कारण विद्यापति की पदावली में लोक–चेतना का स्पन्दन प्रचुर परिमाण में दृष्टिगत होता है।

5.6 कठिन शब्द

1. अन्तर्साक्ष्य
2. बहिर्साक्ष्य
3. देहावसान
4. दन्तकथाएँ
5. उपालम्भ
6. उपादेयता
7. सम्बद्ध
8. प्रतिपादन
9. संगृहीत
10. विकृत
11. परिपार्श्व
12. प्रकाण्ड
13. समागम
14. रूपासक्ति

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्नः–

प्र01 विद्यापति के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 विद्यापति की रचनाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र03 विद्यापति की लोकचेतना को स्पष्ट करें।

उ03 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. विद्यापति – डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित
2. विद्यापति – मनमोहन सहगल
3. विद्यापतिः युग साहित्य – अरविंद नारायण सिन्हा


~~~
~~~

विद्यापति : भक्त अथवा श्रृंगारी कवि

6.0 रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 विद्यापतिः भक्त अथवा श्रृंगारी कवि

6.4 सारांश

6.5 कठिन शब्द

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– विद्यापति भक्त कवि हैं अथवा श्रृंगारी कवि इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– विद्यापति के पदों के विषय में जान सकेंगे।

– विद्यापति पदावली से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

मिथिला के सुप्रसिद्ध कवि मैथिल कोकिल विद्यापति आज के बिहार राज्य के दरभंगा जनपद के अन्तर्गत जरैल सरगना के विसपी गांव के निवासी थे। इनके पिता गणपति ठाकुर और पितामह जयदत्त संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। गणपति ठाकुर मिथिलेश महाराज गणेश्वर के सभा पंडित थे। आपको ज्ञान की गहनता पारिवारिक रूप

से पैतृक सम्पति के रूप में प्राप्त हुई । विद्यापति के जन्म काल के विषय में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। डॉ. उमेश मिश्र जहां इनका जन्म 241 लक्ष्मण सेन संवत् अर्थात् 1360 ई. मानते हैं वहीं डॉ. सुभद्र झा ने इनका समय 1352 ई. से 1448 ई. तक का माना है। श्री नगेन्द्र नाथ व श्री शिवनन्दन ठाकुर के अनुसार आपका जन्म 1351 ई. में हुआ। इसी प्रकार विभिन्न विद्वानों ने इन्हें चौदहवीं सदी का कवि माना है। बाल्यकाल में आपने प्रसिद्ध मैथिल विद्वान श्री हरी मिश्र जी से विद्यारंभ किया। अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण आपका सम्बन्ध राजदरबार से शीघ्र हो गया। डॉ. श्री उमेश मिश्र के अनुसार ''इन्होंने शास्त्र का व्यवसाय विशेष नहीं किया। शास्त्र के केवल उन्हीं विषयों से इनका सम्बन्ध विशेष रूप से रह गया जो कि राज–दरबार में नित्य काम में आते थे। आपने धार्मिक तथा धर्मशास्त्र के निबन्ध एवं नीति के ग्रन्थों का ही निर्माण किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने अवहट्ठ में काव्य लिखे और राज दरबार में साधारण बुद्धि वाले पुरुष तथा स्त्रियों की रूचि के अनुसार अपनी मातृभाषा मैथिली में भी कविता बनाने लगे।'' इससे स्पष्ट होता है कि विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली में रचनाएं की। इन सभी रचनाओं के अध्ययन से उनके पूर्ण पांडित्य का परिचय मिलता है।

6.3 विद्यापति : भक्त अथवा श्रृंगारी कवि

अवहट्ठ में रचित कीर्तिलता और कीर्तिपताका में विद्यापति ने क्रमशः महाराज कीर्ति सिंह और महाराज शिव सिंह का यशोगान किया है। विद्यापति ने संस्कृत भाषा में भू परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्व सार, गंगा वाक्यावली, विभागसार, दान वाक्यावली, दुर्गा भक्ति तरंगिणी, गयापत्तलक तथा वर्षकृत्य ग्रन्थों की रचना की है। ये सभी ग्रन्थ उन्होंने अपने अलग–अलग समयों के आश्रयदाताओं – शिवसिंह, पुरादित्य, विश्वास देवी, नर सिंह, धीरमति की संरक्षता में लिखे हैं। इन रचनाओं में से पुरुष परीक्षा नवीन बुद्धि वाले बालकों को नीति का परिचय कराने वाला ग्रन्थ है। लिखनावली पत्र–व्यवहार की शिक्षा देने वाली रचना है। शैव सर्वस्व सार में शिव पूजन पर सविस्तार से चर्चा की गई है। गंगा वाक्यावली में गंगा की पूजा का वर्णन है जबकि विभाग सार में दायादों में धन का विभाजन किस प्रकार किया जाए इसका संकेत दिया गया है। दान वाक्यावली में दान के प्रकारों का उल्लेख है। दुर्गा भक्ति तरंगिणी में नवरात्र पूजन विधान का सविस्तार वर्णन कवि ने किया है। इनके अतिरिक्त विद्यापति काव्य मनीषियों ने गयापत्तलक, वर्षा कृत्य, द्वैतनिर्णय, तन्त्रार्णव व गंगाभक्त्युदय ग्रन्थों का संकेत देते हुए गोरक्ष–विजय नामक एक नाटक का उल्लेख भी आपकी रचनाओं के रूप में किया है। इन सभी रचनाओं के होते हुए भी विद्यापति की महत्ता व प्रसिद्धि का आधार उनकी मैथिली में रचित 'पदावली' है। डॉ. होसिला प्रसाद सिंह के अनुसार तो ''पदावली की प्रसिद्धि के कारण ही इन्हें 'मैथिल कोकिल' संज्ञा से अभिहित किया गया है।'' इस सन्दर्भ में डॉ. उमेश मिश्र जी का कहना है कि ''यह कोई एक ग्रन्थ के रूप में नहीं है। विद्यापति ने बाल्यावस्था से लेकर मरण पर्यान्त जितनी कविताओं की रचना की, उन सबों के संग्रह का यह नाम है।'' इस सन्दर्भ में डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा का कहना है ''विद्यापति की कीर्ति का प्रमुख आधार उनकी पदावली है, जिसमें उन्होंने अपने समव्यस्क मित्र और आश्रयदाता शिवसिंह और उनकी पटरानी लखिमादेवी को समर्पित सरस और संगीतात्मक गीतों की सृष्टि की है, जिनमें राधा–कृष्ण के प्रेम, मिलन, विरह रूपासक्ति, समर्पण, मान आदि प्रेम प्रसंगों का प्रभावशाली निरूपण हुआ है।''

विद्यापति–पदावली एक मुक्तक रचना है। इसके पदों का संकलन एक लम्बे समय तक मौखिक लोक मानस में प्रचलित रहा। जब उन्हें लिखित रूप में संकलित किया गया तो संकलनकर्ताओं की निजी रूचि भी प्रभावी रही।

प्राप्त रूपों में नेपाल, मिथिला तथा बंगाल में संकलित विभिन्न पांडुलिपियों के आधार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। नेपाल से प्राप्त पांडुलिपि में 387 पद संकलित हैं। मिथिला की राजतरंगिणी में लोचन कवि ने 51 पद संकलित किए हैं। इसी क्षेत्र में उपलब्ध राम भद्रपुर में 96 पद मिलते हैं प्राप्त जानकारी के अनुसार तरोणी की तालपत्र पोथी में 350 पदों की सूचना मिलती है। बंगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। वहां 1705 ई. में क्षणदा गीत चिंतामणि में विद्यापति के पद संकलित हैं। यहीं पर 'पद कल्पतरू' संग्रह में भी विद्यापति के 161 पद संकलित मिलते हैं। इन्हीं विविध संकलनों में संगृहित विद्यापति के पदों को एक साथ संकलित करने का प्रयास सर्वप्रथम शारदा चरण मित्र ने किया। जार्ज ग्रिर्यसन ने सन् 1881 ई. में मौखिक परम्परा के गायकों से सुनकर 82 पद एकत्र किए। इस दिशा में सर्व श्री विद्या भूषण, नगेन्द्रनाथ गुप्त, खगेन्द्र नाथ मित्र, जयकान्त मिश्र, रामवृक्ष बेनी पुरी, सुभद्र झा, चन्दा झा, तथा शुभकार कपूर प्रभृति विद्वानों ने बहुत प्रयास कर विद्यापति के पदों को सुरक्षित भावक–समाज तक पहुंचाने का प्रयास किया है। डॉ. श्री उमेश मिश्र की मान्यता है : ''पदों की शुद्धता के लिए हमें मिथिला की स्त्रियों ही के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि विद्यापति के पदों की यथार्थ रक्षा करने वाली वे ही हैं। वे ही परम्परा से इन पदों को श्रुति के समान सुनती आई हैं और फिर कनिष्ठ वर्गों को सुनाती जाती हैं।''

विषय की दृष्टि से विद्यापति के पद कई श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। अधिकांश पद राधा और कृष्ण के प्रेम के विभिन्न प्रसंगों का उद्घाटन करते हैं उन्हें श्रृंगारिक कोटि मे रखा जाता है। कुछ पद शुद्ध प्रकृति सम्बन्धी हैं, इनमें प्रकृति ही आलम्बन रूप में वर्ण्य है। कुछ पद भक्ति रसात्मक हैं, जिनमें विभिन्न देवताओं की विशेष कर शिव और उमा की स्तुति की गई है। इनके सम्बन्ध में श्री शिव प्रसाद सिंह जी का कहना है कि उमा शिव स्तुति परक पदों में ''शिव में ईश्वरत्व बुद्धि और तज्जन्य श्रद्धा का समावेश है।'' भक्ति परक पदों में शंकर, दुर्गा, गौरी, गंगा तथा कृष्ण के स्तुति परक गीतों का समावेश होता है। विद्यापति पदावली में संकलित पदों में कुछ कूट, पहेलियों के साथ–साथ महाराज शिव सिंह के राज्यारोहण तथा युद्ध वर्णन से सम्बन्धित पद भी संकलित हैं।

विद्यापति एक भावुक काव्य रसिक कवि रहे इस रूप में परिस्थिति का परिवेश विशेष के अन्तर्गत भावोर्मियों की विविधता उनके पदों में मिलती है। इस दृष्टि से उनकी पदावली में संकलित पदों का भाव वैविध्य एक प्रश्न उठाता है कि उन्हें किस भाव–प्रधान का कवि माना जाए। विद्यापति के सम्पूर्ण रूप को उनकी परिवेश गत मान्यताओं को न देखते हुए विद्वानों में एक बहस शुरू हुई कि विद्यापति को भक्त कहा जाए या उनके विविध पक्षीय श्रृंगार चित्रण के कारण श्रृंगारी ? उस पर यह प्रश्न उठाते समय यह भी देखना होगा कि उनकी इस मुक्तावली को पिरोते समय संकलनकार ने किस प्रकार के पदों का संकलन 'विद्यापति पदावली' के नाम से किया है। विभिन्न संस्करणों में संग्रहित पदों को यदि सामान्य रूप से देखा जाए तो उनके स्तुतिपरक भावों को छोड़कर अधिकांश लगभग 90 प्रतिशत पद श्रृंगारी हैं। इन श्रृंगार रस प्रधान पदों में भी कुछ पदों का सम्बन्ध राधा–कृष्ण के मिलन, प्रेम, विरह आदि से सम्बन्धित है और कुछ पद सामान्य नायक–नायिका के श्रृंगार वर्णन से सम्बन्धित हैं। राधा–कृष्ण के आधार पर रचित पदों में विद्वानों ने रहस्यवाद की प्रधानता को देखते हुए उन्हें रहस्यवादी कवि के रूप में परखा, कुछ उन्हें कृष्ण भक्त मानते हैं जबकि कुछ विद्वान उन्हें पूर्णतया श्रृंगारी कवि सिद्ध करने पर तुले हुए हैं।

डॉ. ग्रियर्सन ने विद्यापति को रहस्यवादी कवि स्वीकार करते हुए राधा को जीवात्मा, कृष्ण को परमात्मा और दूती को गुरु के रूप में मान्यता दी है। उनके मतानुसार जीवात्मा (राधा) परमात्मा (कृष्ण) से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती है। परन्तु जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के मान–पाश में आबद्ध होने के कारण आन्तरिक प्रेरणा को

जागृत नहीं कर पाती। जब उसके प्रयत्नों में मान और छलना के कारण बाधा आ जाती है तब गुरु (दूती) जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम–मिलन में सहायक के रूप में मार्ग दिखाता है।

डॉ. ग्रियर्सन के मत का समर्थन श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त, श्री जनार्दन मिश्र एवं श्री कुमार स्वामी ने किया है। श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने निम्न उदाहरण –

रयनि काजर बम, भीम भुजंगम कुलिस पड़ए दुरवार।
गरज–तरज मन, रोस बरिस घन ससंअ पड़ अभिसार।
सजनी, बचन छड़इत मोहिलाज।
होएत, से होओ, बरू सब हम अंगिकरु साहस मन देल आज।

– में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया है। यहां लौकिक दृष्टि से तो अभिसारिका नायिका के मार्ग में आने वाली विपत्तियों का वर्णन कर उसे पथ से विचलित करने का प्रयास किया गया है पर –

ठामहि रहिअ घुमि परस चिह्निअ भूमि दिग मग उपजु सन्देह।
हरि हरि सिब सिब ताबे जा इह जिब जाबे न उपजु सिनेह।

कहकर प्रेम मार्ग की दृढ़ता का संकेत भी दिया गया है।

डॉ. जनार्दन मिश्र की मान्यता है कि विद्यापति के समय में रहस्यवाद का प्रभाव जनमानस पर बहुत गहरा था इस कारण उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें शायद अभीष्ट नहीं था,'' और ''इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें इन्होंने अपने को बहा दिया।'' अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कृष्ण मान प्रसंग के निम्न पद को उद्धृत किया है, जिससे आत्मा सांसारिक पदार्थों का त्याग करके अपने प्रियतम (परमात्मा) को खोजने का निश्चय करती है :

एत दिन छलि नब रीति रे। जल–मिन जेहनि परीति रे।
एकहि बचने बिच भेल रे। हँसि पहु उतरो न देल रे।
एकहि पलंग पर कान रे। मोर लेख दूर देस भान रे।
जाहि वन के ओ नहि डोल रे। ताहि बिन पिया हँसि बोल रे।
धरब जोगिनिआ क भेस रे। करब मएँ पहुक उदेस रे।
कवि विद्यापति भान रे। सुपुरुष न कर निदान रे।

इस पद पर विचार करते हुए मिश्र जी ने विद्यापति को निर्गुण भक्ति धारा और सूफी मत से प्रभावित माना है।

श्री कुमार स्वामी ने विद्यापति के विषय में कहा है ''विद्यापति का काव्य गुलाब है, गुलाब, चारों तरफ़ से केवल गुलाब। यह आनंद निकुंज है। यहां हमें उस स्वर्ग का दर्शन होता है – वृन्दावन की कृष्ण–लीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय देश है। यमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव

और ईश्वर की लीला भूमि है। वंशी की धुन अदृश्य सत्ता की नाद है जो जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।''

विद्यापति की कविता को आध्यात्मिक रूप से देखने वाले कुछ विद्वान इन्हें रहस्यवादी न मानकर सगुणोपासक कृष्ण भक्त मानते हैं। इस वर्ग में बाबू श्याम सुंदर दास तथा प्रोफेसर बिपिन बिहारी मजूमदार का नाम आता है। इस वर्ग के विद्वानों का मत है कि पदावली में चित्रित राधा–कृष्ण के विभिन्न शृंगारी पदों में माधुर्य भाव की भक्ति प्रस्फुटित हुई है। कृष्ण भक्ति परम्परा में विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य के सम्प्रदायों में राधा–कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को भक्ति के माध्यम के रूप में माना जाता है। श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में भक्ति का माधुर्य भाव ही प्रमुख था। इसी भक्तिभावना का प्रभाव विद्यापति पर बाबू श्याम सुंदर दास ने स्वीकार किया है। डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा भी इस सन्दर्भ में कहते हैं ''पदावली पर भागवत पुराण में वर्णित प्रेम लीलाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी भक्ति प्रेमा–भक्ति है। जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक अथवा आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजना होती है।'' विद्यापति पदावली के पदों का चैतन्य महाप्रभु का भक्ति–विभोर होकर गान भी इसी कारण है। 'ब्रजबुलि' के कृष्ण भक्ति काव्य में विद्यापति पदावली का प्रभाव परिलक्षित होता है। विद्यापति के पदों का प्रसार बंग, कामरूप तथा उत्कल तक के क्षेत्र में भक्ति–पदों के रूप में ही जन मानस में फैला हुआ है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी भी बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा के विभिन्न क्षेत्रों के वैष्णव भक्तों में भक्ति का प्रचार पदावली के पदों द्वारा मानते हैं– उनका कहना है कि ''यह उन प्रदेशों के भक्ति–साहित्य में नयी प्रेरणा और नई प्राणधारा संचारित करने में समर्थ हुई। इसलिए पूर्वी प्रदेशों में सर्वत्र यह पुस्तक धर्म–ग्रन्थ की महिमा पा सकी है।''

तीसरे वर्ग के विद्वान विद्यापति को शृंगारी कवि के रूप में ही मान्यता देते हैं। इनमें महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, विनय कुमार सरकार, सुभद्र झा, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, डॉ. राम कुमार वर्मा, डॉ. बाबू राम सक्सेना, डॉ. गोबिन्दराय शर्मा आदि के नाम आते हैं। शास्त्री जी की मान्यता में विद्यापति की संस्कृत तथा अवहट्ठ भाषा की रचनाओं में तो शिव, गंगा, दुर्गा का उल्लेख आया है पर मैथिली में राधा–कृष्ण ही पाये जाते हैं। उनका कहना है कि ''विद्यापति जब पंडित होकर लिखते हैं तो राधा कृष्ण का नाम नहीं लेते, किन्तु जब शृंगार रस की कविता करते हैं तो राधा कृष्ण ही अधिकतर पाये जाते हैं।'' इसका कारण शास्त्री जी के अनुसार यही है कि राधा कृष्ण को विद्यापति ने सामान्य नायक–नायिका के रूप में ग्रहण किया है। साथ ही पदावली के पदों की रचना आश्रयदाताओं की शृंगारी प्रकृति के अनुरूप की है। सुभद्र झा भी यह मानते हैं कि ''विद्यापति के प्रेम गीतों में प्रतीकात्मक रहस्य ढूंढने की कोशिश सर्वथा अनावश्यक है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो स्पष्ट रूप में कहा है कि ''आध्यात्मिक रंग के चश्में आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ा कर कुछ लोगों ने गीत गोबिन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी । बाल लीलाओं का कीर्तन कृष्ण भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएं वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती हैं। जहां वृन्दावन, यमुना,

निकुंज, कदम्ब, सखा, गोपियां इत्यादि सब नित्य रूप में है, इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।''

डॉ. राम कुमार वर्मा ने भी विद्यापति को श्रृंगारी कवि के रूप में ही मान्यता दी है। उनके अनुसार ''कवि अपनी पदावली में जयदेव की श्रृंगारिक भावना से अधिक प्रभावित है। अपने मत के समर्थन में आपने श्री कुमार स्वामी के 'रहस्यवादी' मत का विरोध करते हुए श्री विनय कुमार सरकार के अभिमत को अधिमानता दी है : 'विनय कुमार सरकार ने कुमार स्वामी के इस मत के विरुद्ध ही अपनी सम्मत्ति प्रकट की हैं। विद्यापति के पदों को देखते हुए विनय कुमार सरकार का मत ही समीचीन ज्ञात होता है, क्योंकि विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है।''

इसी परम्परा में श्री शिवनन्दन ठाकुर ने भी विद्यापति को श्रृंगारी कवि के रूप में ही मान्यता दी है। विनय कुमार सरकार ने –''ऐन्द्रियभावना या मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्वर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।'' – कहकर उन्हें पूर्ण श्रृंगारी कवि घोषित किया। डॉ. बाबू राम सक्सेना का अभिमत भी – ''विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि वह बड़े श्रृंगारी कवि थे। इन पदों को राधा कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद–पदार्थ के प्रति अन्याय है।'' – इसी बात का साक्षी है कि विद्यापति एक श्रृंगारी कवि थे।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति विद्वानों की चिन्तन मंडली के बीच भक्ति और श्रृंगारी इन दोनों भाव रसों के मध्य में स्थित हैं। उनके प्रति एक पक्षीय रूप में स्थापना के लिए उनके परिवेश व दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। यह तो निश्चित है कि विद्यापति एक दरबारी संस्कृति के कवि रहे। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि उन्होंने विभिन्न राज्याश्रयों में कविता की। डॉ. शिव प्रसाद जी का कहना है : ''उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत प्रशस्ति काव्य लिखकर निभाया; तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया, किन्तु हृदय का तकाज़ा जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिलवयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों से पाठक उनकी जीवन्त प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोकगीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गए ये गीत तत्कालीन जन–मानस के अकृत्रिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सकता है ?

विद्यापति पदावली के पद मिथिला क्षेत्र में मन्दिरों में नहीं अपितु लोक–जीवन में विवाह संस्कार की विभिन्न रीतियों के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। मिथिला क्षेत्र की स्त्रियां नव–वधू को शिक्षा के रूप में इन पदों द्वारा सम्बोधित करती हैं। साथ ही कवि की मूल प्रेरणा जयदेव कृत गीत गोविन्द है। जयदेव के अतिरिक्त विद्यापति हाल की गाथा सप्तशती व गोवर्धनाचार्य की रचनाओं से भी प्रभावित रहे। पदावली में कई ऐसे पद हैं जो आर्या सप्तशती, अमरूकशतक व श्रृंगार तिलक से प्रभावित हैं। गाथा सप्तशती में तो कृष्ण और राधा का वर्णन सामान्य नायक और नायिका के रूप में ही हुआ हैं। इनसे प्रभावित विद्यापति निश्चित रूप से राधा कृष्ण को भक्त की दृष्टि से नहीं वरन् विशुद्ध श्रृंगारी दृष्टि से ही देखते होंगे।

पदावली के अतिरिक्त विद्यापति की अन्य रचनाओं में भी उनके शृंगार सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। 'पुरुष परीक्षा' में उन्होंने धर्म–शृंगार का पोषण किया है :

"भूयादनश्वरं प्रेम यूनोर्जन्मनि जन्मनि।
धर्म शृंगार संपृक्त सीताराघवयोरिव ।।"

धर्म मंडित शृंगार की प्रशंसा वे कीर्तिपताका में भी करते हैं :

विद्या बसओ विवेक सयँ खेमा सत्तुएओ संग।
धम्म सहित सिंगार रस कव्वकला बहु रंग।।

विद्यापति ने शृंगार को रीतिकाल के आचार्य कवियों से पूर्वतः ही प्राचीन परम्परा का अनुपालन करते हुए सर्व रस सार के रूप में मान्यता दे दी थी। कीर्तिपताका में इसका संकेत मिलता है :

कविमहं नव जयदेव कवि रस महं रस सिंगार।
त्रिपुर सिंह सुत राजमहं तीनहु त्रिभुवन सार।।

उनके अनुसार इस रस का माधुर्य सर्वत्र विद्यमान है। इस कारण उन्होंने अपनी पदावली में लोक प्रकृति के अनुरूप धर्म और शृंगार को अभिन्न मानते हुए पद रचना की। हरि स्मरण में मन की सरसता को तो जयदेव ने गीत गोविन्द में भी स्वीकार किया है :

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर–कोमल कान्त पदावली शृनु तदा जयदेव सरस्वतीम्।।

इतिहास साक्षी है कि कृष्ण पूजा से पूर्व ही परम्परा से काम पूजा का विधान भी रहा है। इस दृष्टि से कृष्णोपासना में साधक–शक्ति के रूप में काम–साधना को मान्यता दी गई है। इस दृष्टि से तो विद्यापति माधुर्यभाव भक्ति के साधक के रूप में दृष्टिगत होते हैं पर पदावली के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी इस बात के संकेत मिलते हैं जिनसे विद्यापति के साहित्य शास्त्रज्ञ रूप का परिचय मिलता है। 'पुरुष परीक्षा' में आपके काव्य शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। कीर्तिपताका में भी उनकी शृंगारी मनोवृत्ति का आभास मिलता है। इन्हीं कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पदावली में विद्यापति ने राधा कृष्ण की कथा को भक्त नहीं वरन् रसिक की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। संयोग शृंगार वर्णन में विद्यापति ने कई स्थलों पर तो औचित्य की सीमा का उल्लंघन भी कर दिया है। ऐसे पदों में विद्यापति शृंगारी कवि के रूप में उभरते हैं। इसके साथ ही वन्दना तथा स्तुति परक पदों में विद्यापति की भक्ति भावना स्पष्टतया व्यक्त होती है। देवी वन्दना में विद्यापति एक विनम्र सेवक के रूप में देवी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं :

जय–जय–भैरवि, असुर–भयाउनि, पशुपति–भामिनी माया।
सहज सुमित वर दिअओ गोसाउनि, अनुगति गति तुझ पाया।।
x x x x x x
घन घन घनए घुघुर–कन बाजए, हन–हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद–सेवक, पुत्र बिसरू जनि माता ।।

इसी प्रकार प्रार्थना एवं नचारी के प्रसंग में जहां कवि वन्दना करता है वहां उनके भक्त रूप के दर्शन होते हैं पर पदावली के वर्ण्य–विषय की दृष्टि से उनके श्रृंगार रस की प्रबलता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। विद्यापति पदावली में राधा कृष्ण के साथ ही शिव–गौरी के सम्बन्ध में भी भक्ति परक पद मिलते हैं। राधा–कृष्ण वर्णन में जहां श्रृंगार पक्ष प्रबल है वहीं शिव–गौरी सम्बन्ध में भक्ति भाव गहरा है। यह शिव भक्ति उनके मिथिला के परिवेश से प्राप्त आस्था है। उनके परिवार में भी शिव–भक्ति का प्रभाव अधिक गहरा था। जीवन के अन्तिम पड़ाव में पहुंचकर जब उन्होंने अपने अतीत में झांका तो व्यथित हो कह उठे :

जाबत जनम नहिं तुअ पद सेविनु, जुबती मतिमयँ मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल, संपद अपदहि मेलि।

6.4 सारांश :– निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकानुरंजन पक्ष को प्रधान रखते हुए उन्होंने जो पद–रचना की उससे उन्हें युवावस्था में तुष्टि तो मिली पर रसिक जनों को मुग्ध करते–करते भक्त हृदय को तृप्त न कर सके। भक्ति में माधुर्य की मधुरता कुछ अधिक ही घुल गई इस कारण उन्होंने जिस प्रकार राधा–कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं का वर्णन किया उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी पदावली में भक्त हृदय के स्पन्दन के स्थान पर श्रृंगारी मादकता का स्वर अधिक मुखरित हुआ है। अन्त में डॉ. शुभकार कपूर के शब्दों में कहा जा सकता है कि ''विद्यापति मूलतः श्रृंगारी कवि थे'' पर उनका श्रृंगार वर्णन कान्ता भाव से परिपूर्ण 'माधुर्य भावना' के अन्तर्गत लोक श्रुति के कारण स्थान पाने का अधिकारी है।

6.5 कठिन शब्द

1.	अभिहित	2.	वैविध्य
3.	निष्कंटक	4.	निकुंज
5.	परिलक्षित	6.	अधिमानता

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 विद्यापति भक्त कवि हैं अथवा श्रृंगारी कवि स्पष्ट करें।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 विद्यापति पदावली में संकलित पदों पर प्रकाश डालें।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ पुस्तकें

1. विद्यापति – डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित
2. विद्यापति – मनमोहन सहगल
3. विद्यापति – युग साहित्य – अरविंद नारायण सिन्हा


~~~
~~~

विद्यापति का विरह वर्णन

7.0 रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 विद्यापति का विरह वर्णन

7.4 विद्यापति के पदों की नायिका

7.5 सारांश

7.6 कठिन शब्द

7.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

7.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– विद्यापति के विरह वर्णन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– राधा कृष्ण के प्रेम को अभिव्यंजित करने वाले पदों से अवगत होंगे।

– विद्यापति के पदों में अभिव्यक्त भावों के वैविध्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– विद्यापति के पदों की नायिका से अवगत हो सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

मैथिल कोकिल कवि विद्यापति की काव्यधारा उस त्रिवेणी के संगम की भांति है जिसमें शृंगार भावना रूपी यमुना के साथ भक्ति–भावना रूपी गंगा का मिलन उनकी आध्यात्मिक चेतना रूपी सरस्वती के बिन्दु पर होता है। भावना ही नही वरन् भाषा की दृष्टि से भी संस्कृत, अवहट्ठ तथा तद्युगीन लोकभाषा मैथिली का सानुपातिक सम्मिलन इनके मधुर

काव्य में मिलता है। संस्कृत में भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा शैवसर्वस्व सार, गंगावाक्यावली, दुर्गा भक्ति तरंगिणी आदि ग्यारह रचनाओं के साथ अवहट्ठ में कीर्तिलता व कीर्तिपताका के रचनाकार मधुर कवि विद्यापति की लोकप्रियता का आधार एवं ख्याति का मुख्य आधार लोकभाषा मैथिली में रचित उनके गीतिकाव्य में संकलित पदावली ही है। डॉ. चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार तो यह पदावली ''विद्यापति की कविता मधुर रस की कविता है, वह माधुर्य की वाणी है और यौवन की रंगस्थली है।''

7.3 विद्यापति का विरह वर्णनः विद्यापति की पदावली सुललित पदविन्यास योजना, भाषा–सौष्ठव व सुकुमार भावभिव्यंजना की दृष्टि से हृदयग्राही रसात्मकता से युक्त है। इस पदावली में संकलित पद अपनी रागात्मकता और मार्मिकता की दृष्टि से लोक–जीवन के बहुत करीब के हैं। सहजता और स्वाभाविकता के कारण ब्रजभाषा से प्रभावित इन मैथिली गीतों का प्रभाव लोक मन पर बहुत गहरा है। डॉ. उमेशमिश्र के अनुसार ''इन लोगों ने इन कविताओं को जितना अपनाया उतना और किसी को नहीं। वे कोमल–कांत कविताएँ मैथिल बनिताओं के कोमल हृदय के अनुकूल होने के कारण और राग–रागिनिओं से सम्पन्न होने के कारण सभी को सर्वथा रूचिकर थीं।''

विषय की दृष्टि से विद्यापति की पदावली में संकलित पद/गीत कई श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। अधिकांश पद राधा–कृष्ण के प्रेम के विभिन्न पक्षों को लेकर हैं। कुछ पद शुद्ध प्रकृति सम्बन्धी हैं, इनमें प्रकृति, आलम्बन रूप में प्रस्तुत की गई है। कुछ पद देवताओं–विशेषकर शिव और उमा की स्तुति में लिखे गए हैं। पदावली में संकलित सभी पदों में से विद्यापति की प्रसिद्धि का कारण राधा–कृष्ण के प्रेम–भाव को अभिव्यंजित करने वाले पद हैं। इन पदों में ''राधा–कृष्ण के प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, भाव और महाभाव की क्रमिक अवस्थाओं का चित्रण किया गया है।'' शिव प्रसाद सिंह जी की मान्यता है कि ''विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता है, इन रूढ़ियों का निर्वाह करते हुए भी उनके भीतर से राधा और कृष्ण के प्रेम का ऐसा चित्रण करना जो अपनी तमाम परिस्थितियों सुख–दुःख की भावनाओं, उल्लासपूर्ण मिलन और अश्रु सिक्त विरह की अवस्थाओं में पलकर एक जीवन्त वस्तु प्रतीत हो।'' इस रूप में मानवीय भावनाओं को अपने काव्य में प्रस्तुत करने में निश्चित रूप में माधुर्य के कवि विद्यापति को सफलता मिली है।

विद्यापति के पदों में भावों का वैविध्य रसराज श्रृंगार के विभिन्न पक्षीय चित्रण में विशेष रूप से दिखाई देता है। शास्त्रीय दृष्टि से श्रृंगार रस अपनी कमनीयता के कारण प्रधान रस माना जाता है :

''नव रस सब संसार में नव रस में संसार।
नव रस सार सिंगार रस युगल सार सिंगार।।

श्रृंगार रस मानवीय चेतना का एक ऐसा बहुआयामी पक्ष है जिनकी व्यापकता को किसी एक क्षेत्र में सीमा बद्ध नहीं किया जा सकता। परम्परा से इसे आचार्यों ने महत्वपूर्ण उत्तम प्रकृति का स्वीकार किया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य देव ने तो :

''नव रसानि मुख्य सिंगार जहँ उपजत बिनसत सकल रस''

कहकर स्पष्ट संकेत दिया कि शृंगार ही सकल रसों का मूल है। शृंगार रस का मूल भाव 'रति' है। आचार्य भोजराज के अनुसार :

"मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुख संवेदन रतिः"

अर्थात् मन के अनुकूल विषयों में सुख का अनुभव करना ही रति है। इससे स्पष्ट होता है कि जब सामाजिक को मनोनुकूल भावों की प्राप्ति होती है तो उसमें उसका चित्त संयुक्त होता है तो संयोग और इससे विपरीत स्थिति में वियोग की स्थिति होती है। मानव जीवन में परस्पर मिलन ही सुख व बिछुड़न दुःख है। इसी दृष्टि से काव्य में वर्णित नायक–नायिका के मिलन को संयोग व किन्हीं कारणों से बिछुड़न को वियोग माना जाता है । इसी दृष्टि से शृंगार रस के दो भेद आचार्यों को मान्य हैं संयोग तथा वियोग। वियोग को ही 'विप्रलम्भ' कहा जाता है, इसमें अभिलाषा, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, देशकाल, आश्रय एवं अवस्था को आधार माना गया है। आचार्य विश्वनाथ ने नायक–नायिका के परस्पर वियोग को पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुणात्मक के रूप में चार भागों में विभाजित किया है। इनमें पूर्वराग के चित्रदर्शन, गुणश्रवण, स्वप्नदर्शन व प्रत्यक्ष दर्शन से होता है। मान ईर्ष्या तथा प्रणय दो रूपों में होता है। ईर्ष्या मान के तीन रूप – लघु, मध्य तथा गुरु – माने जाते हैं। प्रवास भी भावी, वर्तमान तथा भूत तीन रूपों में होता है। करुण विप्रलम्भ में नायक–नायिका के मिलन की आशा क्षीण हो जाती है।

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत वियोगियों के जीवन में क्रमशः घटित होने वाली – अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण–कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि तथा मरण – दस काम दशाओं का निरूपण भी आता है।

शृंगार रस में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक–नायिका का स्वरूप आता है। नायक जहां कथ्य का मुख्य आधार होता है वहीं नायिका, नायक की प्रिया या कथ्य की प्रधान पात्रा होती है। आचार्यों ने शोभा, कांति और दीप्ति से युक्त गुणवती युवती को नायिका माना है। शृंगार रस के अन्तर्गत विप्रलम्भ शृंगार में नायिका की मनोदशा का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत प्रोषितपतिका, प्रोषितप्रेयसी, प्रोषितप्रिया, प्रवत्स्यप्रेयसी नायिकाओं की गणना होती है। यह ऐसी नायिकाएं होती हैं जिसके प्रिय प्रवास की ओर जाने वाले या प्रवासी हों।

शृंगार रस के दोनों पक्षों का निरुपण साहित्यिक सौन्दर्यवर्द्धन का विशेष रूप प्रस्तुत करता है। हिन्दी साहित्य में भी प्रारम्भ से ही पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के अनुरूप शृंगार की सरसधारा प्रवाहित रही है। हिन्दी साहित्येतिहास के प्रारम्भिक चरण में रासो ग्रन्थों में शृंगार चित्रण उपलब्ध होते तो हैं पर इस का उन्मुक्त प्रवाह विद्यापति की पदावली में सबसे पहले प्रवाहित हुआ । डॉ. गोविन्द राय शर्मा की मान्यता है कि "पदावली में विद्यापति एक दम सिद्ध शृंगारी कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे प्रेम के सच्चे उपासक, सौन्दर्य के कुशल पारखी और पाठक के हृदय को आनन्दविभोर करने वाले माधुर्य के स्रष्टा सिद्ध हस्त कलाकार हैं।"

विद्यापति के पदों में भाव वैविध्य के होते हुए भी शृंगार को अधिक अधिमान दिया गया है। इस दृष्टि से उन्होंने शृंगार रस के दोनों पक्षों का सांगोपांग वर्णन एक रससिद्ध कवि के रूप में किया है। संयोग पक्ष में विद्यापति ने मानव जीवन के मधुर भावों की मन्दाकिनी की उर्मियों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि उसमें स्नान कर भावुक–मन आनन्द–विभोर हो जाता है। संयोग के साथ–साथ वियोग का भी वर्णन कम हृदयग्राही नहीं है। यही वियोग विरह कहलाता है।

एक विद्वान की मान्यता है कि "इस विरह में कितनी कसक, कितनी पीड़ा, कितनी वेदना एवं कितनी व्यथा होती है। इसका अनुभव या तो विरही जन ही करते हैं या फिर कवि ही कर सकते हैं क्योंकि कवि अपनी कल्पना एवं अनुभूति के सहारे अगम्य लोक में भी विचरण कर सकता है। वस्तुतः विरह साधना प्रेम की कसौटी है। इसी कारण इसमें प्रेम की वास्तविकता की पहचान हो जाती है। किसी ने सत्य ही तो कहा है :

"मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।।"

7.4 विद्यापति के पदों की नायिका – राधा विरह वर्णन में एक आदर्श रूप में प्रस्तुत हुई है। कवि ने उसके प्रिय के प्रवास को लेकर जो मार्मिक वर्णन किया है उसमें हास विलासमयी संयोगावस्था की क्रीड़ाओं के मध्य अचानक ही प्रिय के जाने का समाचार नायिका को व्याकुल कर देता है। स्वयं स्पष्ट रूप में कुछ न कह सकने की स्थिति में वह अपनी मानसिक व्याकुलता सखी के माध्यम से प्रियतम तक पहुंचाने का प्रयास करती है :

सखि हे, बालम जितब विदेस।
हम कुल–कामिनि, कहइत अनुचित, तोहहुं दे हुनि उपदेस।
ई न विदेस क बेलि।
दुरजन हमर दुख न अनुमापब, तें तोहे पिया–लग मेलि।।

यहां एक प्रवत्स्यत्यपतिका नायिका के रूप में राधा अपनी सखी से कृष्ण को रोकने का प्रयास करने की प्रार्थना करती है। यहां वह यह भी स्पष्ट करती है कि प्रिय के अभाव में वह जीवित नहीं रह सकेगी :

होए ताह किए बध–भागी।
जेहिखन दुन्हि मने माधव चितब हमहु मरब धसि आगी।।

पर जब सखी के प्रयास कृष्ण को मथुरा जाने से रोकने में सफल नहीं होते तो वह स्वयं संकोच छोड़कर अपने प्रियतम से मथुरा गमन न करने का अनुरोध करती है :

'माधव, तोहे जनु जाह विदेस।
हमरो रंग रभस लए जए बह लए बह कओन संदेस।
बनहि गमन करु होएति दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहिं माँगब फेरि माँगब पहु तोरा।
जखन गमन करु नयन नीर भरु देखिओ न भेल पहु ओरा।
एकहि नगर बसि पहु भेल परबस कइमे पुरत मन मोरा।।"

यहां राधा की हृदयगत प्रेम–प्रगाढ़ता व्यक्त होती है। पर भरसक प्रयत्न करने पर भी जब राधा अपने प्रियतम कृष्ण को रोकने में असमर्थ रह जाती है तो ऐसी स्थिति में कवि ने एक प्रोषितपतिका के रूप में उसकी मानसिकता को अपने पदों में साकार किया है :

"सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जौबन बिनु तन, तन बिनु जौबन, की जौबन पिय दूरे।"

और तब चारों ओर से निराश हो कह उठती है :

सखि हे मोर बड़ दैव बिरोधी।
मदन बेदन बड़ पिया मोर, बोल छड़ अबहु देह परबोधी।

प्रिय गमन के पश्चात् राधा के हृदय में वेदना के असह्य वर्णन में कवि ने जिस प्रकार उसकी विवशता का मार्मिक चित्रण किया है उससे विरहविधुरा राधा के हृदय में ग्लानि, स्मृति, निर्वेद आदि संचारी भावों की मार्मिक व्यंजना हुई है। प्रिय वियोग की दशा में विभिन्न संचारियों के माध्यम से विद्यापति ने नायिका के हृदय की स्थितियों का बड़ा ही हृदयस्पर्शी चित्रण किया है :

"सखि मोर पिया। अबहु न आएल कुलिस हिया।
नखर खेअ ओयहुँ दिन लिखि–लिखि। नयन अंधा ओयहुँ पिय–पथ देखि।
जब हम परिहरि गेला। किए दोस किए गुन बुझिओ न मेला।
अब हम तरूनि बुझव रस–भास। हेन जन नहि जे कहत पिया पास।"

विरह वर्णन में विद्यापति ने अनुभावों और संचारी भावों के विधान में विशेष सफलता प्राप्त की है। आपके विरह वर्णन में विप्रलम्भ–शृंगार का शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण रूपेण रस परिपाक हुआ है। विरहिणी नायिका की हृदयगत कातरता और शारीरिक कृशता का मार्मिक चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है :

"माधव सुन सुन बचन हमारा
तुअ गुन सुंदरि अतिभेलि दूबरि गुनि–गुनि पेम तोहारा।
धरनी धरि धनि कत बेरि बइसए पुन तहि उठए न पारा।
कातर दिठि करि चौदिस हेरि हेरि नयन ढारए जल–धारा।"

यहां अन्तिम पंक्ति में विरह विधुरा नायिका की सजीव शब्द–प्रतिमा को सहृदयों के सम्मुख साकार करने में कवि को पूरी सफलता मिली है। विरह अवस्था में नायिका की हृदयगत भाव तरंगों का चित्रण कवि ने बड़े मनोयोग से किया है। विद्यापति के विरह–वर्णन में निर्वेद, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, औत्सुक्य, उन्माद, वितर्क आदि मनोभावों की सशक्त व्यंजना मिलती है। नायिका के विरह कातर हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उसकी अन्तर्दशाओं का चित्रण पदावली में बड़े ही सटीक ढंग से हुआ है।

विद्यापति ने अपने विरह–वर्णन के अन्तर्गत शास्त्रोक्त काम दशाओं – अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, व्याधि, मूर्च्छा, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, उन्माद व मरण को भी मार्मिकता से इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिससे विरहिणी के अन्तर्भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। प्रिय से मिलने की उत्कट अभिलाषा :

"के पतिआ लए जाएत रे मोरा प्रियतम पास।
हिए नहि सहए असह दुख रे, भेल साओन मास।"

के रूप में प्रस्तुत की गई है। नायिका तो :

"मन करे तहां उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
प्रेम–परस मनि जानि आनि उर लाइअ रे।'

की अभिलाषा करती है। विद्यापति पदावली में नायिका–राधा ही नहीं वरन् नायक कृष्ण भी संयोगदशा की सुखद स्मृतियों का स्मरण करते हैं :

'तिल एक सयन ओत जिउ न सहए, न रहए दुहु तनु भीन।
मांझे पुलक गिरि अंतर मानिए, अइसन रह निसि दीन।

x x x x

अइसन नगर अइसन नव नागरि, अइसन सम्पद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मानिए, नयनन तेजिए नोर।"

प्रिय–मिलन की उत्कट अभिलाषा में परिस्थितिजन्य विवशता जब बाधा बन कर उपस्थित हो जाती है तो मानसिकता का उद्वेग व्याकुल कर देता है :

"सजनी के कह आओब मधाई।
विरह–पयोधि पार किए पाओब, मझु मन नहि पतिआई।
एखन–तखन करि दिबस गमाओल, दिबस–दिबस करि मासा।
मास–मास करि बरस गमाओल, छाड़लि जीवन–आसा।"

विरह की कामदशाओं में जड़ता स्मृति शून्यता की स्थिति होती है। प्रिय–वियोग में राधा की ऐसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

माधव, कत पर बोधवराधा।
हा हरि, हा हरि कहितहि बेरि–बेरि अब जिउ करब समाथा।

यहां विरहिणी राधा की दशा का वर्णन दूती द्वारा कृष्ण के सम्मुख किया गया है। इसी प्रकार विरहिणी की उन्माद दशा का वर्णन किया गया है :

अनुखन माधव माधव सुमरइते सुंदरि भोलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपनेहि गुन लुबुधाई।
माधव अपरूब तोहर सिनेह।
अपनेहि बिरह अपन तनु जरजर जिबइते भेल संदेह।।

आगे इसी पद में कवि ने राधा के प्रेम की चरम सीमा का उल्लेख करते हुए कहा है :

'भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा–आधा कहु बानि।

राधा समे जब पुनि तहि माधव माधव समें जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरहक बाधा।'

यहां विद्यापति ने प्रेम के उस उदात्त रूप का वर्णन किया है प्रेमिका प्रियमय हो कर अपनी पृथक् सत्ता को भूल जाती है।

विभिन्न कामदशाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने विरहिणी की प्रत्येक ऋतु में मानसिक दशा का वर्णन भी बारहमासा के रूप में किया है। यहां प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि संयोगावस्था में जो प्रकृति सुख देती थी वही विरह में राधा की व्यथा को और भी अधिक कसकपूर्ण बना देती है। भादों मास का परम्परागत वर्णन करते हुए विद्यापति ने विरहिणी राधा के विरह की मर्मान्तक प्रस्तुति की है :

सखि हे हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर।
भाँपि घन घरजंति संतत भुवन भरि बरसंतिया।
कंत पाहुन काम दारुन सघने खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात मुदित मयूर नाचत मतिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जाएत छतिया।
तिमिर दिग भरि घोर जामिनी अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब हरि बिना दिन रातिया।

विरह वर्णन में चतुर्मास्य – आषाढ़ में अश्विन या श्रावण से कार्तिक – का कवि ने परम्परागत रूप में निरूपण करते हुऐ आषाढ़ से आश्विन तक का वर्णन किया है :

"आब ए आसिन गगन भासिन घनन घन घन रोल।
सिंह भूपति भनई ऐसन चतुर मास कि बोल।"

चतुर्मास्य के साथ ही विद्यापति ने बारहमासा के अन्तर्गत विरह की उत्कट वेदना का काव्य–चित्र उकेरते हुए जो मार्मिक कल्पनाएं की है वो सहृदय सामाजिकों को भाव–विभोर बना देती हैं।

विद्यापति ने नायिका के 'प्रवास' विप्रलम्भ के अतिरिक्त पूर्वराग और मान का भी वर्णन किया है। प्रथम दर्शन या गुणश्रवण आदि में परस्पर अनुरक्त नायक–नायिका के मिलन की स्थिति से पूर्व की अवस्था पूर्वराग के रूप में जानी जाती है। विद्यापति की पदावली में पूर्वराग की सुन्दर व्यंजना भी हुई है। प्रेम प्रसंग के अन्तर्गत नायिका की मिलनातुरता दर्शनीय है :

सामर सुन्दर ए बाटे आएल तें मोरि लागलि आँखि।
आरति आँचर साजि न भेले सब साखीजन साखि।।
X X X X

कहहि मो सखी कहहि मो सखी कथा ताहेरि वासा।

दूरहु दूगुन एड़ि मएँ धाबओं पुनु दरसन आसा।

सुरपति–पाए लोचन माँगओं गरुड़ माँगओं पाँखि।

नन्दक नन्दन मए देखि आवसो मन मनोरथ राखि।

यहाँ नायक के प्रथम दर्शनोपरान्त नायिका की हृदयगत रति पूर्वराग के रूप में व्यक्त हुई है। इसी प्रकार विद्यापति ने नायक के प्रथम दर्शन के बाद विरह की अवस्था में नायिका के उन्माद, दैन्य का चित्रण भी पूर्वराग के अन्तर्गत किया है :

"कान्ह हेरब छल मन बड़ साध।

कान्ह हेरइत भेल एत परमाद।

तब धरि अबुधि मुगुधि हम नादि।

कि कहि कि सुनि किछु बूझिए न पारि।"

नायक–नायिका के पारस्परिक रूठने की विरह दशा 'मान' के अन्तर्गत आती है। इसके ईर्ष्यामान व प्रणयमान दो भेद मान्य हैं। हृदय में प्रेम के होते हुए अकारण नायक–नायिका का एक दूसरे से कोप प्रणय मान कहलाता है और नायक की अन्यत्र अनुरक्ति ईर्ष्यामान कहलाती है। विद्यापति पदावली में इस प्रकार के विरह मान का वर्णन भी 'मान' प्रसंग के अन्तर्गत किया गया है। कृष्ण किसी अन्य नायिका के साथ रमण करके जब राधा के पास आए तो उसके मान का रूप खंडिता नायिका के रूप में किया गया है :

"कुंकुमे लओलह नख–खत गोइ। अधरक काजर अएनह धोइ।

x x x x

बचन नुकाबह बेकतओ काज। तोहे हंसि हेरह मोहि बड़ लाज।

अपथहु सपथ बुझाबह राधे। कोन परि खेमओं सठ अपराधे।

मान प्रसंग में नायिका के मान के कारण नायक की विरह व्याकुलता का वर्णन भी विद्यापति ने किया है :

"विहर व्याकुल बकुल तरु तर पेखल नंद कुमार रे।

नील नीरज नयन सयँ सखि ढरइ नीर अपार रे।

पेखि मलयज–पंक मृगमद तामरस घन सार रे।

निज पानि–पल्लव मूँदि लोचन धरनि पडु असम्भार रे।"

विद्यापति पदावली में विरह प्रसंग के अन्तर्गत नायिका को विविध विरह दशाओं के साथ नायक–कृष्ण के विरह का वर्णन भी किया गया है :

रामा हे से किअ बिसरल जाई।

कर धरि माथुर अनुमति मँगइत ततहि परल मुरछाई।

किछु गदगद सरे लहु–लहु आखरे कान्ह कहल बर बामा।
कठिन कलेबर तहि चलि आओल चित्त रहल ओहि ढामा।

कृष्ण के विरह का वर्णन करते हुए सखी राधा को उनकी मानसिक स्थिति के बारे में कहती है :

"तिला एक सयन ओत जिबन सहए न रहए दुहु तनु भीन।
माँझे पुलक गिरि अंतर मानए अइसन रह निसि दीन।"

इस प्रकार विद्यापति की पदावली में विरह वर्णन के अन्तर्गत नायिका को ही नहीं वरन् स्वाभाविक रूप में नायक को भी विरही के रूप में दिखाया गया है।

7.5 सारांश विद्यापति के विरह वर्णन में विरह का एक उदात्त व परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया गया है। नायक–नायिका का प्रेम वर्णन मांसल होते हुए भी जिस प्रकार से प्रेम–मार्ग की बाधा और यातना नायिका राधा द्वारा सही गई है उससे उसका प्रेम विरह की आंच में तपकर निखरा हुआ प्रस्तुत हुआ है। कवि ने अपने इस वर्णन में अनुभूति पक्ष की गहराई को भाव प्रवणता एवं तन्मयता के साथ प्रस्तुत किया है। विद्यापति की भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविकता, सरलता एवं हृदयग्राहिता इस प्रसंग में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। समग्रतः विद्यापति के विरह वर्णन की विशिष्टता के विषय में डॉ. गोविन्द राय शर्मा कहते हैं कि "विरहाकुल हृदय की स्थितियों के मनोवैज्ञानिक चित्रण और प्रेम की तीव्रता की अभिव्यक्ति में विद्यापति को अद्‌भुत सफलता मिली है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति ने 'विरह' वर्णन में शृंगार रस के विप्रलम्भ पक्ष का स्वाभाविक चित्रण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

7.6 कठिन शब्द

1.	सानुपातिक	2.	गीतिकाव्य
3.	सौष्ठव	4.	प्रणय
5.	अगम्य	6.	तादात्मय
7.	उन्माद	8.	उद्वेग
9.	अनुरक्ति	10.	परिष्कृत

7.7 अभ्यासार्थ प्रश्नः–

प्र01 विद्यापति पदावली की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

प्र02 विद्यापति पदावली में भक्ति एवं श्रृंगार के द्वंद्व को स्पष्ट करे।

उ02

प्र03 विद्यापति की लोकप्रियता का आधार लोकभाषा मैथिली में रचित उनके गीतिकाव्य में संकलित पदावली है स्पष्ट करें।

उ03

प्र04 विद्यापति के विरह वर्णन पर प्रकाश डालें।

उ04 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. विद्यापति – डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित
2. विद्यापति – मनमोहन सहगल
3. विद्यापति – युग साहित्य – अरविंद नारायण सिन्हा


~~~
~~~

पदावली की काव्य भाषा

8.0 रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 विद्यापति की भाषा

8.4 विद्यापति की भाषा की मुख्य विशेषताएं

8.5 सारांश

8.6 कठिन शब्द

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

8.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

– विद्यापति की भाषा को जान सकेंगे।

– विद्यापति पदावली की काव्य भाषा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– विद्यापति की भाषा की मुख्य विशेषताओं से आवगत हो सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना :– विद्यापति भारतीय साहित्य की भक्ति परंपरा के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। विद्यापति संक्रमण काल के कवि हैं इसलिए उसकी छाया इनके काव्य में भी परिलक्षित होती है। उन्होंने साहित्यिक भाषा को जनभाषा के करीब लाने का सफल प्रयास किया।

8.3 विद्यापति की भाषा

विद्यापति ने अपनी रचनाओं में संस्कृत, अपभ्रंश–अवहट्ट और देशी भाषाओं का प्रयोग किया है। उनका मानना था कि संस्कृत अब विद्वानों की ही भाषा है–'सक्कय वाणी बहुअन भावइ'। अतः उसमें लिखे साहित्य का सामान्य जन विशेष लाभ नहीं उठा सकते। संस्कृत के वह धुरन्धर विद्वान थे। उनकी अधिकांश रचनाएं विभिन्न आश्रयदाताओं के अनुरोध पर संस्कृत में हैं। परन्तु उनकी दृष्टि में संस्कृत भाषा विद्वानों को अच्छी लगती है और प्राकृत भाषा में रस का मर्म नहीं होता। देसी वचन सबको मीठे लगते हैं, अतः वैसा ही अवहट्ठ में लिखता हूँ–

"सक्कय वाणी बहुअन भावइ। पाऊँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा"।

इसमें स्पष्ट है कि विद्यापति ने अपभ्रंश के परिवर्तित रूप अवहट्ट में काव्य रचना सब जन के मनोरंजन के लिए की। उनका उद्देश्य ऐसी भाषा में लिखना था, जिसको जनता समझ सके और साथ ही जो सरस हो। इसीलिए उन्होंने अवहट्ट और देसी (मैथिली) को अपनाया।

विद्यापति की 'पदावली' की भाषा की अजीब दुर्गति हुई है। बंगाल वाले इन्हें बंगला का कवि समझते हैं, हिन्दी भाषा–भाषी अपना कवि मानते हैं और जब से डॉ॰ ग्रियर्सन ने मैथिलों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी कि मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र है तब से स्वभावतया वे दोनों का विरोध करने लगे हैं, अर्थात् विद्यापति को मैथिली भाषा का कवि मानने लगे हैं। एक समय अवश्य ऐसा रहा है कि जब यह निर्णय कर पाना कि विद्यापति बंगला के कवि हैं या मैथिली के, कठिन था; परन्तु अब विद्वानों के अनुसंधानों ने इस प्रश्न को सुलझा दिया है और सिद्ध कर दिया है कि वे बंगाल के कवि नहीं हैं। मैथिली स्वयं बंगला, गुजराती आदि भाषाओं की तरह स्वतन्त्र अस्तित्व न रखकर हिन्दी का ही एक अंश है। अतः विद्यापति हिन्दी के कवियों में आसन ग्रहण करने के अधिकारी हैं। वैसे मैथिली में स्वतन्त्र रूप से भी कुछ साहित्य रचना हुई है और स्वतन्त्र भारत में जनपदीय भाषा के आन्दोलन के फलस्वरूप आज मैथिली को भारत सरकार की साहित्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त हो गई है। परन्तु विद्वानों का बहुत बड़ा वर्ग मैथिली को हिन्दी की क्षेत्रीय उपभाषाओं में ही स्थान देता है और विद्यापति को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सम्मिलित करता है। इसी आधार पर विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में विद्यापति को स्थान मिला हुआ है।

विद्यापति की 'पदावली' में संस्कृत के तत्सम (नन्दन, तरू, मुरारि, परिमल, पदतल, उपवन आदि), तद्भव (पिया प्रिया), मजूर (मयूर) मसान (श्मशान), हिरदय (हृदय) आदि) अपभ्रंश (दुज्जन, भप्पिय, भम्मए, अत्पन आदि), विदेशी (चकमक (तुर्की), बाजार (फारसी), जवाब (अरबी आदि) और देशज (मिनति, महतारी, डाहुक आदि) शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है। ब्रज और अवधी के समान ही 'पदावली' की मैथिली भी साहित्यिक भाषा रही है। इसका मेल जितना अवधी और ब्रजभाषा से है, उतना बंगला से नहीं।

विद्यापति की 'पदावली' की भाषा समय की गति के साथ परिवर्तित होती रही है। पांच सौ वर्षों की लम्बी अवधि में उसमें अनेक कारणों से अनेक परिवर्तन आये हैं। 'पदावली' लोक–प्रियता के कारण जन–जिह्वा पर चढ़ी रही और

उसका लिखित रूप से भिन्न उच्चारित रूप सदा ही बदलता रहा। भिन्न–उच्चारण करने वालों ने उसे भिन्न लिखित रूप दे दिये। 'पदावली' की भाषा के रूपों की भिन्नता का दूसरा कारण है भिन्न भाषा भाषियों द्वारा उस पर अपना–अपना रंग चढ़ाने का प्रयत्न। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने ठीक ही कहा है–

'विद्यापति की भाषा की दुर्दशा भी हुई है। बंगालियों ने उसे ठेठ बंगला रूप दे दिया है, मोटंग–वालों ने मोटंग का रंग चढ़ाया है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने उस पर भोजपुरी की कलई की है और आजकल के मैथिल उस पर आधुनिक मैथिली का रोगन चढ़ा रहे हैं। भगवान् विद्यापति की कोमल –कांत–पदावली की रक्षा करे।'

8.4 विद्यापति की भाषा की मुख्य विशेषताएँः–

1. सफल भावाभिव्यक्तिः–

भाषा का कर्म भावों की अभिव्यक्ति करना है। भाषा के लिए भावाभिव्यक्ति साध्य है और अलंकारादि साधन। जहां साधन साध्य हो जाता है वहां कलापक्ष प्रधान हो जाता है। कलापक्ष में मस्तिष्क को चमत्कृत करने की क्षमता भले ही हो, हृदय को आंदोलित करने का अभाव ही होता है। विद्यापति की भाषा इन दोनों का अप्रतिम समन्वय है। यही समन्विति भाषा की पूर्णता है। अतः विद्यापति की भाषा पूर्ण है। उसमें भावों को प्रकट करने की यथेष्ट शक्ति है। विरहिणी राधा के इन शब्दों को देखिएः–

"काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा।

क्षीर खाँड़ भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा"।

उपर्युक्त शब्दों में राधा के माध्यम से विरहिणी नारी–जाति का हृदय बोल उठा है जिसमें प्रिय से मिलन की उत्कट इच्छा तो है ही, स्वभाव की सरलता भी सन्निहित है।

2. चित्रमयता :– सफल कवि शब्दों के संबल पर भावों का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं; अर्थात् कवि की कल्पना साकार होकर पाठकों अथवा श्रोताओं की आंखों में झूलने लगती है। विद्यापति की भाषा इस गुण से समन्वित है। यथा–

"चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख–ससि डर रोअए अंधारा
कुच–जुग चारू चकेवा।
निअकुल मिलिअ आनि कोन देवा।
ते संका भुज पासे–
बांधि धएल अड़ि पाएत अकासे।"

इन पंक्तियों में सद्यः स्नाता का सजीव चित्र है जिसके केशों से पानी चू रहा है और जिसने लज्जावश अपने दोनों हाथों से कुचों को छिपा रखा है।

3. अनुरणात्मकता :– शब्दों के द्वारा ध्वनि उत्पन्न करना ही अनुरणात्मकता है। केवल महाकवियों की भाषा में ही यह विशेषता मिलती है। पदावली का एक उदाहरण देखिए–

"किंकिन किन किन कंकन कन कन घन घन नूपुर बाजे"।

यहां किंकिणी, कंकण और नूपुरों की ध्वनियों का ध्वन्यात्मक चित्रण है और इनकी ध्वनियों का पार्थक्य भी दर्शित है।

4. संगीतात्मकता :–

संगीतात्मकता तो विद्यापति की भाषा के प्राण हैं। कोमलकांत पदावली श्रृंगार–रस के नितांत अनुकूल है जिन्हें लय के रेशमी धागों से अत्यन्त कौशल के साथ जोड़ा गया है। भाषा में कहीं भी न तो कर्कशता है और न अवरुद्धता। यह संगीत शास्त्रीय विधानों का नहीं, धड़कनों की स्वाभाविक थिरकनों का है। 'पदावली' में ये थिरकनें आद्यान्त हैं। उदाहरणार्थः–

"अखिल लोचन तम–ताप–विमोचन
उदयति आनन्दकन्दे।

एक ललिनि–मुख मलिन करए जदि

इथै लागि निन्दह चन्दे"।

विद्यापति की संगीतात्मकता भावों को उत्कर्षता प्रदान करती है। भावों की मार्मिकता इनकी लयों में साकार होकर अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राह्य बन जाती है।

5. शब्द–शक्ति :–

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये तीन शक्तियां मानी जाती हैं। उत्तम काव्य वही है जिसमें व्यंजना शक्ति हो। विद्यापति की 'पदावली' में व्यंग्यार्थबोधक पदों की कमी नहीं है उदाहरण स्वरूप :–

"करू धरू करू मोहे पारे
देब में अपरूब हाटे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली
न जान कोन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे

जाएब औघट घाटे, कन्हैया"।

अभिधेयार्थ तो यह है कि राधा अपनी परिस्थिति बताती हुई कृष्ण से उसे यमुना पार कराने की प्रार्थना कर रही है। वह कहती है कि हे कन्हैया, मेरा हाथ पकड़िए और मुझे पार पहुँचा दीजिए। इसके लिए मैं तुम्हें अपूर्व हार दूंगी। सारी सखियां न जाने किस मार्ग से मुझे अकेली छोड़ कर चली गई हैं। मैं तुम्हारे पास नहीं जाती, मुझे तो औघट घाट जाना है।

इसका व्यंग्यार्थ यह है कि भारतीय विधान के अनुसार नारी का हाथ पकड़ने का अधिकार केवल पति को है। राधा अपना हाथ कृष्ण के हाथ में देने की प्रार्थना करती है। इस प्रार्थना में उसका पत्नीवत् आत्म–समर्पण है। हार प्रदान का अर्थ स्मृति को सदैव सजग बनाये रखने का साधन है। सखियों का अज्ञात मार्ग से छोड़कर चली जाने से राधा का एकाकीपन ध्वनित है और औघट घाट से तात्पर्य निर्जन स्थान से है जहां किसी प्रकार का भय न रखकर आंनदपूर्वक रतिक्रीड़ा की जा सके।

6. अलंकार योजना

संस्कृत के काव्य शास्त्र से परिचित होने के कारण विद्यापति ने कविता में अलंकारों के महत्त्व को अच्छी तरह समझा है। उन्होंने विभिन्न अलंकारों की योजना द्वारा अपनी भाषा को समृद्ध किया है। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए उन्होंने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। अलंकारों के प्रयोग से उनकी भाषा की रमणीयता एवं शक्तिमत्ता बढ़ गई है। केवल चमत्कारविधायक शब्दांलकारों के प्रति उन्होंने सीमा से अधिक मोह कहीं नहीं दिखाया है। फिर भी यत्र–तत्र अनुप्रासमयी कोमल–कान्त पदावली उनकी भाषा को सौन्दर्य प्रदान करती हुई दृष्टिगत होती है। उदाहरण–

'रितुयति राति रसिक रसराज। रसमय रास रभस रस मोंझ
रसमति रमनि–रतन धनि राहि, रास रसिक कसह रस अवगाहि'।
'सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दुई सारंग, केलि करथि मधुपाने"।

7. लोकोक्तियाँ और मुहावरे :–

लोकोक्तियां और मुहावरे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को द्विगुणित कर देते हैं। लोकोक्तियों का विधान कवि का लोक–भाषा पर पूर्ण अधिकार का सूचक है। विद्यापति के पदों में लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। यथा–

1. हाथे न मेट पखान क रेहा।
2. हाथ क कांगन अरसी काज।
3. भमश भरे मांजरि न भांगे।

4. बड़ेओ भूखल नहिं दुहु कओरे खाए।

5. कुप न आवए पथिक के पास।

6. दूध क माखी दूती भेल आदि।

मुहावरों के भी कतिपय उदाहरण देखिएः–

"नींद भरल अछ लोचन तोर।
कोमल बदन कमल रूचि चोर।"

× × × ×

"बारि बिलासिनी केलिन जानथि
भाल असन उडि गेला।"

× × × ×

अधर दसन देखि जिउ भोरा काँपे
लोलुऊ–बदन सिटी अधि धनि तोरि"

8.5 सारांश : इस प्रकार 'पदावली' की भाषा में सरसता, माधुर्य और रमणीयता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से उसमें अधिक सजीवता, भावाभिव्यंजन क्षमता एवं हृदयग्राहिता आ गई है। 'पदावली' की भाषा जहां लोकभाषा का जीवन्त एवं ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करती है वहां, उसमें साहित्यिक सौन्दर्य की छटा भी दर्शनीय है। 'पदावली' के पदों की रचना गीतों के रूप में हुई है, इसलिए 'पदावली' के पदों में संगीतमयी भाषा को स्थान दिया गया है। सरस, मधुर, लयपूर्ण और नाद–भरी शब्दावली के प्रयोग से विद्यापति की भाषा अधिक प्रभावशाली एवं हृदयग्राही रूप धारण कर लेती है। 'पदावली' वास्तव में एक रस–सिद्ध कवि एवं शब्द शिल्पी कलाकार की सफल कृति सिद्ध होती है।

8.6 कठिन शब्द

1.	अनुसंधान	2.	रोगन
3.	साध्य	4.	यथेष्ट
5.	पार्थक्य	6.	आधान्त

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र01 विद्यापति पदावली की काव्य भाषा पर प्रकाश डालिए।

उ01 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्र02 विद्यापति की भाषा की प्रमुख विशेषतांए बताईए।

उ02 _____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

_____

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. विद्यापति – डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित
2. विद्यापति – मनमोहन सहगल
3. विद्यापति – युग साहित्य – अरविंद नारायण सिन्हा


~~~
~~~

कबीर का रहस्यवाद

9.0 रूपरेखा

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 कबीर का रहस्यवाद

9.4 सारांश

9.5 कठिन शब्द

9.6 संदर्भ सूची

9.7 उपयोगी पुस्तकें

9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.1 उद्देश्य

- कबीर के समय में हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों, मतों और पंथों की जानकारी देना।
- कबीर के क्रांतिकारी रूप के प्रति अवगत कराना।
- कबीर के आध्यात्मिक प्रेम की प्रस्तुति इनके काव्य में हुई है इसकी जानकारी देना।
- कबीर के रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाओं के प्रति अवगत कराना।

9.2 प्रस्तावना

कबीर के समय में हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों, मतों और पंथों में विभक्त था। मूर्तिपूजा और बहुदेववाद का बोलबाला था। धार्मिक जीवन में कर्मकांडों और बाह्य आचारों को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा था। भोले और भीरू लोग सिद्धों, दिगंबरों, योगियों, शाक्तों, निरंजन पंथियों, वैरागियों, तपस्वियों और मौनी साधुओं के चमत्कारपूर्ण क्रियाकलापों से प्रभावित थे। धर्म का आध्यात्मिक पक्ष उपेक्षित हो रहा था, जबकि धर्म में संकीर्णता लगातार बढ़ती जा रही थी।

कट्टरता और संकीर्णता का प्रभाव हिंदुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से दृष्टिगोचर हो रहा था। लेकिन इन विषम परिस्थितियों में एक वर्ग ऐसा भी था जो सभी समुदायों, सम्प्रदायों के बीच पारस्परिक सौहार्द का समर्थक था। "धार्मिक संकीर्णता और विघटन के युग में स्वानुभूति के आधार पर विभिन्न आध्यात्मिक दर्शनों से ग्रहणशील तत्वों का संग्रह करके कबीर एक क्रांतिदूत के समान प्रादुर्भूत हुए। उन्होंने मानवता पर आधृत संत मत का प्रचार किया तथा धर्म का वास्तविक रूप जनता के सामने प्रस्तुत करके उसको मार्गदिशा प्रदान की।"[1]

9.3 कबीर का रहस्यवाद

कबीर समग्र रूप में क्रांतिकारी हैं। उन्होंने धर्म के नाम पर पैदा की गई गलत परम्पराओं का डटकर विरोध किया। कबीर सहज धर्म का उपदेश देते हैं। उनके इस सहज उपदेश में धर्म–अध्यात्म की गूढ़ गहराइयां छिपी हुई हैं। कबीर ने ब्रह्म की निर्गुण सत्ता को स्वीकार किया है। हालांकि विद्वानों ने कबीर के दर्शन (काव्य) में परस्पर विरोधी तत्वों को भी देखा है – आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – कबीरदास के पदों से एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद आदि कई परस्पर विरोधी मतों के समर्थक हो सकते हैं, पर इस विरोध का कारण कबीर दास के विचारों की अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान को आगार समझते थे। इसीलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्पर विरोधी दिखती हैं, आलौकिक भगवत्स्वरूप में वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्ति की दुनिया में नई नहीं है। शाक्त लोग एक साथ भगवान के लिए कई परस्पर विरोधी विशेषणों का व्यवहार करते हैं।[2]

यह कहना गलत न होगा कि कबीर आध्यात्मिक चेतना के जिस स्तर पर हैं, वहाँ उनके लिए कुछ भी त्याज्य नहीं है। वे ईश्वर के समस्त रूपों को ग्रहण करने के लिए आतुर दिखते हैं। आध्यात्मिक संदर्भों में भी कबीर को किसी सीमित क्षेत्र तक बाँधकर नहीं रखा जा सकता। उन्होंने ब्रह्म का ऐसा रूप निरूपित किया है जिसमें वैदिक मान्यता, मुसलमान व सूफी प्रभाव, योगियों का विलक्षणवाद, बौद्धों का शून्यवाद आदि बहुत कुछ दृष्टिगोचर होता है।

कबीर भले ही निर्गुण के समर्थक और पोषक दिखाई पड़ते हों, लेकिन वास्तविकता यह है कि वे ब्रह्म का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो सगुण और निर्गुण दोनों का एकीकृत रूप है। कबीर के आध्यात्मिक विचारों और साधना पद्धति को समझने के लिए बहुत व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ने की

जरूरत है। "भारतीय परम्परा की साधना–कसौटी पर अपनी रचनाओं को कसकर यह संज्ञान कर लेने की आवश्यकता है कि उसके पश्चात् कितने विरोधात्मक विचार मिलते हैं? इसके लिए कबीर की साधारण कविताओं को लेकर काम नहीं चलाया जा सकता। कबीर की उक्तियों और उलटबांसियों का अध्ययन भी परमावश्यक है।"[3]

कबीर के साहित्य में यह प्रयास कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता कि वे किसी दार्शनिक पद्धति की प्रस्तुति करते हैं। कबीर के ब्रह्म और अध्यात्म से सम्बन्धित विचारों को प्रायः रहस्य से जोड़कर देखा जाता है। कबीर का रहस्यवाद क्या है? विद्वानों ने इस पर अलग दृष्टिकोण से विचार किया है। लेकिन रहस्यवाद (कबीर के रहस्यवाद) के स्वरूप पर विद्वान एकमत नही हो सके।

ऐसा नहीं है कि रहस्यवाद की शुरुआत कबीर से हुई हो। सिद्धों–योगियों ने स्वानुभवों की प्रस्तुति में रहस्यवाद का प्रयोग किया है। वहीं से कबीर ने न्यूनाधिक रूप में इसे स्वीकार किया है। कबीर के सम्पूर्ण साहित्य में ब्रह्म और आत्मनिरूपण की प्रस्तुति को प्रधानता मिली है। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि कबीर का रहस्यवाद निरा बुद्धि पर आधारित नहीं है। उसमें भाव–तत्त्व भी मौजूद है।

"कबीर का रहस्यवाद प्रत्यक्ष रूप में उनका आध्यात्मिक ब्रह्म से आत्मा का भावनात्मक तादात्म्य करने का प्रयास है। यह आत्मा और परमात्मा का प्रणय सम्बन्ध है, जिसमें दोनों के स्वरूप और तत्त्वों का निरूपण बुद्धि प्रधान होने पर भी मिलन के प्रयास से पूर्णरूप से भावनात्मक है। ..... रहस्यवादी कवि भावना और प्रेम से ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की भावना प्राप्त करता है और बुद्धि द्वारा आध्यात्मिक ब्रह्म के सत्य निरूपण से ज्ञान और फिर इन दोनों का सहारा लेकर अध्यात्मिक सत्ता की। जो उसे रहस्यमयी अनुभूतियां साधना के क्षेत्र में होती हैं, उनका अपनी अटपटी भाषा में शब्द चित्र अंकित करता है। साधक की यही कृतियां साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि करती हैं।"[4]

कबीर के रहस्यवाद को निम्नलिखित उपशीर्षकों के अंतर्गत देखा जा सकता है –

1. आस्तिकता
2. प्रेम और भावना
3. गुरू का स्थान
4. आत्मशुद्धि
5. ब्रह्म प्राप्ति की बाधाएं
6. साधना के साधन
7. प्रेम के साधन

8. बुद्धि और भाव तत्त्व

9. तादात्म्य या एकरूपता

लौकिकता से परे हटकर परमात्मा के प्रति राग, विस्मय, जिज्ञासा, मिलने की उत्कंठा और उत्सुकता को रहस्य अनुभूति की अवस्था में शामिल माना गया है। यह अनुभूति विभिन्न सोपानों से होती हुई ईश्वर से तादात्म्य की अवस्था तक जाती है। कबीर का दृढ़ विश्वास है कि आत्मा को परम तत्त्व की अनुभूति के लिए किसी मध्यस्थ, पुस्तकीय ज्ञान या लौकिक समझ की जरूरत नहीं है। किसी सहयोग के बिना ही व्यक्ति अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है 'साक्षी' का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे की जरूरत नहीं है। बल्कि सच्चाई यह है कि किसी दूसरे की मौजूदगी में परम सत्ता से तादात्म्य में बाधा उत्पन्न हो सकती है।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रति आस्था, उसकी मौजूदगी का अहसास वह सीढ़ी है जिसके आधार पर आगे बढ़ा जा सकता है। कबीर आस्तिक हैं। उन्होंने ब्रह्म के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे ईश्वर के अस्तित्व को नकार रहे हैं। उन्होंने इस शब्द को बौद्धों–नाथों के प्रभाव से ग्रहण किया है और इस 'शून्य' में सर्वव्यापी और अखंड ईश्वर का दर्शन किया है। कबीर के इस 'शून्य' को पाना आसान नहीं है।

'ऐसा कोई ना मिलै, सब देई बतलाय।
सुन्न मंडल में पुरुष एक ताहि रहे ल्यो लाय'।। [5]

कबीर की रहस्य–चेतना दो खण्डों में सामने आती है –

1. भावनात्मक रहस्यवाद

2. साधनात्मक रहस्यवाद

जिन पदों में कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम का निरूपण किया है, वहाँ भावनात्मक रहस्यवाद की प्रस्तुति हुई है। इसके अलावा जहाँ कबीर की रहस्य अनुभूति 'सतत समाधि' तक पहुँचती है, वहाँ वह साधनात्मक रहस्यवाद के रूप में होती है।

रहस्यवाद में आस्था व आस्तिकता के बाद प्रेम और भावना का स्थान है। कबीर की रहस्य अनुभूति विविध स्तरों पर परिलक्षित होती है। ''जैसे शंकर आदि आनंद के लिए भक्ति की द्वैतवादी भूमिका में उतर आते हैं, वैसे ही कबीर भी रहस्यवादी भूमिका पर अद्वैत से आए हैं। उनका रहस्यवाद उपनिषद के ऋषियों का रहस्यवाद है जो मूलतः अद्वैत के अंतरविरोधों में समन्वय करने वाली रहस्यात्मक अनुभूति है।"

कबीर में रहस्यवाद की तीन अवस्थाओं की गहरी अनुभूति मिलती है। प्रथम अवस्था में गुरु की कृपा से अनुराग पैदा होता है और इसकी परिणति विरह से होती है।

'सतगुरु हम पर रीझि कर, कह्या एक प्रसंग।

बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।'

और भी–

'बिरह जलाई मैं जलूं, जलती जलहरि जाउं।

मैं देख्या जलहरि जलै, संतो कहां बुझाउं।।'

रहस्यवाद की दूसरी अवस्था परिचय की है। कबीर ने ईश्वर से परिचय का अनेक पदों में सुंदर वर्णन किया है। परमात्मा का तेज अनंत है। चूँकि कबीर ने उसे जान लिया है, इसलिए उससे एकाकार होने में ज्यादा कठिनाई नहीं है –

'पारब्रह्म के तेज का, जैसा है उनमान।

कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परमान।।'

रहस्यवाद की तीसरी अवस्था मिलन की है। "यही सिद्धावस्था है। ज्ञानी के लिए यही अपरोक्षानुभूति है। मिलन की इस अवस्था में जीवात्मा में 'मैं' और 'तू' का भेद धीरे–धीरे विलीन होने लगता है। उसे 'अहं' में त्वं' पूर्णतः समाया हुआ प्रतीत होता है।"[6]

ईश्वर से मिलन के बाद संसार के तमाम कष्ट, भय, प्रपंच और तपन समाप्त हो जाती है। अनंत शीतलता का अहसास होता है। यही अनंत शीतलता रहस्यवाद का चरम है।

'अब हम सकल कुसल करि मांना

स्वांति भई तब (जब) गोव्यंदं जांनां।

तन में होती कोटि उपाधि

उलटि भई सुख सहज समाधि।।'

कबीर को सूफी साधना का विरह वर्णन काफी पसन्द है। लेकिन उनकी रहस्यचेतना सूफियों जैसी नहीं है। उनके पदों का माधुर्य भाव भारतीय परम्परा का है। विरह अवस्था में कबीर ईश्वर की व्यापकता का और गहरा अनुभव करते हैं। उन्हें विरह अवस्था में 'सर्वात्म चेतनवाद' का आभास होता है । कबीर अनेक पदों में अद्वैती, भक्त और रहस्यवादी होने का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

कबीर का रहस्यवाद पश्चिमी या सूफियों का रहस्यवाद नहीं है। उन्होंने रहस्यवाद के स्तर पर अनेक भारतीय साधनाओं का समन्वय प्रस्तुत किया। "कबीर ने भगवान के निर्गुण एवं निराकार रूप के प्रति निरुपाधिक प्रेम को रहस्यवादी साधना के माध्यम से साकार तथा हृदयस्पर्शी रूप दिया है।"[7]

कबीर–काव्य में अनेक स्थानों पर रहस्यपूर्ण रूपक और दृश्य मौजूद हैं। उनकी रहस्य दृष्टि में भक्ति और ज्ञान, दोनों समाहित हैं। उनके रहस्यवाद का लक्ष्य मन को उलझाना नहीं, अपितु उसे सांसारिक भटकावों से निकालकर, ईश्वर के साथ उसका योग करा देना है। कबीर ने रहस्य–अनुभूति की प्रस्तुति में प्रतीकों, उलटबासियों एवं रूपकों का सफल प्रयोग किया है। कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिए दर्शन – पक्ष की समझ होना ज़रूरी है। दर्शन – पक्ष की समझ के अभाव में उनकी रहस्यवाद की प्रस्तुति क्लिष्ट दिखाई पड़ सकती है। कबीर केवल सिद्धांतों के आधार पर नहीं चलते वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकारते हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों, संतों के रहस्यवाद के समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है। कबीर का रहस्यवाद सार्थक, प्रासंगिक और नई दृष्टि देने वाला है।

कबीर के रहस्यवादी पदों में शृंगार के भावों का चित्रण हुआ है। ऐसे पदों में स्त्री–पुरुष के दाम्पत्य को लेकर शृंगार की प्रस्तुति हुई है। यहाँ यह बात स्पष्ट करना जरूरी है कि कबीर की शृंगार प्रस्तुतियों को रीतिकालीन या शृंगारवादी कवियों के परिप्रेक्ष्य में देखा–समझा नहीं जा सकता। कबीर के शृंगार पद एक अंतर्दृष्टि से सम्पन्न हैं। यह अंतर्दृष्टि आत्मा और परमात्मा के मिलन को लेकर है। उनके शृंगार के पदों में आत्मा अपने पति (परमात्मा) से मिलने को तड़पती है –

'सखियो, हमहु भई बलमासी।
आयो जोवन बिरह सतायो, अब मैं ज्ञान गली अठिलासी।
ज्ञान गली में खबर मिल गये, हमें मिली पिया की पाती।
वा पाती में अगम संदेसा, अब हम मरने को न डराती।
कहत कबीर सुनो भई प्यारे, वर पाये अविनासी ।।'

कबीर ने दर्शन के दोनों पक्षों – वियोग और संयोग को अनेक पदों में चित्रित किया है। ऐसे अनेक पद हैं जिनमें आत्मा, साईं के विरह में तड़पती है और ऐसे पदों की भी भरमार है जब परमात्मा से मिलन के बाद आत्मा आनंदमग्न हो गई है। विरह में यही आत्मा कहती है –

देखूं मेरे राम सनेही
जा बिन दुःख पावै मेरी देही।
हुँ नेरा पंथ निहारूं स्वामीं
कब रे मिलहुगे अंतरजामीं।
जैसे जल बिन मीन तलपै
ऐसै हरि बिन मेरा जियरा कलपै।

निस दिन हरि बिन नींद न आवे

दरस पियासी राम क्यूं सचु पावैं।

कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै

अपनौ जांनि मोहि दरसन दीजै।।

कबीर ने शृंगार का स्थूल चित्रण नहीं किया है। अलबत्ता यह सच्चाई है कि इन्होंने शृंगार की प्रस्तुति में लौकिक भाषा और रूपकों का प्रयोग किया है। कबीर ने आत्मा को प्रेमिका और भगवान को प्रेमी के रूप में भी स्वीकार किया है।

कबीर के शृंगार के पदों में माधुर्य गुण व्यापक रूप से मिलता है। शृंगार के पदों में कबीर की माधुर्य प्रस्तुति सहज रूप में सामने आती है।

" दुलहनी गावहु मंगलचार।

हम घरि आये हो राजा राम भरतार।।

तन रत करि मैं, मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती।

रामदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।।

सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।

रामदेव संग भांवरि लैहूं, धनि धनि भाग हमार।।

सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।

कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी।।"

वर्ण्य विषय की दृष्टि से विद्वानों ने कबीर के काव्य को तीन वर्गों में विभक्त किया है–

1. भावात्मक
2. विचारात्मक
3. व्यंग्यात्मक

कबीर के शृंगार का रूप भावात्मक पदों में मिलता है। इन पदों में कबीर ने भक्ति भावना तथा असीम के प्रति अपने प्रेम तथा दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति की है। कबीर ने शृंगार वर्णन के लिए आत्मा और ईश्वर के बीच प्रेमी–प्रेमिका के सम्बन्धों पर दाम्पत्य सम्बन्धों को अधिक मान दिया है।

कबीर किसी भी दृष्टि से काव्यशास्त्री नहीं हैं और न ही उन्होंने योजनापूर्वक श्रृंगार की प्रस्तुति की है। श्रृंगार रस उनके पदों में अनायास ही प्रस्तुत हुआ है। कबीर की अपने परिवेश पर गहरी पकड़ है। श्रृंगार का जो भी भाव आया है, वह परिवेशगत कारणों से आया है। गूढ़ भावों को इन पदों में सहजता से प्रस्तुत किया जा सका है।

कबीर काव्य में श्रृंगार के पद मुख्यतः 'बसंत', 'हिंडोला' और 'कहरा' में मिलते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकार के 20–22 पद कबीर के काव्य में मौजूद हैं। उनमें से आधे पदों में श्रृंगार भाव की प्रस्तुति हुई है। यह प्रस्तुति आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों को लेकर की गई है। कबीर की श्रृंगार प्रस्तुतियां रागों पर भी आधारित हैं।

कुछ रूपकों और प्रतीकों को लेकर कबीर पर यह आरोप भी लगता है कि वे सामाजिक मान्यताओं से परे हट रहे हैं। लेकिन ईश्वर से मिलन और समाज को सही राह दिखाने के लिए उन्हें इन आरोपों की परवाह नहीं है। कबीर अपने अनुभव से लोक की अभिव्यंजना करते हैं। इसलिए उनके श्रृंगार–वर्णन में जीवन से इतर कुछ भी प्रस्तुत नहीं हुआ है। उन्होंने अनेक पदों में परमात्मा को पति, आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को प्रेमी/संरक्षक के रूप में चित्रित किया है। लेकिन कबीर का श्रृंगार वर्णन स्थूल या मांसल नहीं है। निश्चय ही कबीर अपनी मान्यताओं और आदर्शों के प्रति बेलाग और आस्थावान हैं। यही पद्धति श्रृंगार के पदों मे दृष्टिगोचर होती है। कबीर काव्य से यह स्वतः ही स्पष्ट है कि कबीर की बेचैनी किसी लौकिक प्रेमी के प्रति नहीं है।

कबीर के रहस्यवाद में उनकी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं का संकेत मिलता है। कबीर जिस साधना पद्धति का अनुसरण करते हैं, ऊपरी तौर पर वह व्यक्तिगत दिखाई नहीं पड़ती फिर भी कबीर के दार्शनिक विचार अनेक स्थानों पर स्पष्ट होते हैं।

ब्रह्म –

कबीर ने ब्रह्म को विलक्षण माना है। उसे सांसारिक विशेषणों से नहीं जाना जा सकता। कबीर का ब्रह्म 'विरुद्धों के समन्वय' का रूप दिखाई पड़ता है। उनके ब्रह्म के रूप में परस्पर विरोधाभासी बातें भी दिखाई पड़ती हैं। हालांकि उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही प्रधानता से प्रस्तुत किया है। उनका ब्रह्म पूरी सृष्टि में फैला हुआ है। इसीलिए वे कहते हैं–'सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा/सब महि पसरा ब्रह्म–पसारा।'

कबीर के ब्रह्म को किसी सीमा में बांधना आसान नहीं है वे अपने ब्रह्म को अनेक पौराणिक नामों से पुकारते हैं। उनका ब्रह्म राम, हरि, केशव, सिद्ध, गोविंद, महादेव, कृष्ण, अल्लाह, खुदा, रब, करीम, गोरखनाथ, निरंजन आदि नामों के साथ सामने आता है लगता है जैसे सगुण की उपासना कर रहे हैं। ब्रह्म की भक्ति के लिए उसके साकार रूप की ज़रूरत है।

कबीर ने ब्रह्म के साकार रूप को महत्ता न देने के बावजूद, भक्ति के तीनों प्रमुख आश्रयों को

स्वीकार किया। ये आश्रय हैं –

1. **भावनात्मक –**

" नैना अंतरि आव तूं ज्यूं हौं नैन झंपेउं।

ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउं।।"

2. **ज्ञानात्मक –**

" कोटि सूर जाकै परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।

दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ।।"

3. **प्रतीकात्मक –**

" कहु कबीर को जाने भेव।

मन मधुसूदन त्रिभुवन देव।।"

कबीर की दृष्टि में ब्रह्म का स्वरूप अव्यक्त है – वह चाहे निर्गुण हो या सगुण। उन्होंने ब्रह्म को तत्त्व रूप में भी स्वीकार किया। उनका ब्रह्म इतना विलक्षण है कि परम ज्ञानी पुरुषों को भी उसके स्वरूप के बारे में नेति नेति कहना पड़ा। जहाँ तक ब्रह्म–निरूपण का विचार है – हमें कबीर में पूर्णरूप से आध्यात्मिक विचार ही मिलता है। कहीं–कहीं पर आधिदैविक भावना की झलक भी विद्यमान है। परंतु आधिभौतिक भावना का नितांत अभाव है। कबीर का ब्रह्म – वर्णन शास्त्रीय शैली के अंतर्गत न होकर उपदेशात्मक, रहस्यात्मक, भावनात्मक और बुद्धिमूलक शैली के अंतर्गत हुआ है।[8]

<u>आत्मा</u> –

कबीर आत्मा को ब्रह्ममय रूप में देखते हैं। उनके जिन पदों और साखियों में आत्मा का निरूपण हुआ है, वह ब्रह्ममय होकर ही सामने आया है। कबीर आत्मा और परमात्मा की एकता पर जोर देते हैं। कबीर ने जिस धरातल पर आत्मा का निरूपण किया है, वह पूरी तरह से शंकर के अद्वैत रूप के निकट है। कबीर ने आत्मा के अद्वैत रूप को ही स्वीकार किया है।

कबीर आत्मा को भी उसी प्रकार समस्त संसार में व्याप्त मानते हैं जिस प्रकार ब्रह्म व्याप्त है। लेकिन माया के प्रभाव के कारण आत्मा का परमात्मा से अलगाव हो गया है। जब भी माया रूपी कुम्भ फूटता है तो आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाता है –

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी ।।

कबीर ने आत्मतत्त्व को अंतिम सत्य माना है। आत्मा बूंद है और परमात्मा समुद्र है। आत्मा भी परमात्मा के समान निर्गुण और निराकार है। कबीर ने शरीर में मौजूद आत्मा के दो रूप माने हैं –

1. ज्ञाता
2. ज्ञेय

कबीर मानते हैं कि साधना की चरम अवस्था में आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्थापित होता है। यह तादात्म्य तीन प्रकार का माना गया है –

1. ज्ञानात्मक (ज्ञान से परमात्मा तक पहुँचना)
2. भावनात्मक (भावना से परमात्मा तक पहुँचना)
3. यौगिक (योग से परमात्मा तक पहुँचना)

कबीर ने आत्मा के लिए जीव और सुरति शब्दों का प्रयोग भी किया है। आत्मा का जब तक ब्रह्म से परिचय नहीं होता, वह कुमारी रहती है। लेकिन जब परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तब उसमें तड़पन पैदा होती है। कबीर ने आत्मा का अंतिम लक्ष्य ब्रह्म से एकाकार होना माना है।

माया

"कबीर के माया सम्बन्धी विचार भी शंकर के अद्वैत दर्शन के निकट हैं। कही–कहीं सांख्य, सूफी और ईसाई संतों की माया–विषयक मान्यता से भी कबीर की मान्यता मिलती–जुलती दिखाई देती है। कबीर ने शंकर के समान ही माया को 'अणव्यावर के दूध' और 'बंध्या के पूत' की संज्ञा देकर उसकी अस्तित्वहीनता पर प्रकाश डाला है।"[9]

कबीर का स्पष्ट मत है कि माया ने सभी को ठगा है। मनुष्य–देवता, राजा–रंक, ऋषि–मुनि–गृहस्थ, भक्त–योगी आदि में से कोई उसके प्रभाव से नहीं बच सका। माया सर्वत्र व्याप्त है और वह परमात्मा से तादात्म्य की राह में हमेशा रोड़ा अटकाती है। कबीर ने अपने काव्य में माया के विविध रूपों का वर्णन किया है। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने माया के दो भेद माने हैं–

1. विद्या माया
2. अविद्या माया

अविद्या माया को उन्होंने पुनः दो भागों में बांटा है –

1. मोटी माया (मानसिक विकारों एवं मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होती है।)
2. झीनी माया (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि इसके कारण होते है)

विद्या माया, ब्रह्म की शक्ति है। यह माया संतों के लिए हितकारी है। यह माया ईश्वर के साक्षात्कार में सहायक होती है। लेकिन इसके लिए कठोर साधना से गुजरना पड़ता है। कबीर ने माया को लगातार परिवर्तनशील और मोहक माना है। माया के आकर्षक रूप के कारण ही आत्मा उसके बंधन में पड़ती है। माया के इस आकर्षक रूप से बचने के लिए कबीर ने अनेक प्रकार से आत्मा को चेताया है। उन्होंने माया को 'पापिणी', मोहनी, महाठगिनि, सांपिनि और डाकणी कहा है। कबीर परमात्मा और आत्मा की तरह ही माया को समस्त संसार में व्याप्त मानते हैं –

माया जग सांपिनि भई, विष ले बैठी पास।

सब जग फंदे फंदिया, चले कबीर उदास।।

कबीर ने मन और माया का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। जब मन में काम, क्रोध, तृष्णा, ईर्ष्या, मोह आदि नही होंगे तो माया, मन को अपने प्रभाव में नहीं ले पाएगी लेकिन जब भी मन कमज़ोर होगा, माया उसमें घर बनाकर बैठ जाएगी। इसलिए माया के प्रभाव से मुक्त रहने के लिए मन को नियन्त्रित करने की बात कही गई। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर के माया सम्बन्धी विचार सांख्य और सूफी मत के भी निकट हैं।

जगत

परमात्मा, माया तथा आत्मा के स्वरूप पर विचार करते समय ही कबीर जगत के स्वरूप का भी वर्णन करते हैं। कबीर के जगत–सम्बन्धी विचारों पर भी बौद्ध दर्शन, अद्वैत, सांख्य और सूफीमत का प्रभाव दिखाई पड़ता है। हालांकि वे अद्वैत दर्शन के अधिक निकट हैं। कबीर ने सृष्टि के समस्त पदार्थों को नाशवान और ब्रह्म को सत्य माना। यही बात आचार्य शंकर कहते हैं। उन्होंने जगत के मूल तत्त्व को अपरिवर्तनशील माना। वे 'पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय' कहकर उपर्युक्त बात की पुष्टि करते हैं। कबीर ने कुछ जगहों पर जगत् को 'स्वप्न' और कुछ जगहों पर 'नूर' माना है। इन्हीं दोनों आधारों पर उनके काव्य में जगत सम्बन्धी विचारों पर बौद्धदर्शन और सूफीमत के प्रभाव की बात कही गई। कबीर अपने काव्य में लगातार समन्वयवाद की प्रतिष्ठापना करते हैं। इसी कारण जगत सम्बन्धी विचारों में वैविध्य और कहीं कहीं विरोधाभास भी परिलक्षित होता है।

मोक्ष –

जीव की मुक्ति सम्बन्धी पदों में कबीर की मोक्ष–धारणा प्रकट होती है। कबीर मानते हैं कि जब जीव विचारों का परित्याग करता है तो उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है। संसार के प्रति उसकी दृष्टि सम हो जाती है। उसके भीतर ईश्वर से मिलन की चाह पैदा होती है। एक स्थिति ऐसी आती है जब व्यक्ति के अंह का लोप हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति होते ही व्यक्ति सांसारिक दु:खों से मुक्त हो जाता है।

कबीर की दृष्टि में मोक्ष की ओर जाने की यह पहली सीढ़ी है। सांसारिक बाधाओं को पार करती हुई आत्मा जब ईश्वर से एकाकार हो जाती है तो वह परम आनंद को प्राप्त करती है। कबीर की आनंद की यह अनुभूति वेदांतियों के समान है। कबीर ने मोक्ष के लिए मुक्ति परमपद, अभयपद, निर्वाण आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर मुक्ति अथवा मोक्ष को अपूर्ण अवस्था से पूर्ण अवस्था पर पहुँचना नहीं मानते अपितु अपने नित्य अविनाशी, शाश्वत शुद्ध–बुद्ध स्वरूप की प्रतीति तथा द्वैत स्थिति की समाप्ति मानते हैं। जहाँ ब्रह्म और जीव तथा साध्य और साधक का भेद नष्ट हो जाता है। मुक्ति का यह भाव अद्वैत वेदांत के अनुकूल है। यहाँ मोक्ष का अर्थ ब्रह्मानुभूति है। वेदांत की 'विदेह अवस्था' ही कबीर की उन्मन अवस्था है।[10]

कबीर का स्पष्ट मत है कि माया के प्रभाव के कारण ही जीव को मोक्ष प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है। लेकिन जीव माया के बंधन को काटने में सक्षम है। भक्त, सांसारिक आसक्तियों से मुक्त होकर परमात्मा से सायुज्य स्थापित करता है। यही मुक्ति है। सार रूप में कहा जा सकता है कि कबीर का मोक्ष वर्णन उपनिषदों, गीता और वेदांत दर्शन से प्रभावित है। पुरुषार्थ के बल पर जीव, माया से मुक्ति पाता है। उसके कर्मबंधन क्षीण हो जाते हैं। ईश्वर से सायुज्य के बाद वह शुभ कर्मों से भी मुक्त हो जाता है।

कबीर का दार्शनिक पक्ष किसी मतवाद का प्रचार या समर्थन नहीं करता। कबीर कहीं पांडित्य प्रदर्शन नहीं करते हैं और न ही पंडित होने का दावा करते हैं। वे दर्शन को भी व्यावहारिक दृष्टि से देखते हैं। कबीर ने अपनी प्रस्तुति में विभिन्न दर्शनों को स्वीकार/समाहित किया है। दार्शनिक दृष्टि से कबीर अद्वैतवाद के निकट है। इसमें भी वे शुद्धाद्वैत के अधिक निकट हैं।

9.4 सारांश

कबीर कहीं दार्शनिक बनने की चेष्टा नहीं करते। दर्शन के निरूपण का सायास प्रयास उनके काव्य में नहीं है। दर्शन की दृष्टि से कबीर समन्वयकारी हैं। वे ज्ञान को स्वीकार करते हैं, लेकिन भक्ति की अनदेखी नहीं करते। वे शंकर के अद्वैत के निकट होने के बावजूद 'श्रुति–प्रमाणों को स्वीकार नहीं करते। अद्वैत से प्रभावित होने पर भी उनके कई पदों में एकेश्वरवाद, शून्यवाद दिखाई पड़ता है। जीव के विषय में उन्हें सूफियों का मत मान्य हैं। यह कहा जा सकता है कि कबीर ने ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य स्थापित किया हैं। कबीर का दर्शन सर्वत्र समन्वयकारी है।

9.5 कठिन शब्द

(1) सामंजस्य

(2) सर्वत्र

(3) अद्वैत

(4) पुरूषार्थ

(5) प्रतिष्ठापना

(6) शाश्वत

(7) साक्षात्कार

(8) तादात्म्य

(9) साक्षात्कार

(10) निरूपण

9.6 संदर्भ सूची

1. कबीर एवं गंगादास के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन – डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, पृष्ठ 72
2. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 110
3. भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ, यज्ञदत्त, पृष्ठ 59
4. भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ, यज्ञदत्त, पृष्ठ 73
5. कबीर ग्रन्थावली (आलोचना भाग), सम्पा० डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, पृष्ठ 44
6. कबीर ग्रन्थावली (आलोचना भाग), सम्पा० डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, पृष्ठ 44
7. कबीर ग्रन्थावली (आलोचना भाग), सम्पा० डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, पृष्ठ 56
8. भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ, यज्ञदत्त, पृष्ठ 67
9. कबीर एवं गंगादास के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, पृष्ठ 101
10. कबीर एवं गंगादास के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, पृष्ठ 106

9.7 उपयोगी पुस्तकें

1. कबीर दर्शन, रामजी लाल सहायक
2. कबीर की विचारधारा, गोविन्द त्रिगुणायत
3. कबीर का रहस्यवाद, राम कुमार वर्मा
4. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी

5 कबीर मीमांसा , डॉ० रामचन्द्र तिवारी

9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कबीर की रहस्य भावना का विवेचन कीजिए।

2. 'कबीर का श्रृंगार वर्णन लौकिक नहीं अपितु आध्यात्मिक है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

3. कबीर के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालिए।

~~~
~~~

कबीर–काव्य का सामाजिक बोध

10.0 रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 कबीर काव्य का सामाजिक बोध

10.3.1 कबीर का तत्कालीन समाज

10.3.2 समाज के प्रति कबीर की दृष्टि

10.3.3 कबीर की दृष्टि में नारी और आमजन

10.3.4 कबीर का सामाजिक दर्शन

10.3.5 कबीर की वैश्विक दृष्टि

10.3.6 कबीर का समन्वयवाद

10.4 सारांश

10.5 कठिन शब्द

10.6 संदर्भ सूची

10.7 उपयोगी पुस्तकें

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.1 उद्देश्य

- कबीर के काव्य में आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष की प्रमुखता की जानकारी देना।
- कबीर धर्मगुरू हाने के साथ धर्मों के समन्वयकारी, दार्शनिक, हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक और सच्चे समाज सुधारक थे, इसके प्रति अवगत कराना।
- उनके काव्य में बार–बार समन्वयकारी रूप प्रकट हुआ है, इसकी जानकारी देना।

10.2 प्रस्तावना

कबीर के मूल रूप में धर्म गुरु होने के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके काव्य में आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष को ही प्रमुखता दी जानी चाहिए। लेकिन ऐसा सोचना एकांगी होगा। कबीर, धर्मगुरु होने के साथ धर्मों के समन्वयकारक, दार्शनिक, हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक और सच्चे समाज सुधारक थे।

10.3 कबीर काव्य का सामाजिक बोध

संत कबीर आत्मकल्याण और ईश्वर से एकाकार होने के बारे में सोचते हैं, लेकिन उनका एकाकार होना केवल स्वातः सुखाय या एकांतिक नहीं है। परमतत्व से साक्षात्कार के बावजूद वे दुनियावी व्यवहार को तिलांजलि नहीं देते। आध्यात्मिक ऊँचाई हासिल करने के बावजूद उनका संसार से गहरा नाता बना रहता है।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी विशेषताओं के बारे में लिखा है –

1. सादगी और सहज भाव पर निरन्तर जोर देते रहना।
2. बाह्म धर्माचारों की निरन्तर आलोचना करना।
3. सब प्रकार के विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखने वाली बातों को दुर्बोध्य और महान बना देने की चेष्टा के प्रति भाव।

कबीर साधारण मनुष्यों के लिए भी अपने बने रहते हैं। वे किसी ऐसे संसार या दर्शन की रचना नहीं करते जो वायवीय हो। उनका संसार यथार्थ से जुड़ा है। वे समस्त चीजों को सहजता से स्वीकार करने पर जोर देते हैं। वे अपनी बात को साधारण ढंग से कहते हैं इसीलिए उनकी बात आज सैकड़ों साल बाद भी ग्राह्य है। कबीर के कई रूप एक साथ चलते हैं। वे संत हैं, गुरू हैं, नेता हैं, कवि हैं और समाज सुधारक भी हैं।

उनके समस्त काव्य में बार–बार उनका समन्वयकारी रूप प्रकट होता है। समाज सुधार की दृष्टि से कबीर ने सैकड़ों बातें कहीं। उनके काव्य में समाज सुधार का इतना अधिक पुट है कि वे कई स्थानों पर संत या कवि के बजाय समाज सुधारक ज्यादा दृष्टिगोचर होते हैं।

10.3.1 कबीर का तत्कालीन समाज

कबीर के समय में देश की सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। धर्म, राजनीति और समाज में व्यापक स्तर पर अव्यवस्था फैली हुई थी। सामाजिक ढाँचा लगातार कमजोर हो रहा था। परम्परागत मान्यताओं को छोड़ा जा रहा था। हिंदू और मुसलमान एक–दूसरे के सम्पर्क के कारण नई सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार कर रहे थे।

धर्म के दलालों के बोलबाले के कारण धर्मांधता भी कई रूपों में सामने आ रही थी। ऐसी परिस्थिति में निराशा, उत्साहहीनता, अवनति, परमुखापेक्षिता बढ़ रही थी। इस काल में समाज अधोगति को प्राप्त हो चुका था। समाज के पथ–प्रदर्शक पुरोहितों में पाखंडियों की गिनती बढ़ रही थी। "समाज में उत्साह एवं जीवनस्तर नित्यप्रति गिरता चला जा रहा था। इस कठिन काल में साहित्य, संस्कृति और भाषा की उन्नति का स्वप्न देखना तो स्वप्नतुल्य ही था। जन–साधारण में शिक्षा का नितांत अभाव हो चला था, धार्मिक अंधविश्वास आडंबर इत्यादि भी अशिक्षा के फलस्वरूप बढ़ते चले जा रहे थे।"[1]

यद्यपि उस समय मुसलमान विजेता जाति थी, लेकिन आम मुसलमानों की हालत हिन्दुओं जैसी ही थी। हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों का अधिक पतन हुआ था। लूट का धन मिलने के कारण मुस्लिम समाज में तमाम तरह की विसंगतियाँ उत्पन्न हुईं थीं। इन सभी परिस्थितियों का परिणाम अशांति और अव्यवस्था के रूप में सामने आया था। इन परिस्थितियों को कबीर ने बहुत निकट से देखा और समझा। समाज इतनी विचित्र परिस्थितियों में फँस गया था कि उसमें मानवीयता नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। समाज में फैले आडंबर पर कबीर ने कड़ी चोट की। उन्होंने दोनों समुदायों की गलत मान्यताओं पर प्रहार किया।

10.3.2 समाज के प्रति कबीर की दृष्टि

समाज के प्रति कबीर की दृष्टि विशुद्ध मानवतावादी है। वे ऐसे सामाजिक व्यवहार और धार्मिक मान्यताओं–मूल्यों की स्थापना पर जोर देते हैं जो सभी को स्वीकार्य हों। उनकी मान्यताओं–मूल्यों में बाह्य आचारों, कर्म–कांडों और झूठे बन्धनों का कोई महत्त्व नहीं है। तत्कालीन ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने समाज के नियमों को लगातार कड़ा किया। इन नियमों के कारण बहुत से लोगों को धर्म से निकाल दिया गया। नियम इतने कड़े थे कि निकाले गए व्यक्ति की वापसी की संभावनाएँ न के बराबर थीं। धर्म और समाज व्यवस्था को बेहतर बनाने के नाम पर जो वातावरण तैयार किया गया था, कबीर को उससे सख्त नफरत थी –

केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूड़ै सौ बार।

मन कौं काहे न मूड़िए, जामै विषै विकार।।

कबीर ने समाज को अपनी कसौटी पर परखा। वे किसी परम्परागत ढर्रे पर चलने के समर्थक नहीं थे। उन्होंने समाज की तत्कालीन व्यवस्थाओं के खिलाफ बोलने का साहस किया। आज की परिस्थितियों में कबीर के साहस का अनुमान लगाना भी कठिन है। कबीर ने राजसत्ता और समाज के ठेकेदारों के खिलाफ समान रूप से आवाज़ उठाई। कबीर ने धर्म और सामाजिक जीवन में क्रांति का अमर संदेश फूँक दिया। इस क्रांति के फलस्वरूप निराश्रित पड़ी जनता ने एक बार फिर सहारा पाकर स्वतंत्र वातावरण में श्वास लेने का प्रयास किया। पाखंड के पैरों तले कुचली जाती भोली–भाली जनता ने कबीर को सुधारक के रूप में स्वीकार करके अपना पथ प्रदर्शक माना।

ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि उस समय समाज जागरूक लोगों से पूरी तरह निर्मूल हो गया था। जागरूक लोग मौजूद थे। उन्हें केवल सहारे की जरूरत थी। सहारा और दिशा देने की भूमिका कबीरदास ने निभाई।

कबीर की क्रिया की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। उनके विचारों ने समाज में तहलका मचा दिया। कबीर निराशा भरे माहौल में उभर कर सामने आए, लेकिन वे जीवन और परिस्थितियों के प्रति कहीं भी निराश नहीं हैं। वे कठिन परिस्थितियों का भी दृढ़ता से सामना करते हैं और भक्तों को भी सामना करने की प्रेरणा देते हैं। कबीर समाज से टकराने वाले सच्चे वीर हैं।

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।

सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम।।

कबीर सबल भी हैं और अक्खड़ भी। वे सत्य के पक्ष में मजबूती से खड़े हैं। अच्छाई को सामने लाने के लिए क्या कीमत चुकानी पड़ेगी, वे इसकी परवाह नहीं करते। कबीर किसी खेमे से बंधकर बात नहीं करते। वे मानवता के पक्ष में आवाज उठाते हैं। वे सुधारने के लिए चिकनी–चुपड़ी बात नहीं करते, खरी–खरी सुनाते हैं। उन्हे पंडितों को झूठा कहने में भी डर नहीं लगता और न ही मुल्लाओं की असलियत को उजागर करने में –

बकरी पाती खात हैं, तिनकी काढ़ी खाल।

जे नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल।।

कबीर ने समाज और व्यक्ति को अलग करके नहीं देखा। वे व्यक्ति को सुधारना चाहते हैं और समाज को भी, क्योंकि एक के सुधरने से अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते । विचारों की दृष्टि से कबीर

को सच्चा समाजवादी कहा जा सकता है। वे व्यक्ति से समाज तक पहुँचते हैं। कबीर को यह स्वीकार्य नहीं कि व्यक्ति के स्वार्थ के लिए समाज के हित को कुर्बान कर दिया जाए। कबीर जिस विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को स्वर देते हैं, कोई अकेला व्यक्ति उसका वाहक नहीं हो सकता, उसके लिए सामूहिक प्रयासों की जरूरत है। यह दृष्टि कबीर के काव्य के सामाजिक पक्ष के नए पहलू को उद्‌घाटित करती है। कबीर के समय में समाज से समूह–भावना या समाजवादी भावना का लोप हो चुका था। तत्कालीन कर्म–व्यवस्था ने व्यक्ति को कर्म और साहस से हटाकर भाग्यवादी बना दिया था। हर व्यक्ति को यह लग रहा था कि वह केवल अपना स्वार्थ पूरा कर ले। स्वार्थवादी और भाग्यवादी प्रवृत्ति का सबसे अधिक लाभ उन लोगों ने उठाया जो खुद को धर्म और समाज का रक्षक बता रहे थे।

राजतंत्र और सामंतवादी व्यवस्था में जनता के लिए कोई स्थान नहीं था। कबीर का प्रहार बहुफलकीय है। वे सड़ चुकी व्यवस्थाओं को नष्ट करने को आतुर हैं। उनके लिए 'ढाई आखर' ही सब कुछ है। जिसने व्यक्ति से, समाज से 'प्यार' करना सीख लिया, वही सच्चे अर्थों में पंडित है–

पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होई।।

कबीर तर्क, अनुभूति और बुद्धि की बात करते हैं। उनके सपने का समाज किसी वायवीय आधार पर खड़ा हुआ नहीं है। वह भौतिक रूप से मौजूद है। संसार को असत्य मानने के बावजूद वे संसार से भागने का उपदेश नहीं देते। क्योंकि वे इस बात को गहराई से समझते हैं कि जिसे संसार में रहकर नहीं पाया जा सकता, उसकी प्राप्ति संसार से भागकर भी संभव नहीं है। कबीर का दर्शन, उनकी सोच किसी जाति, धर्म, संप्रदाय और समूह विशेष तक सीमित नहीं है। वे समग्र मानवता की बात करते हैं। वे समाज का कई स्तरों पर उत्थान चाहते हैं। ये स्तर हैं – धार्मिक, नैतिक, सत्तागत आदि।

कबीर के लिए बुद्धि की कसौटी सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए जब वे तर्क देते हैं तो आडम्बरों के महल तत्काल धराशायी हो जाते हैं। वे किसी वेद–पुराण या कुरान का आधार नहीं मानते। सुनी–सुनाई बातों पर उनका विश्वास नहीं है। वे कहीं तर्कों से समझाते हैं और कहीं बुद्धि से। कबीर किसी चीज के अंध–समर्थक नहीं हैं। इसलिए उनके कुछ पदों में परस्पर विरोधी स्वर भी आ गए हैं। लेकिन उनका यह स्वर समाज–दृष्टि के विकास का परिचायक है। कबीर के तमाम पदों में आत्मविश्वास, दृढ़ता, स्पष्टदृष्टि, प्रेरणा, नव–संस्कार और समाज के प्रति अपने दायित्व की समझ दृष्टिगोचर होती है। कबीर के विचार जीवन के संघर्ष और परिस्थितियों से निर्मित हुए हैं। इसलिए उनमें उथलापन और बनावटीपन नहीं है।

कबीर आचरण पर जोर देते हैं। गोरखनाथ की तरह उनका स्पष्ट मत है कि कथनी और करनी में अंतर नहीं होना चाहिए –

'कथणीं कथी तौ क्या भया जो करणी ना ठहराइ।

काल बूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ।।

10.3.3 कबीर की दृष्टि में नारी और आमजन

मध्यकाल में नारी की स्थिति केवल भोग्या तक सीमित हो गई थी। स्त्री केवल मनोरंजन का साधन थी। मुसलमान आक्रमणकारियों और सामंतों ने स्त्री के सम्मान को चकनाचूर कर दिया था। कबीर की दृष्टि स्त्री के प्रति भिन्न है। वे परस्त्री को भोगने की बात तो क्या उस पर कुदृष्टि डाले जाने का भी विरोध ा करते हैं –

'पर नारी राता फिरै, चोरी बिढ़ता खाँहिं।

दिवस चरि सरसा रहै, अंति समूला जांहि।।

सामाजिक रूप से संगठित होने का उपदेश भी कबीर कई बार देते हैं। कबीर ने समाज के सामने धर्म के वास्तविक रूप को उद्घाटित करने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दिया। उन्होंने नव–धर्म का जो प्रकाश फैलाया उससे भी समाज को नई दिशा मिली।

कबीर ने समाज के निचले तबके के कष्टों को भी निकटता से देखा था। समाज के लिए जो भी नियम या विधियाँ प्रचलन में थीं, उनकी सबसे ज्यादा मार इसी तबके पर पड़ रही थी। कबीर के लिए 'आम आदमी' सब कुछ था। 'आम–आदमी' ही उनकी समाज दृष्टि के केन्द्र में है। यह वही आम आदमी था जिसकी मंदिरों तक पहुंच नहीं थी, जिसे समाज में सबसे निचले स्थान पर रखा गया था और पंडित–मुल्लाओं के ईश्वर से भी उसकी निकटता नहीं थी। इसमें कतई संदेह नहीं कि कबीर ने भारतीय जनमानस पर महान उपकार किया। उन्होंने जनता को सहज धर्म और जीवन का उपदेश दिया। धर्म के नाम पर इस्लामवादियों ने जो आतंक फैलाया था, कबीर ने समाज को उसका सामना करने की हिम्मत दी। हिंदू धर्म में जिन छोटी जातियों को तिरस्कार की भावना से देखा जा रहा था, कबीर उनके लिए भी बड़ा सहारा साबित हुए। "कबीर ने भारतीय जनता में भेदभाव विहीन सहज–धर्म और सामाजिक नियमों का जो ढांचा खड़ा किया उससे जनता को बल मिला। जनता के नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति जागृत हो उठी और सभी में अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतंत्र रूप से विचार करने की प्रवृति ने जन्म लिया।"[2]

10.3.4 कबीर का सामाजिक–दर्शन

कबीर को ऐसे विचारक के रूप में भी स्वीकार किया गया है जिन्होंने समाज–व्यवस्था के प्रति एक स्पष्ट दर्शन प्रस्तुत किया। उनके इस दर्शन में 'आदर्श मानव' के विकास की पर्याप्त संभावनाएँ मौजूद हैं। उन्होंने अपने दर्शन में विश्व की तमाम अच्छाइयों को स्वीकार किया। यह भी कहा जा सकता है कि कबीर के आविर्भाव से पहले धर्म को वर्ग विशेष की बपौती बना दिया गया था। कबीर ने तमाम बंधनों और शृंखलाओं को तोड़ डाला। उन्होंने बहुत निकट से महसूस किया कि पोथियों के धर्म से मनुष्य का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है। कबीर ने तत्कालीन समाज में चल रहे संघर्ष को नई दिशा दी। इससे मानव–धर्म का रास्ता स्पष्ट हुआ। कबीर के लिए मानव–धर्म ही सर्वोच्च है। कबीर के मानवतावादी होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने समाज के दबे–कुचले और गिरे हुए लोगों को अपने साथ बिठाया और उन्हें बराबरी पर लाकर खड़ा कर दिया। कबीर सच्चे अर्थों में जनता के उस वर्ग के समर्थक थे जिन्हें दलित कहकर पुकारा जा रहा था।

कबीर आत्मवादी हैं, लेकिन वे देह के अस्तित्व से इनकार नहीं करते। वे देह और आत्मा के बीच समन्वय की बात करते हैं। यदि कबीर समाज को छोड़ने की बात करते, इसे त्याज्य बताते तो फिर वे इसके सुधार के बारे में चिंतित न होते। वे जनहित में समता के पक्षधर हैं। आत्मवादी होने के साथ वे समाजवादी भी हैं और नए विचारों को हमेशा सहजता से स्वीकार करते हैं।

कुछ विद्वानों ने कबीर के साहित्य में साम्यवाद को ढूँढने का प्रयास किया है, लेकिन सैद्धांतिक दृष्टि से कबीर साम्यवादी नहीं हैं। साम्यवाद केवल सांसारिक दृष्टि से जीवन को सुखी बनाने की बात करता है। जबकि कबीर आत्मा की उन्नति और ईश्वर के मिलन की बात पर भी ज़ोर देते हैं। वे समाज को व्यापक दृष्टि से देखते हैं। भौतिक सुख और साधन उनका मकसद नहीं है। वे समाज के लिए भी ऐसा सपना देखते हैं जहाँ शांति और प्रेम हो।

10.3.5 कबीर की वैश्विक दृष्टि

कबीर की सामाजिक दृष्टि वैश्विक है। इसमें किसी भेदभाव के बिना सभी को समान स्थान प्राप्त है। वे विषमताओं को समाप्त करना चाहते हैं। उनका ज़ोर इस बात पर है कि विषमताओं की समाप्ति के लिए व्यक्ति श्रम को महत्त्व दे। उन लोगों पर भी कबीर की निगाह है जो समाज की कमज़ोरियों या मतभेदों से फायदा उठाने का प्रयास कर रहे हैं। कबीर सत्य के अन्वेषी हैं। उनका पूरा जीवन सत्य के प्रयोगों से भरा हुआ है। उनके पास सत्य–असत्य को जांचने की विलक्षण शक्ति है। कबीर का कार्य इस रूप में भी महान् है क्योंकि वे सत्य के पक्ष में खड़ा होने की हिम्मत दिखाते हैं। उन्होंने समाज के हित में जटिल और गूढ़ विषयों को भी सहज और सरल रूप में प्रस्तुत किया। कबीर ने विचार और व्यवहार, दोनों स्तरों पर समाज को दिशा देने का सार्थक और सफल प्रयास किया।

कबीर की कविता कला की कसौटी पर भले ही कहीं कमज़ोर दिख जाए, लेकिन जन–पक्षधरता के मामले में उनका कोई सानी नहीं है। वे सुकुमारता के पक्षधर नहीं हैं। उनकी सोच और रुचि खरी–खरी बात कहने की है। उनके सामने सबसे बड़ा उद्देश्य व्यक्ति और समाज को राह पर लाना है। इस कार्य में कविता साधन की तरह है, न कि साध्य की तरह।

कबीर की कविता में शिक्षा और सदुपदेश सहजता से प्रकट होता है। लेकिन कई बार यह गहरी चोट भी करता है। कबीर की कविता अंतर्मुखी है, लेकिन उसका क्षेत्र संकीर्ण नहीं है। कबीर अपने काव्य में समाज के तमाम पहलुओं को उठाते हैं। ''उन्हें अर्थहीन आचार पसंद नहीं थे, चाहे वे बड़े से बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च से उच्च समझी जाने वाली धर्म पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्माचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसंद नहीं थी। वे इससे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। परंतु वे मनुष्य मात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे। जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय–प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधभास यह है कि उन्हें हज़ारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय–विशेष के प्रवर्तक मानने में ही गौरव का अनुभव करते हैं।''[3]

10.3.6 कबीर का समन्वयवाद

कबीर ने हिंदुओं–मुसलमानों के बीच समन्वय के जो बिंदु जोड़े हैं, वे उनकी महान् देन हैं। वे राम और रहीम के बीच उच्च स्तर की एकता स्थापित करते हैं। शायद यही कारण है कि दोनों सम्प्रदायों में उनके अनुयाईयों की काफी बड़ी संख्या है। कबीर दोनों सम्प्रदायों में एकता की स्थापना के लिए उच्च स्तर के प्रयास करते हैं। लेकिन इसके पीछे उनका मकसद किसी नए सम्प्रदाय की सृष्टि करना नहीं है। वे दोनों धर्मों की उन श्रेष्ठताओं की खिल्ली उड़ाते हैं जो महज बाह्याचार है।

कबीर के समाज–दर्शन में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि उनकी एकांतिक–साधना और लोक–कल्याण की प्रवृत्ति में कोई सैद्धांतिक विरोध नहीं है। समाज की जिन परंपराओं का वे खंडनात्मक विरोध करते हैं, उसके पीछे लोक–कल्याण का भाव ही प्रबल है। वे श्रेष्ठता के दंभ पर भी प्रहार करते हैं।

कबीर ने समकालीन–समाज विकृतियों एवं सुधार आदि के विषय में जो कुछ कहा है वह बहुत व्यवस्थित नहीं है, बल्कि उनके काव्य में इधर–उधर फैला हुआ है। उन्होंने सामाजिक विकृतियों के सम्बंध में दो प्रकार की दृष्टि अपनाई है। एक, केवल विकृतियों का खंडन किया है और दूसरे विकृतियों के खंडन के साथ उनका हल या परिष्कृत रूप भी प्रस्तुत किया है।

कबीर ने अपने रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक तथा व्यावसायिक दोनों उद्देश्यों को साधा है। इसलिए उनके काव्य के सामाजिक पक्ष पर विचार करते वक्त आध्यात्मिक सीमाओं को भी स्वीकार

करना पड़ेगा। कबीर के बारे में विद्वानों ने अलग प्रकार की राय व्यक्त की है। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने कबीर रचनावली के 'अनुबन्ध' में उन्हें समाज का निंदक तक कह डाला। जबकि कुछ ने उनके काव्य में साम्यवाद, समाजवाद, गांधी–दर्शन, सर्वोदय–सिद्धांत आदि को ढूंढ़ा। इन सभी विश्लेषकों–शोधार्थियों ने एक बात को समान रूप से स्वीकार किया, वह यह कि कबीर समाज के हालात को लेकर चिंतित थे और वे व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के साथ समाज का भला भी चाहते थे। कबीर से पूर्व के संतों और रचनाकारों ने संन्यास–आश्रम को बेहद महत्त्वपूर्ण माना है, लेकिन कबीर घर–बार छोड़कर ईश्वर की खोज में भटकने के हिमायती नहीं हैं –

'हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सौं ल्यो लाइ।

कबीर कहते हैं कि जो संसार में भोग रहे हैं, यदि वही सब कुछ संन्यास में भोगना है, तो फिर संसार क्या बुरा है। वे गृहस्थ जीवन का विरोध नहीं करते, लेकिन गृहस्थ जीवन का अर्थ संसार में लिप्त हो जाना नहीं है। कबीर विवाह को बाधा नहीं मानते और न ही संतति पैदा करने को गलत मानते हैं –

'कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया बैसनों पूत।

राम सुमरि निरभै हुआ सब जग गया अपूत।।

कबीर पारिवारिक सम्बन्धों को दुःख का कारण भी मानते हैं। लेकिन इसके पीछे वे परिवार को छोड़ने का उपदेश नहीं देते। बल्कि उनकी दृष्टि मानवात्मा की संपूर्ण मुक्ति की है। कबीर के काव्य में गृहस्थ के कार्यों, अतिथि सत्कार, दान–दक्षिणा, श्रम का विभाजन, सामाजिक–पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक नियन्त्रण, नारी का स्थान व नारी के प्रति दृष्टि, संस्कार, शिक्षा, कुरीतियां और अंध–विश्वास आदि का वर्णन मिलता है।

10.4 सारांश

वास्तव में कबीर ऐसे समाज के निर्माण का स्वप्न देखते हैं जो बराबरी पर आधारित हो, वैषम्य से रहित हो, उसमें बाह्य आचारों की प्रधानता न हो। शोषण से मुक्त हो और समाज के कल्याण के साथ व्यक्ति के कल्याण के प्रति भी जागरूक हो।

10.5 कठिन शब्द

(1) विश्लेषक

(2) व्यवस्थित

(3) निरर्थक

(4) अंतर्मुखी

(5) आविर्भाव

(6) संप्रदाय

(7) उद्‌घाटित

(8) अवनति

(9) दुर्बोध्य

(10) यथार्थ

10.6 संदर्भ सूची

1. भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ, यज्ञदत्त, पृष्ठ 29
2. भक्ति साहित्य के आधार स्तम्भ, यज्ञदत्त, पृष्ठ 114
3. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 219

10.7 उपयोगी पुस्तकें

1. कबीर की विचारधारा – गोविन्द त्रिगुणायत
2. कबीर मीमांसा – डॉ० रामचन्द्र तिवारी
3. कबीर साहित्य की परख – परशुराम चतुर्वेदी
4. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कबीर–काव्य के सामाजिक पक्ष का विवेचन कीजिए।

2. कबीर को समाज–सुधारक कहना कहाँ तक उचित है? स्पष्ट कीजिए।

3. 'कबीर सच्चे अर्थों में समाज सुधारक थे।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

~~~
~~~

कबीर का काव्य शिल्प

11.0 रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 कबीर का काव्य शिल्प

11.3.1 भाषा

11.3.2 प्रतीक

11.3.3 उलटबासियाँ

11.3.4 शैली

11.3.5 अलंकार

11.3.6 छंद विधान

11.4 सारांश

11.5 कठिन शब्द

11.6 संदर्भ सूची

11.7 उपयोगी पुस्तकें

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.1 उद्देश्य

- कबीर के भाषा शिल्प की जानकारी प्राप्त करना।
- यह जानकारी प्राप्त होगी कि कबीर समाज सुधारक के साथ–साथ मुंहफट और खरी–खरी कहने वाले कवि थे।
- कबीर के काव्य में सहज प्रवाह और नैसर्गिक अभिव्यंजना हुई है, इसकी जानकारी प्राप्त करना।
- कबीर अनुभव लोक से जुड़े हैं, इसके प्रति अवगत होना।

11.2 प्रस्तावना

कबीर मुँहफट और खरी–खरी कहने वाले कवि हैं। उनको इस बात की चिंता नहीं है कि समाज क्या कहेगा? उनकी चिंता समाज को सीधे रास्ते पर लाने की है। जब वे अपने भावों को प्रस्तुत करते हैं तो उनका उद्देश्य काव्य की प्रस्तुति करना नहीं, वरन सदुपदेश करना होता है। यदि सदुपदेश की यह प्रक्रिया अच्छे काव्य में प्रस्तुत हुई है तो यह कबीर की अतिरिक्त योग्यता का प्रमाण है।

11.3 कबीर का काव्य शिल्प

यदि काव्य का तात्पर्य अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस अथवा अन्य काव्यशास्त्रीय आधार पर रचना करना है तो निश्चित ही कबीर का स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। लेकिन यदि विचारों/भावों की सरस और सहज अभिव्यक्ति को काव्य माना जाए तो कबीर श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में आते हैं।

कबीर ने भाषा, प्रतीक, अलंकार, रूपक शैली, उलटबासी, छंद और बिम्ब के स्तर पर सुंदर और प्रभावी प्रयोग किए हैं। उनके काव्य में विचारों/भावों की पुनरावृत्ति है, लेकिन केवल इसी आधार पर उनके काव्य को सामान्य श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। कबीर के काव्य में विचारों का सहज प्रवाह और नैसर्गिक अभिव्यंजना है। वे श्रोता या पाठक को रससिक्त करने की योग्यता रखते हैं। यही उनके शिल्प–विधान की सबसे प्रमुख विशेषता है। कबीर का सारा प्रयास परम सत्य की खोज का है। इसलिए चाहे भाषा के प्रयोग की बात हो अथवा शैली की, या गुणों, शब्द–शक्तियों, अलंकारों, बिम्बों–प्रतीकों के प्रयोग की, कबीर अपने मूल उद्देश्य से अलग नहीं होते। कबीर का 'अनगढ़' शिल्प–विधान उन्हें जनमानस का कवि बनाता है। वे क्रांतिकारिता के प्रतीक बन जाते हैं। उपर्युक्त सदंर्भों को दृष्टि में रखते हुए कबीर काव्य के प्रमुख पक्षों पर विचार करने पर अनेक नई बातें सामने आती हैं। उन्हें इन रूपों में देखा जा सकता है –

11.3.1 भाषा –

भाषा कबीर के भावों के आगे–आगे दौड़ती है। उनका काव्य भाषा के लिए नहीं है वरन् भाषा उनके काव्य की सहचरी है। उनकी भाषा को अटपटी, सधुक्कड़ी और पंचमेल खिचड़ी तक कहा गया। लेकिन यथार्थ यह है कि उनकी भाषा आम आदमी पर केंद्रित है। आम आदमी की समझ में आने वाली

भाषा है। इसमें दो राय नहीं कि कबीर की भाषा सुगढ़ और साहित्यिक नहीं है तथा भक्त कवियों जैसी रसपूर्णता भी उसमें नहीं है।

उलटबासियों आदि में तो उनकी भाषा कर्कश भी हो गई है। लेकिन सच्चाई यह है कि अलंकारहीनता और कर्कशता भी कबीर की भाषा का गुण बन गया है। वे जैसी खरी और सीधी बात कहते हैं उसे कलात्मक, व्याकरण आधारित, रसपूर्ण और कोमलकांत पदावली में कहा जाना संभव नही है। कबीर की भाषा के बाह्य पक्ष को समझ लेना आसान है लेकिन इसके आंतरिक पक्ष तक पहुँच पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। ''कठिनाई कबीर की भाषा के अंतर पक्ष को समझने में है। वे भाषा में संवेदना का इतना गहरा ताना–बाना बुनते हैं कि सब उसी में समा जाता है। इनकी भाषा संस्कृत नहीं है। विचारों में उपनिषद के पास रहकर भी भाषा में उपनिषद भाषा का गठन नहीं है। पुराणों जैसा विस्तार भी नहीं है।''[1]

कबीर के अनुभव लोक से जुड़े हुए हैं। उनका भाषा संस्कार भी लोक–जीवन का ही है। कबीर पढ़े–लिखे नहीं हैं। इसलिए वे भाषा को उसी रूप में आगे बढ़ाते हैं जिस रूप में उसे ग्रहण किया है। उनकी भाषा लोक रूप में प्रवाहमान भी हो जाती है। कबीर कवि होने से पहले समाज सुधारक हैं। यदि उनका कवि पक्ष अधिक प्रभावी होता तो निश्चित ही उनकी भाषा भी साहित्यिक हो जाती। लेकिन समाज–सुधारक कबीर लोगों और समाज को दिशा देने के कार्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए वे समाज से मिली सहज भाषा में भाव–अभिव्यक्त करते चलते हैं। कबीर ने वही कहा जो अनुभव किया। उनके लिए समाज का मंगल कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर का ज़ोर कथनी और करनी की समानता पर है। यह समानता उनकी भाषा में भी दृष्टिगोचर होती है।

कबीर का प्रत्येक शब्द भावपूर्ण और सारगर्भित है। उनके काव्य में कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। सामान्य दिखने वाले शब्द भी विशिष्ट और असामान्य अर्थ के द्योतक हैं। कबीर के सामने भाषा के चमत्कार–प्रदर्शन का सवाल नहीं था। यह भी संभव है कि वे भाषा के व्याकरणिक और साहित्यिक रूप से परिचित न हों। उनके काव्य में जिन काव्यांगों की प्रस्तुति हुई है वह सहज रूप में हुई है।

कबीर पर संध्या–भाषा के प्रयोग का आरोप भी लगा। लेकिन उन्होंने किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया जो समाज से बाहर का हो या उसकी समाज में स्वीकार्यता न हो। उनकी भाषा में जहाँ दुरूहता और प्रतीकात्मता आयी है, वह पारिभाषिक और आध्यात्मिक शब्दों के कारण आयी है। कबीर 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' कहकर पहले ही अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं। यह श्रेय कबीर को ही जाता है कि उन्होंने भाषा को 'बहता नीर' बनाया। उसको गति दी। लोक जीवन के शब्दों को स्वीकार करके उनको प्रतिष्ठा दी। उन्होंने संस्कृत या संस्कृतनिष्ठता के एकाधिकार को तोड़ा। उनकी भाषा भविष्य की भाषा थी और यह बात आगे चलकर सही साबित हुई। आज 'हिन्दुस्तानी' का जो स्वरूप है, उसका प्रारम्भिक रूप कबीर की भाषा में मिलता है। लोक से जुड़े होने के कारण कबीर के पास शब्द–भण्डार की कमी नहीं है। वे कई स्थानों पर भाषा को बेहद पैनेपन के साथ इस्तेमाल करते हैं। इससे स्वतः ही यह

स्पष्ट है कि कबीर को शब्दों की गंभीरता और उनकी मारक क्षमता का भली प्रकार ज्ञान था। ''भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वह वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है, बन गया है तो सीधे–सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नज़र आती है उसमें मानों ऐसी हिम्मत नहीं कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को पूरा नहीं कर सके और अकथ कहानी का रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।''[2]

कबीर का काव्य भाषायी विविधता का जीवंत प्रतीक है। उसमें देशी–विदेशी कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। जब वे भक्तों को समझाते हैं तो उनकी भाषा सहज हो जाती है। लेकिन जब वे मुल्ला, पंडे–पुजारियों को फटकारते हैं तो उसमें अक्खड़ता और उग्रता के दर्शन होने लगते हैं। बहुक्षेत्रीय शब्दावली उनकी भाषा की सुंदरता को बढ़ाती है।

अर्थ की दृष्टि से कबीर की भाषा बहुत गंभीर है। उसमें कहीं किसी प्रकार की आरोपित खींचतान दिखाई नहीं देती। कबीर के भीतर बैठा संत इस बात को अच्छी प्रकार से जानता है कि किस प्रकार के भाव के लिये कैसी शब्दावली की ज़रूरत है। कबीर ने समुद्र, मछली, जागरण, कुंडलिनी, पेड़, सियार, सिंह, कमल, आंधी, कुंभ, चंद्र, सूर्य, गगन, पृथ्वी, सेवक, गुलाम, आत्मा, वस्तु आदि को नए अर्थों और संदर्भो के साथ ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावी बनाने के लिए तीनों शब्द शक्तियों– अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का इस्तेमाल किया है।

कबीर की भाषा संवाद की भाषा है। उसमें संवादात्मकता बड़े गुण के क्रम में मौजूद है। यह कहना भी समीचीन होगा कि कबीर की भाषा को सही संदर्भों में समझने के लिए उनके दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों को जानना बहुत जरूरी है। इसके बिना उनकी उलटबासियों को समझना असम्भव ही होगा। कबीर ने अपनी सुविधा के लिए शब्दों को खूब तोड़ा–मरोड़ा। इससे बाद की भाषा में शब्दों के परिवर्तित रूप भी प्रचलित हो गए।

11.3.2 प्रतीक –

भक्त, ईश्वर के साथ साक्षात्कार में असीम आनंद का अनुभव करता है। कबीर जैसा भक्त इन अनुभूतियों को काव्य–रूप में प्रस्तुत करता है। लेकिन अक्सर ऐसा होता है जब आलौकिक अनुभूतियों की लौकिक प्रस्तुति नहीं हो पाती। यह गूंगे के गुड़ जैसी स्थिति है। इस आलौकिक अनुभूति की प्रस्तुति के लिए प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। प्रतीकों के माध्यम से अमूर्त को मूर्त रूप दिया जाता है। प्रतीक की सर्वाधिक सार्थकता भी इसी बात में है कि वह शब्दातीत अनुभूति को बड़ी हद तक प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। ''प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। ..... किसी वस्तु के मेल में उपमान खड़ा करने का उद्देश्य यही होता है कि उस वस्तु के सौंदर्य आदि की जो भावना है, उसे उत्कर्ष प्राप्त हो। अतः सच्ची परख वाले कवि अप्रस्तुत या

उपमान के रूप में जो वस्तुएं लेते हैं, उनमें प्रतीकत्व होता है।''[3]

अप्रस्तुत की प्रस्तुति के अलावा, कबीर ऐसी चीज़ों के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, जिन्हें वे प्रथम दृष्टया उद्घाटित करने के पक्ष में नहीं होते। कबीर की उलटबासियाँ इसी बात की द्योतक हैं। कबीर ने भावनाओं को मूर्त रूप देने के अलावा भक्तों की कौतूहल वृत्ति को जागृत करने के लिए भी प्रतीकों का सहारा लिया है। कबीर के काव्य में प्रधानतः दो प्रकार के प्रतीक मिलते हैं –

1. साम्य मूलक
2. विरोध मूलक

विद्वानों ने कबीर की रहस्य–अनुभूतियों की प्रतीकों द्वारा प्रस्तुति को तीन रूपों में देखा है –

1. चेतन–अचेतन की समरसता के प्रतीक। जैसे 'जल में कुंभ, कुंभ में जल'।
2. जीवन की सामान्य वस्तुओं के माध्यम से अनंत की कल्पना। कबीर के सहस्रदल कमल, गंग–जमुन तथा चंद्र–सूर्य इसी प्रकार के प्रतीक हैं।
3. मानवीय सम्बन्धों के रूप में परमतत्त्व की कल्पना करना। जैसे पिता–पुत्र, स्वामी–सेवक तथा पति–पत्नी आदि सम्बन्धों की कल्पना।

कबीर ने असीम, अनंत, अरूप, अगोचर और परमतत्त्व आदि अनेक प्रतीकात्मक शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त किए हैं। कबीर ने लौकिक जीवन से अनेक प्रतीक लिए हैं। उन्होंने निम्नलिखित साहित्य से भी प्रतीकों को ग्रहण किया है –

1. साम्य मूलक साहित्य
2. सूफी साहित्य
3. नाथ–सिद्ध योगियों का साहित्य
4. बौद्ध पंथ साहित्य
5. लौकिक जीवन सम्बन्धी साहित्य

कबीर ने ईश्वर के लिए राम, पिव, गोबिंद, कंत, भरतार, साथी, सांई, सांईया, सागर, हरि, पति, साहिब रमइया, खुदा, गुसांई, रहीम, कुम्हार, जगदीश आदि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। प्रतीकों के प्रयोग की दृष्टि से कबीर का दृष्टिकोण व्यापक और सारग्राही है। जीव, माया, जगत आदि के सम्बन्धों को दिखाने के लिए भी उन्होंने विविध प्रतीकों का प्रयोग किया है।

कबीर ने उलटबासियों में माया के लिए गंग, बिलाई व बुढ़िया आदि का प्रयोग भी किया है।

कबीर ने मानवीय सम्बन्धों में परमतत्व की कल्पना की सुंदर प्रस्तुति की है। कबीर ने 'दुलहनी गावहु मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार' में लौकिक विवाह को आलौकिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है। कबीर ने कुछ स्थानों पर योगसाधनात्मक पारिभाषिक प्रतीकों तथा संख्यावाची प्रतीकों का भी प्रयोग किया है।

कबीर की उलटबासियों में विरोधमूलक प्रतीक–योजना कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है –

"एक सुहागिनि जगत पियारी,सकल जीव जंत की नारी।

खसम मरै व नारि न रोवै, उस रखवाला औरे होवै।।

कबीर ने व्यापार, व्यवसाय, गृहकार्यों एवं प्राकृतिक गतिविधियों को भी प्रतीक बनाया है।

11.3.3 उलटबासियाँ –

उलटबासियों को भाव–प्रकाशन की विशिष्ट शैली माना जाता है। यह शैली संत साहित्य में प्रचलित थी। कबीर ने इसका खूब प्रयोग किया। उलटबासी के भाव या अर्थ को महज शाब्दिक आधार पर ग्रहण नहीं किया जा सकता। उलटबासियों में प्रायः वस्तु या प्रकृति के धर्म को उलटकर प्रस्तुत किया गया है। ऐसे में सीधे–सपाट ढंग से इसके अर्थ को समझना असंभव है।

जब कबीर 'नाव बिच नदिया डूबी जाय' या 'बरसे कंबल, भीजे पानी' कहते हैं तो सामान्य संदर्भों में यह बात कुछ उलट दिखाई पड़ती है। ऐसी उक्तियों को ही उलटबासियों की श्रेणी में रखा गया है। कबीर के समय में सीधे ढंग से ईश्वर के बारे में जो बातें कही गईं, संभवतः वे लोगों को ज्यादा रुचिकर नहीं लगीं। इसलिए ईश्वरीय सत्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि उसे पाने या ढूँढने में लोगों को शारीरिक के साथ मानसिक प्रयास भी करना पड़े। हाँलांकि पारिभाषिक और प्रतीकात्मक शब्दों की भरमार के कारण उलटबासियों को समझना दुरूह भी साबित हुआ। लेकिन यह भी सत्य है कि एक बार प्रतीकों का अर्थ समझ लेने पर उलटबासियों के गूढ़ अर्थ को समझने में कठिनाई नहीं होती। कबीर ने अपनी उलटबासियों में सांसारिक प्रपंच, सहजानुभूति, ज्ञान–विरह, आत्म तत्त्वान्वेषण, माया, काल, सृष्टि तथा मन आदि विषयों का गूढ़ विवेचन किया है और गृह, वन, शरीर, प्राकृतिक कार्य–व्यापार एवं व्यावसायिक प्रतीकों को माध्यम बनाया है।"[4]

उलटबासी में एक अविश्वसनीय कल्पना संसार की रचना होती है। पहली दृष्टि में तो यही लगता है कि कबीरदास अतार्किक और अनावश्यक बात कह रहे हैं। लेकिन ज्यों–ज्यों गहरे पैठते हैं तो उसका अर्थ समझ में आने लगता है।

क्या कोई ऐसा पुत्र भी हो सकता है जो अपने बाप से पहले उत्पन्न हुआ हो – 'पहले जन्म पूत का भयउ, बाप जनमिया पाछै' – इस बात पर जब गंभीरता से विचार करते हैं तो पाते हैं कि 'पुत्रत्व कोई प्रारंभिक या अंतिम स्थिति नहीं है। वह बीच की स्थिति है। वह ऐसी कड़ी है जो पुत्र होने के साथ पिता को पैदा करने की क्षमता रखती है।

कबीर की उलटबासियों को समझने के लिए गंभीर अध्ययन की ज़रूरत है। सामान्य ढंग से समझने पर उलटबासी से अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। कबीर जब गो–मांस भक्षण और वारुणी पीने की बात करते हैं तो इसका अर्थ जिह्वा को ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाकर अमृत का पान करने से है। सहजयानियों की ऐसी उलटबासियों को संध्या भाषा भी कहा जाता था। संध्या भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाए हैं। हठयोग प्रदीपिका, शिव संहिता और घेरंड संहिता आदि ग्रंथों के उपमानों द्वारा इन उलटबासियों के अर्थ समझने में सुविधा हो सकती है।

उलटबासियों में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, उनके अर्थ हमेशा समान रहें ऐसा नहीं है, जैसे मन के लिए कहीं सियार, कहीं मीन, कहीं मतंग और कहीं निरंजन का प्रयोग किया गया है। ऐसी कई उलटबासियाँ हैं, विद्वानों ने जिनके अर्थ अलग–अलग प्रस्तुत किए हैं। जैसे –

''संतो, जागत नींद न कीजै।

काल न खाय, कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै।

उलटि गंग समुद्रहिं सोखै, ससि और सूर गरासै।

नवग्रह भारि रोगिया बैठे, जल में बिम्ब प्रकासै।।

बिना पियाला अमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै।

कहै कबीर सो जुग–जुग जीवे, राम सुधा रस चाखै।''

उलटबासियों में जिन चमत्कारपूर्ण उक्तियों का प्रयोग किया गया है, उनसे सभी पर अर्थ का उत्कर्ष नहीं हो पाया है वरन् अर्थ बोझिल और अस्पष्ट हो गया है। प्रतीकों, रूपकों आदि की दृष्टि से कबीर की उलटबासियों का निर्विवाद रूप से हिंदी भक्ति साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

11.3.4 शैली –

संस्कृत में शैली के लिए 'रीति' और अंग्रेज़ी में 'स्टाइल' शब्द का प्रयोग किया गया है। हिंदी में जिस अर्थ और संदर्भ के साथ शैली का प्रयोग किया जा रहा है, वह स्टाइल के अधिक निकट है। निर्वैयक्तिता को काव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता माना जाता है, लेकिन निर्वैयक्तिकता का

घटित होना प्रायः असंभव होता है। किसी भी कृति की भाषा, उसकी शैली पर कवि के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। अपनी बात को कहने या किसी विषय को प्रस्तुत करने के लिए साहित्यकार को उपयुक्त शब्दों का चुनाव करना होता है और उन्हें एक योजना के तहत प्रस्तुत करना होता है।

कबीर ने अन्य संत कवियों की तरह ही मुक्तक रचना–शैली को अपनाया है। यह शैली उनकी अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए प्रत्येक दृष्टि से उपयुक्त साबित हुई है। भक्त कवियों ने प्रायः अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए किसी अवतार या दैवीय पात्र को माध्यम बनाया है, इससे उनके काव्य की सीमाएँ भी तय हो जाती हैं। जबकि मुक्तक रचना शैली में भावों की सीमा बंधनों से मुक्ति के साथ प्रस्तुत हुई है।

कबीर ने अपनी अभिव्यक्ति को भाषा की अनुचरी नहीं बनने दिया। उनकी सबसे बड़ी शैलीगत विशेषता यह है कि उनका प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण है।

प्रायः सभी स्थानों पर कबीर की भाषा सरल और सुबोध है लेकिन वह प्रभावोत्पादक भी है। जहाँ कबीर गूढ़ार्थ की अभिव्यंजना करना चाहते हैं वहाँ उन्होंने रूपकों और प्रतीकों का सहारा लिया है। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित दूसरी भाषाओं के शब्दों, मुहावरों आदि को स्वीकार करने में भी संकोच नहीं किया। इससे उनकी शैली और भी निखर कर सामने आयी है।

कबीर की शैली में सौंदर्य बोध, कल्पना और भावुकता का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। कबीर ने मुक्तक शैली के विविध रूपों का सहजता से प्रयोग किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीर ने अपने काव्य में दोहा–शैली, पद–शैली, दोहा–चौपाई (रमैणी), बावन आखरी, सप्तवार, तिथि और ऋतुवर्णन आदि वर्णनात्मक शैलियों का प्रयोग किया है।

कबीर ने भाव के साथ शैली का निकट सम्बन्ध बनाए रखा है। भावों की प्रस्तुति के आधार पर अभिव्यंजना शैली के भी कई प्रकार हो सकते हैं। डॉ० सरनाम सिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत' में कबीर की कई शैलियों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं – सामान्य निरूपण शैली, साक्ष्य प्रस्तुतीकरण शैली, प्रसंग शैली, कथा शैली, वर्णन शैली, निषेध शैली, प्रशंसात्मक शैली, उपालंभ शैली, प्रतीक शैली, अलंकार शैली, संवादात्मक शैली, आत्मप्रकाशन शैली, प्रबोधन शैली, विवश्ता (दैन्य) प्रकाशन शैली आदि।

शैली के चार गुण माने जाते हैं – ओजस्विता, सजीवता, प्रौढ़ता और प्रभावशीलता। कबीर के काव्य में इन चारों गुणों की प्रस्तुति मिलती है। कबीर 'शैली' के प्रति चिंतित या अतिरिक्त रूप से जागरूक दृष्टिगोचर नहीं होते। उन्होंने अपनी वाणियों में अनायास ही व्यंजना का सुंदर रूप प्रस्तुत किया है।

इसलिए कबीर शैली की दृष्टि से भी संत–कवियों में विशिष्ट हो जाते हैं।

11.3.5 अलंकार –

भाषा को मधुर, भावों को प्रभावी और अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। अलंकार का यही धर्म माना गया है कि वह काव्य को उत्कृष्टता प्रदान करे। संस्कृत के आचार्यों ने अलंकारों की अनिवार्यता पर ज़ोर दिया है। अलंकारहीन काव्य को निम्न श्रेणी का काव्य माना गया है।

कबीर का ज़ोर सहज भावाभिव्यक्ति पर रहा है। कबीर को उस संदर्भ में कवि नहीं माना जा सकता जैसे कि जायसी या बिहारी। कबीर कवि होने से पहले भक्त हैं। वे कलात्मक अभिव्यंजना के लिए काव्य रचना नहीं करते, बल्कि अपनी अनुभूतियों को सहज और प्रभावी ढंग से लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं। ''उनकी अभिव्यंजना में जो सौन्दर्य, आकर्षण और वैचित्र्य विद्यमान है, सहज एवं भाव–सहजात है। उनकी भाषा उनके हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार मात्र है। इसीलिए उनके साहित्य में प्राप्त होने वाले अलंकार भी स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। वाणी–विलास के प्रदर्शन हेतु नहीं।''[5]

कबीर के लिए अलंकार कभी अनिवार्य नहीं रहे, न ही वे वाणी के बनाव – शृंगार की जरूरत महसूस करते हैं। यदि कहीं अलंकार की प्रस्तुति हुई है तो वह सहज रूप में ही हुई है। कबीर की यह सहज प्रस्तुति भी काफी व्यापक है। कबीर के काव्य में मुख्य रूप से अनुप्रास, यमक, पुनरूक्ति वीप्सा, पुनरूक्तवदाभास, श्लेष, कारक–दीपक, देहली–दीपक, परिकर, परिकरांकुर, भेदकातिशयोक्ति, कारणमाला और एकावली इत्यादि अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। इन अलंकारों के प्रयोग से भाषा की चारुता, संप्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता में अतिशय वृद्धि हुई है।

कबीर के काव्य में शब्द, अर्थ एवं उभय तीनों प्रकार के अलंकार मिलते हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

अनुप्रास –

कबीर खाई कोट की, पाणी पिवै न कोइ।

जाइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ।।

वीप्सा –

भलै नींदौ भलै नींदौ भलै नींदौ लोग

तन मन राम पियारे जोग।

यमक –

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजैं सोइ।।

पुनरुक्ति –

धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिल्यौं न आये रे।

उपमा –

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ।।

रूपक –

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि भुवै पडंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान थै, एक आध उबरंत।।

दृष्टांत –

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भुवंग मुष, एक बूँदु तिंहु भाइ।।

उत्प्रेक्षा –

साषत बांमण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल।।

अतिशयोक्ति –

'आंखडियाँ झाईं पड़ीं, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि।।

मानवीकरण –

'कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठि करि, तब लागी डोलै साथि।'

अन्योक्ति –

'रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी उगे सूरि।।'

कबीर के काव्य में लगभग पचास प्रकार के अलंकारों का प्रयोग मिलता है। इनमें ऐसे अलंकार ज़्यादा हैं जिन्हें सामान्य जन सहजता से ग्रहण कर सकता है।

11.3.6 छंद विधान –

कबीर की वाणी सहज स्फूर्त है। उनके काव्य में कहीं यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि वे काव्य शास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप काव्य रचने की कोशिश में लगे हैं। इस कोशिश के न होने के बावजूद उनके काव्य में लयात्कता और नादात्मकता मौजूद है। चूंकि उनके प्रायः सभी पद गेय श्रेणी में हैं, इसलिए उनकी रचना में छंदविधान का पालन भी हुआ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कलात्मकता की दृष्टि से छंदों का विशिष्ट महत्त्व है। छंदोबद्ध काव्य–रचना की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक ग्रंथों में गायत्री, त्रिष्टुप, जगती आदि तथा लौकिक संस्कृत में मंदाक्रांता, शार्दूल विक्रीड़ित, शिखरिणी आदि छंदों का विधान हुआ है। हिंदी में दोहा, चौपाई, सवैया, बरवै, इंद्रवज्रा, छप्पय, हरिगीतिका, सोरठा, रोला, कुंडलियां आदि अनेक छंदों का प्रयोग मिलता है।

कबीर ने अपने काव्य में ज्यादातर प्रचलित छंदों का ही प्रयोग किया है। कबीर के समय में दोहा, चौपाई, सार आदि छंद प्रचलन में थे। इसलिए कबीर के काव्य में ये बहुतायत में मिलते हैं। साखियों में दोहा, सोरठा का कबीर ने खूब प्रयोग किया है। इसका कारण यह रहा कि इस छंद में बड़ी से बड़ी बात को प्रभावी ढंग से कहा जा सकता है। कबीर ने रमैनियों में चौपाई छंद का प्रयोग किया है। कबीर के 'सबद' अधिकतर राग–रागनियों और पदों के रूप में हैं। इनके अतिरिक्त कबीर के काव्य में चौतीसी, विप्रबतीसी, कहरा, हिंडोला, बसंत, चांचर, बेलि, बिरहुली आदि छंदों का भी प्रयोग हुआ है। कबीर को लोकछंद भी प्रिय हैं। उन्होंने लोक–छंदों में राग–रागनियों का प्रयोग भी किया है पर कबीर का छंद विधान किसी चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं है बल्कि उन्होंने छंदों को सहज रूप में स्वीकार किया है।

11.4 सारांश

इस तरह कबीर का काव्य शिल्प–विधान की कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है।

11.5 कठिन शब्द

(1) विशिष्ट
(2) अभिव्यंजना
(3) अनिवार्य

(4) भावाभिव्यक्ति

(5) ओजस्विता

(6) सजीवता

(7) प्रौढ़ता

(8) निर्वैयक्तिकता

(9) दुरूहता

(10) नैसर्गिक

11.6 संदर्भ सूची

1. कबीर समग्र, डॉ० युगेश्वर, पृष्ठ 129
2. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 126
3. चिन्तामणि (भाग – दो) रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 100
4. मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना, डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृष्ठ 509
5. संत साहित्य, डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल, पृष्ठ 358

11.7 उपयोगी पुस्तकें

1. कबीर की भाषा – डॉ० महेन्द्र कुमार
2. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी
3. कबीर साहित्य की परख – परशुराम चतुर्वेदी
4. कबीर मीमांसा – डॉ० रामचन्द्र तिवारी
5. कबीर : एक नयी दृष्टि – डॉ० रघुवंश

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कबीर की काव्य–कला का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

2. कबीर काव्य के शिल्प विधान की समीक्षा कीजिए।

3. कबीर काव्य की कलापक्षीय विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

~~~
~~~

सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान

12.0 रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान

12.3.1 सन्तकाव्य

12.3.2 भारतीय धर्म साधना में सन्त कवियों का स्थान

12.3.3 'सन्त' से तात्पर्य

12.3.4 सन्त–परम्परा

12.3.5 सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान

12.4 सारांश

12.5 कठिन शब्द

12.6 संदर्भ सूची

12.7 उपयोगी पुस्तकें

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.1 उद्देश्य

- सन्त शब्द को समझना/जानकारी प्राप्त करना।
- सन्त काव्य की जानकारी प्राप्त करना।
- सन्त कवियों की जानकारी प्राप्त करना।
- भारतीय धर्म साधना में सन्त कवियों के योगदान को जानना।

12.2 प्रस्तावना

सन्त काव्य परम्परा के प्रधान कवि कबीर हिन्दी काव्याकाश के ऐसे सूर्य थे, जिन्होंने अपनी प्रखर किरणों से समाज में व्याप्त पाखण्ड, अज्ञानता, द्वेष, ईर्ष्या आदि को नष्ट करके उसे उदात्त आदर्शों की ओर उन्मुख किया। इनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनका मूल्य शताब्दियों बाद आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है और आने वाले युग में भी बना रहेगा। कबीर का व्यक्तित्व उन लोगों के लिए भी एक चुनौती है, जो ज्ञान को उपाधियों एवं शिक्षा पर आधारित मानते हैं, क्योंकि वर्णमाला तक के ज्ञान से रहित कबीरदास ने जीव, जगत, ब्रह्माण्ड, संसार, समाज, लोक व्यवहार आदि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं वे युग–युग के लिए शाश्वत सत्य हैं। आज भी कबीर की पंक्तियों का वही मूल्य है, जो कल था।

कबीर सही अर्थों में जनकवि रहे हैं। उन्होंने जन–पीड़ा को अपने काव्य का विषय बनाया। भारतीय मानस पर छाए कर्मकाण्डीय धुएँ को अपने निर्मल, निर्लिप्त वैचारिकता पूर्ण वाणियों से हटाने की उन्होंने पूरी कोशिश की। आज जिस कार्य को तमाम सामाजिक संस्थाएँ, एन०जी०ओ०, राजनीतिक पार्टियाँ नहीं कर पा रही हैं, वह कार्य कबीर ने आज से कई सौ वर्ष पूर्व अपनी पूरी ऊर्जा के साथ करने की कोशिश की थी। सामाजिक एकता के लिए सही मायनों में अगर किसी ने जद्दोजहद की है, तो वे कबीर हैं और कबीर का यह रूप किस प्रकार प्रस्फुटित हुआ? इस पर विचार करना हिन्दी साहित्य–अध्येताओं के लिए अति आवश्यक है। किस प्रकार कबीर सन्त परम्परा, नाथ पन्थ, भारतीय दर्शन, आम जन–जीवन आदि से अपने जीवन/वैचारिकता की ऊर्जा लेते रहे? भारतीय मानस की विभिन्नता को एकता में परिवर्तित करने के लिए कबीर जैसे कुशल द्रष्टा की तरफ देखना सभी 'एकता कामी भारतीयों' के लिए जरूरी है।

12.3 सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान

आगे हम सन्त परम्परा का उल्लेख करते हुए उसमें कबीर को अपना स्थान स्थापित करते, सामान्य से विशिष्ट बनते देखेंगे और आशा करेंगे कि कबीर पर विचार करते हुए सभी अध्येतागण कबीर को इसी मानसिकता से परखेंगे।

12.3.1 सन्त काव्य

सन्त काव्य परम्परा के दार्शनिक–सांस्कृतिक आधार अनेक हैं, जिनमें से प्रमुख उल्लेखनीय हैं– नाथ पन्थ, इस्लाम धर्म, उपनिषद्, शंकराचार्य का अद्वैतदर्शन तथा सूफी दर्शन। सन्तों के चिन्तन, जीवन दर्शन और काव्यधारा पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म, जीव, जगत और माया सम्बन्धी विचारधारा के साथ ही ब्रह्म के स्वरूप–वर्णन से सम्बद्ध उपमानों और अप्रस्तुत योजनाओं को सन्त कवियों द्वारा प्रायः उसी रूप में ग्रहण किया गया है। उपनिषदों के अनन्तर सन्त काव्यधारा और सन्त दर्शन का मुख्य आधार है– शंकर का अद्वैतदर्शन। "सन्तों की विवर्त भावना, प्रतिबिम्ब भावना, प्रणय भावना, साधनापक्ष और भक्ति पद्धति पर आचार्य शंकर की विचारधारा का व्यापक प्रभाव है। आचार्य शंकर और निर्गुण सन्त कवि, दोनों इस विषय में एकमत हैं कि जीव विशुद्ध ब्रह्म तत्त्व है और जो भिन्नता की उपलब्धि होती है, वह माया अथवा अविद्याजनित उपाधि है। सन्तों ने आत्मा की सर्वरूपता, सर्वात्मभावना एवं सर्वशक्तिमत्ता प्रतिपादित की है। ये भावनाएँ भी शंकर के सिद्धान्त के अनुकूल हैं। सन्त परम्परा में आत्मा की अखण्डता, एकरसता, अद्वैतरूपता एवं अकथनीयता का प्रतिपादन भी शंकर सिद्धान्त के अनुरूप है।"[1] सन्तकाव्य और सन्त दर्शन पर नाथ पन्थ का भी प्रचुर प्रभाव है। नाथ पन्थी कवियों एवं विचारकों के शून्यवाद, उनके द्वारा गुरु का सम्मान और सृष्टिक्रम; आत्मा जीव आदि के विषय में उनकी मान्यताओं से सन्त कवि अनेकशः प्रभावित रहे हैं। सन्त साधना में योग प्रक्रिया की जो प्रधानता है, उसका मूल स्रोत नाथपन्थ साधना पद्धति ही है। तन्त्र साधना का भी सन्त मत पर प्रभाव रहा है। इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव के कारण सन्तों की विचारधारा एकेश्वरवाद से प्रभावित हुई। मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद के बहिष्कार का मूलाधार इस्लाम धर्म में ही है। इस्लाम ने सामाजिक असमानता को दूर करने की भी चेष्टा की। सत्य यह है कि एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः कबीर प्रभृत सन्त कवियों ने हिन्दू–मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया जिसके परिणामस्वरूप जनता को बहुदेवोपासना के अभिशाप से छुटकारा मिला। "उस युग में ज्ञानमार्गी सन्तकवियों ने धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्र की रूढ़ियों की उपेक्षा एवं आलोचना की है। उन्होंने निगम, आगम, पुराण आदि को महत्त्वहीन प्रमाणित किया। किन्तु बौद्धों का दुःखवाद एवं शून्यवाद, वज्रयानियों की तांत्रिक साधना, सिद्धों की गूढ़ोक्तियों के रूप में उलटबासियाँ, नाथ सम्प्रदाय की योगसाधना तथा काव्यसाधना किसी–न–किसी रूप में सन्तकाव्य में समाहित हुई। सन्त कवियों ने वैदिक साहित्य, वैदिक परम्पराओं एवं बाह्याचारों की जो आलोचना आद्योपान्त की है, वह सब बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है।"[2] इस प्रकार सन्त काव्य परम्परा अपने में धार्मिक जनपक्ष को समेटकर आम–जन को स्वीकार करती हुई आगे बढ़ी और उन्हें एक ऐसा साधना मार्ग सुझाया, जिसमें कर्म–काण्ड का कोई स्थान नहीं था, बहुदेववाद से परहेज था, जीवन के सच्चे मूल्यों की स्थापना थी और मानव धर्म को स्थापित करने का प्रयत्न था, जहाँ न कोई छोटा और न कोई बड़ा था। सभी को ईश्वर की उपासना का हक था। ईश्वर सबके थे और एक थे। डॉ० भगीरथ मिश्र ने सन्त परम्परा की इस मानव धर्मिता को और स्पष्ट करते हुए लिखा है, "इन सन्तों की उदार सहृदयता से प्रेरित होकर उस सामन्तवादी युग में भी व्यापक मानवता का आन्दोलन चल पड़ा। अपनी अन्तर्व्यापिनी दृष्टि से संसार की गतिविधि का

अध्ययन कर उन्होंने यह सन्देश दिया कि धन–वैभव के बाह्य उपकरणों के आधार पर एक मनुष्य को दूसरे से ऊँचा या नीचा नहीं समझा जा सकता। मनुष्यमात्र सब समान हैं, क्योंकि ईश्वर सभी के भीतर विराजमान है। अतएव किसी का भी अपमान करना, किसी को कटुवचन कहना, उस अन्तस्थ ईश्वर का ही अपमान करना है।"[3]

12.3.2 भारतीय धर्म साधना में सन्त कवियों का स्थान

सन्त काव्य का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह अकृत्रिम, सहज एवं अनुभूतिजन्य है। आचरण की शुद्धता पर बल देकर एवं बाह्याडम्बरों का खण्डन करके उन्होंने समाज को एक नई दिशा दी। मनुष्यत्व की भावना को आगे करके उन्होंने जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण जनपक्षीय एवं क्रांतिकारी था। शास्त्र प्रमाण की तुलना में आत्म गौरव को महत्व देकर उन्होंने वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। सन्त परम्परा से निःसृत कबीर जैसे कवि किसी भी भाषा के गौरव हैं। मानवता को उच्च आदर्श पर प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने जो क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए वे उनकी महानता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं। सामाजिक विसंगतियों, धार्मिक विडम्बनाओं, रूढ़िवादी विचारों एवं अंधविश्वासों का खण्डन करते हुए सन्त कवियों ने समाज को सशक्त, निर्दोष एवं कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर किया। भारतीय धर्म साधना में सन्तों का महत्वपूर्ण स्थान है। जीव, ब्रह्म, जगत और माया के सम्बन्ध में उनके विचार भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुरूप हैं। कबीर में आत्मा की विरहाकुलता आत्म शुद्धि से सम्पृक्त है। वे धर्म में कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर आचरण पर बल देते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था पर उन्होंने करारी चोट की, बाह्याडम्बरों का खुलकर विरोध किया। कबीर भले ही पढ़े–लिखे न हों पर वे बहुश्रुत अवश्य थे। उन्हें जहाँ से जो कुछ भी अच्छा लगा, उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि सन्त काव्य पर नाथपन्थियों, अद्वैतवेदान्त, वैष्णव धर्म, सिद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है। सन्त कवियों ने किसी विशेष धर्म का पल्ला न पकड़कर जिस तत्त्व को व्यावहारिक समझा, उसे अपने काव्य में स्थान देने में संकोच नहीं किया। यही कारण है कि उनके काव्य में अनुभूति की सच्चाई एवं अभिव्यक्ति का खरापन है।

12.3.3 'सन्त' से तात्पर्य (परिभाषा)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'सन्त' शब्द संस्कृत की 'अस' धातु के वर्तमान कृदन्त रूप 'सत्' के बहुवचन रूप 'सन्तः' से निर्मित है। भर्तहरि ने सन्त का प्रमुख लक्षण परोपकार को मानते हुए लिखा है– "सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगः।" श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, "सन्त शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसने सत् रूप परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो।" आचार्य विनय मोहन शर्मा ने लोक मंगल के विधान में निरत व्यक्तियों को सन्त माना है। कुछ लोग 'सन्त' शब्द को परिभाषित करने का प्रयत्न 'श्रीमन्त' शब्द के आधार पर करते हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा हो जाना हमारे विचार से कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। श्री पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल 'शान्त' शब्द से 'सन्त' की व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उन्होंने सन्त शब्द का अर्थ वैरागी एवं निवृत्ति मार्गी बताया है।

सन्त शब्द और उसकी परम्परा को व्याख्यायित करते हुए बाबू गुलाब राय लिखते हैं, "'सन्त' की व्युत्पत्ति 'शांत' से मानते हुए 'सत्' रूपी परम तत्व के ज्ञाता को सन्त नाम से अभिहित किया गया। परमात्मा की प्राप्ति हेतु जो अपने तथा पराये के भेद को मिटा कर आत्मोन्नयन का पथ पकड़ते हैं, वे ही सन्त कहलाते हैं। अपने हित के साथ जो लोकहित का भी चिन्तन करता है, वही 'सन्त' कहलाने का अधिकारी है।"[4]

12.3.4 सन्त–परम्परा

सन्तों की विचारधारा के बीज सिद्ध व नाथ कवियों की रचनाओं में मिलते हैं। मध्यकालीन सन्तों ने इनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। कबीर के पूर्ववर्ती उनके समकालीन तथा उनके परवर्ती प्रमुख संत कवियों का परिचय इस प्रकार है–

नामदेव– इनका काल सन् 1270 ई० माना जाता है। ये महाराष्ट्र के सतारा जिले से थे। सन्त ज्ञानेश्वर भी इनके समकालीन थे। इनको ईश्वर भक्ति पारिवारिक विरासत के रूप में मिली थी। इनका प्रारम्भिक जीवन एक डाकू के रूप में व्यतीत हुआ था। बाद में ये विरक्त होकर विठ्ठल सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। कहा जाता है कि इसके पश्चात ये विसोवा खेचर नामक नाथ–पन्थ के सन्त से दीक्षित हुए। तत्पश्चात् ये पंजाब के गुरुदासपुर जिले में आकर बस गए। इनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। नामदेव की रचनाएँ हिन्दी एवं मराठी में मिलती हैं। ये सगुण एवं निर्गुण दोनों रूप में ईश्वर की उपासना पर विश्वास करते थे। रूढ़ियों, पाखण्ड, कट्टरता, बाह्याडम्बर आदि के ये कट्टर विरोधी थे।

सन्त ज्ञानेश्वर– ये नामदेव के समकालीन थे। कहा जाता है कि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु इनके पिता को किसी कारणवश जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। इन पर बहुत धार्मिक अत्याचार किए गए। इन्होंने धर्मशास्त्रों का गहरा अध्ययन किया और इसके पश्चात् धार्मिक पाखण्ड, कट्टरता, जाति– धर्म की रूढ़ि आदि की गम्भीर आलोचना की। ये भी महाराष्ट्र से थे और इनके अनुयायियों ने इनके जीवन काल में ही इन्हें भगवान का अवतार मान लिया था। उन्होंने निर्गुणवाद पर अनेक पदों की रचनाएँ की थीं।

जयदेव– सन्त जयदेव नामदेव के पश्चात् हुए थे। कुछ लोग इन्हें 'गीत गोविन्द' के रचयिता से भिन्न मानते हैं, कुछ का कहना है कि ये वही जयदेव थे। इनका जीवन–वृत्त अज्ञात है। विभिन्न सन्तों की वाणियों में इनका उल्लेख मिलता है। कबीर ने भी इनकी भक्ति की प्रशंसा की है। इनके कई निर्गुणवादी पद मिलते हैं।

रामानन्द– ये कबीर के गुरु माने जाते हैं। इनके बारे में प्रसिद्ध है–

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नौ खण्ड।।

रामानन्द अपने युग के प्रगतिशील विचारक माने जाते हैं। इन्होंने भक्ति का द्वार सभी वर्णों और वर्गों के लिए खोल दिया। इन्होंने अपनी रचनाओं में तीर्थ यात्रा, मूर्ति पूजा, वेदादि धर्म ग्रन्थों एवं उपासना के बाह्य साधनों की आलोचना करते हुए अन्तःसाधना का मार्ग प्रशस्त किया।

कबीरदास– जयदेव के पश्चात् संवत् 1455 में इनका जन्म हुआ। ये रामानन्द के शिष्य थे और सन्त परम्परा के सर्वाधिक प्रखर कवि समझे जाते हैं। कबीर ने अद्वैतवाद निर्गुणवाद और मानवतावाद का जो सन्देश अपनी वाणियों एवं निर्गुण पदों में दिया, वह केवल सन्त परम्परा अथवा निर्गुणवादी कवियों की वाणी ही नहीं है, अपितु वह ईश्वर, जगत, जीव, लोक–व्यवहार आदि की व्याख्या करने वाला तथा रूढ़ियों एवं पाखण्ड को नष्ट करके मानवता को मार्ग दिखाने वाला ज्ञान का भास्कर है। उसकी किरणें कभी मन्द पड़ने वाली नहीं हैं।

नानकदेव– सिक्ख मत के प्रवर्तक गुरु नानकदेव भी इसी सन्त परम्परा में आते हैं। इनका आविर्भावकाल संवत् 1526 था। इनका जन्म तलवंडी ग्राम (पंजाब) में हुआ था। ये हिन्दी, पंजाबी, फारसी, संस्कृत एवं प्राकृत के ज्ञाता थे। इन्होंने हिन्दू–दर्शन, बौद्ध–दर्शन, इस्लाम धर्म आदि के सन्तों, साधुओं एवं फकीरों की संगति की थी। नामदेव, रैदास, कबीर आदि से इनकी भेंट हुई थी। इनकी वाणियाँ अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित हैं। ये उपनिषदों के अद्वैतवादी निराकार ब्रह्म पर विश्वास करते थे और अवतारवाद, मूर्ति–पूजा, वर्ण–भेद, ऊँच–नीच का भाव आदि के कट्टर विरोधी थे। इनका उपदेश सीधा एवं सादा है। ये हिन्दू–मुस्लिम एकता के पक्षपाती थे। जपुजी, आसादीवार, रहिरास, सोहिला इनकी रचनाएँ हैं।

रैदास– सन्त रैदास (रविदास) सन्त परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण सन्त थे। ये कबीर के समकालीन थे। इनका नाम उस समय के सन्तों में बड़े आदर के साथ लिया जाता था। ये जाति के चर्मकार थे। कबीर के समान रैदास के ईश्वर भी निराकार एवं निर्गुण थे। इनकी भक्ति में प्रेम है। प्रणयभाव के सम्बन्ध में इनकी भक्ति का भाव सूफियों वाला है। इनकी अनेक रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहब' से संकलित हैं। इनकी रचनाओं की कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं।

बावरी साहिबा– सन्त–सम्प्रदायों में बावरी पन्थ का विशेष महत्त्व है। बावरी साहिबा इसी पन्थ की प्रमुख सन्त थीं। किंवदंती है कि ये उच्च कुल की महिला थीं। सत्यानुभूति और ब्रह्म की साधना में इन्हें यत्र– तत्र बहुत भटकना पड़ा। बावरी साहिबा सम्राट अकबर की समसामयिक थीं। इनका समय 1542–1603 ई० के लगभग माना जाना चाहिए। इनकी साधना–पद्धति, व्यक्तिगत जीवनी और काव्य के विषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती, तथापि इनके काव्य के जो दो–एक उदाहरण उपलब्ध हैं, उनसे इनकी भावुकता और कवित्व–प्रभुता में सन्देह नहीं रह जाता।

लाल दास– लाल पन्थ के प्रवर्तक सन्त लाल दास (1540–1648) का आविर्भाव अलवर राज्य के ग्राम धौलीधूप में एक ऐसे मुसलमान परिवार में हुआ था, जहाँ भरण–पोषण तथा जीविका के साधनों के लिए संघर्ष करना पड़ता था। बालकों की शिक्षा–दीक्षा का भी कोई प्रबन्ध न था। इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद लाल दास जीवन की सच्चाईयों से सीखते हुए आगे बढ़े और यथार्थदर्शी सन्त कहलाये।

सन्त लालदास सिद्ध महापुरुष थे। उनकी विचारधारा कबीर मत से प्रभावित है। वे अच्छे कवि तथा उपदेशक थे। उनकी रचनाएँ 'लालदास की चेतावणी' में संकलित हैं, जिनसे उनकी अभिव्यंजनाशक्ति और गंभीर रहस्यानुभूति का ज्ञान होता है।

दादू दयाल– इनका जन्म सं० 1601 में अहमदाबाद, गुजरात में हुआ माना जाता है। ये धुनिया थे। बंगाल के बाउल सम्प्रदाय में इनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। ये भी कबीर की भाँति निरक्षर थे। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन गृहस्थ के रूप में व्यतीत किया। दादू दयाल के काव्य में भी निर्गुणवाद, अद्वैतवाद भक्ति के भाव मिलते हैं। ये भी पाखण्ड एवं रूढ़ियों के विरोधी थे। दादू सम्प्रदाय इन्हीं के नाम पर बना है। दादू दयाल की रचनाएँ 'हरडे वाणी' एवं 'अग–वधू' नामक ग्रन्थों में मिलती हैं।

रज्जब– इनकी गणना दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों में की जाती है। इनकी रचनाएँ 'रज्जब वानी' में संग्रहित है। साधना पद्धति और विचार निरूपण में इन पर दादू दयाल का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सुन्दरदास– ये दादू के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। ये वैश्य थे और शास्त्रों के भी ज्ञाता थे। इनका जन्मकाल सम्वत् 1653 माना जाता है। ये जयपुर के निवासी थे। इन्हेांने लगभग बयालीस ग्रन्थों की रचना की है। ये सभी 'सुन्दर ग्रन्थावली' के नाम से संकलित हैं।

मलूकदास– इनका जन्म इलाहाबाद में सम्वत् 1631 में हुआ था। ये जाति के खत्री थे। इनकी दीक्षा मुरारस्वामी नामक किसी महात्मा से हुई थी और इन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग नहीं किया था। इनकी नौ रचनाएँ बतायी जाती हैं।

धर्मदास– ये कबीरदास के शिष्य थे। इन्होंने कबीर की रचनाओं का संकलन 'कबीर बीजक' नाम से किया। इनकी भक्ति भावना और विचारधारा पर कबीरदास का व्यापक प्रभाव है। इनकी रचनाएँ 'धरमदास की वानी' में संकलित हैं।

पंजाब में कुछ सिख गुरुओं ने भी काव्य की रचना की है। इनमें प्रमुख हैं– गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुन देव।

शेख फरीद भी पंजाब के संत कवियों में उल्लेखनीय हैं। कश्मीर की कवयित्री ललदेद का भी सन्त कवियों में महत्वपूर्ण स्थान है।

सन्त सदना, पीपा, त्रिलोचन, सेन, धन्ना, बेनी आदि भी महत्वपूर्ण कवि हैं, पर इनकी रचनाएँ बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं। इनके जीवन के बारे में भी प्रमाणित उल्लेख नहीं मिलता। गुरु ग्रन्थ साहिब में इन सन्तों के पद मिलते हैं।

मध्य युग के बाद भी सन्त कवियों की परम्परा अबाध रूप से चलती रही पर इनमें अपना सम्प्रदाय चलाने की प्रवृत्ति ज्यादा परिलक्षित होती है।

12.3.5 सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान

निर्गुण निराकार ब्रह्म की भक्ति के साथ–साथ सन्तों ने लोक– व्यवहार से सम्बन्धित जिन प्रवृत्तियों को लेकर उपदेश दिए, उनको देखते हुए कबीर सन्त–परम्परा के सर्वश्रेष्ठ सन्त कवि प्रमाणित होते हैं। सन्त नामदेव, सन्त ज्ञानेश्वर, जयदेव आदि कबीर से पूर्ववर्ती सन्तों में कबीर के जैसी भक्ति–व्याख्या, नीति–व्याख्या पाखण्डों की आलोचना की प्रखरता प्राप्त नहीं होती। कबीर की वाणियों में एक स्वस्थ आत्मा, स्वस्थ विचार एवं आत्मबल से भरे हुए व्यक्ति की हार्दिक अनुभूति व्यक्त होती है। उन्होंने भक्ति, समाज, धर्म, कर्मकाण्ड, बलि प्रथा, नीति आदि व्यापक क्षेत्रों को अपनी वाणी का विषय बनाया है। अभिव्यक्ति शैली की प्रखरता, सत्य की कटुता आदि के दृष्टिकोण से भी कबीर इन सन्तों से श्रेष्ठ हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी इनकी महत्ता, साहस को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "कबीर का रास्ता बहुत साफ था। वे समस्त बाह्याचारों के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करने वाले क्रांतिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इतने बड़े जंजाल को सही कर सकने की क्षमता मामूली आदमी में नहीं हो सकती। कमज़ोर स्नायु का आदमी इतना भार बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे अपने मिशन पर अखण्ड विश्वास नहीं है, वह इतना असम साहसी हो ही नहीं सकता।"[5]

कबीर के समकालीन सन्त रैदास, पीपा, अनन्तानन्द, सुखा, सुरसुरा, नरहरि, भावानन्द, धन्ना आदि में रैदास, पीपा एवं धन्ना ही सन्त कवि के रूप में रचनाएँ कर पाए हैं। इनकी रचनाएँ 'गुरु ग्रंथ साहब' में मिलती हैं, किन्तु ये कबीर के 'बीजक' जैसी सर्वांगीण, प्रखर एवं तीव्र अभिव्यक्ति की प्रखरता से युक्त नहीं हैं, इसलिए कबीर इनसे श्रेष्ठ सन्त–कवि प्रमाणित होते हैं। कबीर की श्रेष्ठता व विलक्षणता को स्पष्ट करते हुए भगीरथ मिश्र लिखते हैं, "जिस विलक्षण अदम्य प्रतिभा को लेकर कबीर ने अपनी वाणी कही, उसने सभी सुनने वालों को प्रेरित किया, उनकी वाणी में सरलता भी है और अटपटापन भी। उसमें तथ्य भी है और माधुर्य भी; उसमें ज्ञान का रूखापन भी है और भाव की मधुरिमा भी। उसमें तीक्ष्ण प्रहार भी है और मीठे उपदेश भी। उसमें समाज की तीव्र आलोचना है साथ ही नम्रता, सहनशीलता और सरस प्रवाह भी।"

गुरु नानकदेव की वाणियाँ स्पष्ट एवं सीधी हैं। धर्मदास का साहित्य ऐतिहासिक है, शेख इब्राहिम ने भी सन्त परम्परा के पद रचे हैं। ये सभी पद 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संकलित हैं, किन्तु वे साहित्यिक, धार्मिक, नैतिक एवं अभिव्यंजना शक्ति की दृष्टि से कबीर के समक्ष नहीं रखे जा सकते।

दादू दयाल, मलूकदास, सुन्दर दास आदि सन्तों ने भी काव्य रचनाएँ की हैं, किन्तु इनमें कबीर जैसी व्यापक समालोचनापूर्ण दृष्टि का प्रयोग नहीं मिलता। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सन्त परम्परा के कवियों में कबीरदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

कबीर की महत्ता को स्पष्टतः समझने के लिए उनके जनधर्मी अवदान को जानना जरूरी है, कि किस प्रकार कबीर ने तत्कालीन समाज को अपनी खुली आँखों से देखा और जो कुछ दिखा उसे अपने

वाणियों में सुधारात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया। कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज अनेक बुराइयों से ग्रस्त था। छुआछूत, अन्ध विश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्याचार, पाखण्ड का सर्वत्र बोलबाला था और हिन्दू–मुसलमान आपस में झगड़ते रहते थे। धार्मिक पाखण्ड अपनी चरम सीमा पर था और धर्म के ठेकेदार स्वार्थ की रोटियाँ धार्मिक धर्मान्धता के चूल्हे पर सेक रहे थे। धार्मिक संकीर्णता और कट्टरता के कारण समाज का सन्तुलन बिगड़ चुका था, कुरीतियाँ एवं कुप्रथाएँ समाज के हर तबके में देखी जा सकती थीं और दूसरी तरफ सामाजिक विषमता बढ़ती जा रही थी। उस समय किसी ऐसे महात्मा या समाज सुधारक की आवश्यकता थी, जो समाज में व्याप्त इन बुराइयों पर निर्भीकता से प्रहार कर सके, दोनों धर्मों के अनुयायियों को बिना किसी भेदभाव के फटकार सके और सदाचरण का उपदेश देकर सामाजिक समरसता की स्थापना कर सके। कबीर इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अवतीर्ण हुए थे। आजीवन इसी आवश्यकता के लिए जद्दोजहद करते रहे।

कबीर जनपक्षीय चेतना से युक्त एक जनधर्मी कवि थे। उनका व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था। धर्म और समाज के क्षेत्र में व्याप्त पाखण्ड, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों की उन्होंने मुखर आलोचना की और ऊँच–नीच, छुआ–छूत जैसे सामाजिक कोढ़ को दूर करने के लिए भरसक प्रयास किया।

कबीर लीक छोड़कर चलने वाले ऐसे सपूत थे, जिन्होंने समाज में व्याप्त विसंगतियों, मिथ्याडम्बरों एवं अनीतिपूर्ण आचरण पर खुलकर प्रहार किया। वे सहज जीवन के कवि रहे हैं, जिन्हें मिथ्याचार एवं पाखण्ड से घृणा थी। उन्हें जो ठीक लगा उसे कहने में कोई संकोच नहीं किया। वस्तुतः वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज सुधारक एवं हृदय से लोक कल्याण के आकांक्षी जनधर्मी सन्त कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है। कबीर का प्रतिपाद्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– आलोचनात्मक तथा रचनात्मक। रचनात्मक भाग के अन्तर्गत वे उपदेशक हैं तथा मानव मात्र को सत्य, प्रेम, अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा, सन्तोष, उदारता जैसे गुणों को धारण करने का उपदेश देते हैं तो आलोचनात्मक भाग के अन्तर्गत वे समाज में व्याप्त धार्मिक पाखण्ड, जाति प्रथा, मिथ्याडम्बर, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन करते हैं।

कबीर पढ़े लिखे न थे, किन्तु उनमें अनुभूति की सच्चाई एवं अभिव्यक्ति का खरापन था। वे अनुभवजन्य सत्य पर विश्वास करते थे न कि शास्त्रोक्त बातों पर। शास्त्र के पण्डित को वे चुनौती देते हुए कहते हैं–

"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।

मैं कहता सुरझावन हारी, तू राखा उरझाय रे।"

इसी प्रकार ब्राह्मण–श्रेष्ठता व मुसलमानों की नस्लीय भिन्नता की अतार्किकता पर कुठाराघात करते हुए वे कहते हैं, यदि तू ब्राह्मण पुत्र है और अन्य जातियों से श्रेष्ठ है, तो किसी अन्य प्रकार से तेरा

जन्म क्यों नहीं हुआ और यदि तू तुर्क है, तो माँ के पेट के भीतर ही सुन्नत क्यों न करा ली?

"जो तू बाम्भन बम्भनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकिनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया।।"

समूचा मध्यकाल इन्हीं सब अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, पाखण्ड एवं बाह्याडम्बरों में जकड़ा हुआ था। मुल्ला और पण्डित भोली–भाली जनता को बरगला कर धार्मिक उन्माद पैदा कर रहे थे और उससे अपना स्वार्थ साधते थे। कबीर इन्हीं सब के बीच पैदा हुए और आजीवन इन्हीं के परिष्कार और साफ–सफाई में लगे रहे। हालाँकि सभी सन्त कवि समाज की उक्त विगलित मानसिकता के खात्मे के लिए प्रयासरत थे, किन्तु कबीर तो कबीर थे। उन्होंने जिस धार और ऊर्जा से समाज के कर्मकाण्डीय रूप का विरोध किया था वह अन्य सन्त परम्परा के कवियों में कम ही मिलता है।

12.4 सारांश

फलतः कबीर सच्चे अर्थों में अन्य सन्त कवियों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

12.5 कठिन शब्द

(1) कुठाराघात
(2) अनुभवजन्य
(3) मिथ्याडम्बर
(4) रूढ़ियों
(5) प्रतिबिम्ब
(6) समालोचना
(7) प्रखरता
(8) समसामयिक
(9) पाखडं
(10) कर्मकाण्ड

12.6 सन्दर्भ सूची

1. डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हरदयाल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', मयूर पेपर बैक्स, सेक्टर पाँच, नोएडा, बयालिसवाँ संस्करण – 2012, पृष्ठ 114
2. डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हरदयाल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', मयूर पेपर बैक्स, सेक्टर पाँच, नोएडा, बयालिसवाँ संस्करण – 2012, पृष्ठ 14

3. डॉ० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी में सन्त काव्यधारा' (लेख), 'हिन्दी निबन्ध', सम्पादक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1973 ई०, पृष्ठ 26
4. बाबू गुलाब राय, 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, बावनवाँ संस्करण – 2008, पृष्ठ 26
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति – 2000, पृष्ठ 147
6. डॉ० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी में सन्त काव्यधारा' (लेख), 'हिन्दी निबन्ध', सम्पादक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1973 ई०, पृष्ठ 27

12.7 उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पा० डॉ० नगेन्द्र
3. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. कबीर की विचारधारा, गोविन्द त्रिगुणायत
5. कबीर मीमांसा, डॉ० रामचन्द्र तिवारी

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सन्त काव्य परम्परा में कबीर का स्थान निर्धारित कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. सन्त काव्य परम्परा में कबीर का महत्व स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

3. सन्त शब्द की परिभाषा देते हुए सन्त परम्परा पर प्रकाश डालिए।

4. सन्त शब्द से क्या तात्पर्य है ? स्पष्ट करते हुए सन्त परम्परा में कबीर का स्थान निर्धारित कीजिए।

~~~
~~~

पद्मावत अन्योक्ति और समासोक्ति

13.0 रूपरेखा

13.1. उद्देश्य

13.2. भूमिका

13.3. प्रथम विषय वस्तु

13.4. द्वितीय विषय–वस्तु भाग

13.5. तृतीय विषय–वस्तु भाग

13.6. सारांश

13.7. पाठांत अभ्यास

13.8. संस्तुत अध्ययन

13.1 उद्देश्य (Objectives) – अलंकार शास्त्र के परिचय को अन्योक्ति और समासोक्ति अलंकारों के संदर्भ में विशिष्ट और विस्तृत करना। दोनों अलंकारों द्वारा काव्य भाषा को प्रदान की जाने वाली सौंदर्य समृद्धि और भाषा की भंगिमा और अर्थगत सौंदर्य से परिचित कराना। कवि के कौशल से परिचित कराना कवि के अन्योक्त अर्थ तक पहुंचने के प्रति उत्सुक करना तथा छात्रों में काव्य को समझने, उसके रसास्वादन के लिए काव्य–शास्त्रियों द्वारा दिए उपादानों के प्रति उत्सुक करना। कहते हैं कि जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन को साधक के रूप में और पद्मावती को साध्य के रूप में प्रस्तुत किया है, इसी तरह तोते हीरामन को गुरू के रूप में, अलाउद्दीन को शैतान के रूप में, नागमती को माया, सांसारिक जंजाल के रूप में प्रस्तुत किया है। नागमती के मायाजाल से मुक्त होकर साधक (आत्मा) रत्नसेन साध्य (प्रेमिका) आलौकिक सत्ता ईश्वर के प्रतिबिम्बत रूप के प्रति आकर्षित होकर, उसे प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ से सिंहल द्वीप पहुंचता है।

इसी प्रेम कहानी को कवि जायसी ने प्रत्यक्षता से प्रस्तुत किया है परन्तु पदमावत् के बीच–बीच कहीं अप्रत्यक्ष अलौकिक सत्ता की ओर भी संकेत किये हैं और पदमावत् के अंतिम खंड में पदमावत् के पात्रों के प्रतीक अर्थ की ओर संकेत किया है। इसी आधार पर कई विद्वानों ने पदमावत् को अन्योक्ति कहा है।

पदमावत् के प्रति दोनों प्रकार के विद्वानों के विचारों से छात्रों को परिचित कराना, इस पाठ का उद्देश्य है। इन दोनों प्रकार के विद्वानों के विचारों के बीच से छात्र को अपना मत बनाने की प्रेरणा देना भी पाठ का उद्देश्य है। जिसके लिए छात्रों की उत्सुकता बढ़ा कर विचार बनाने की ओर उन्हें प्रेरित करना पाठ का उद्देश्य है।

13.2 **भूमिका (Introduction)** – काव्यशास्त्रियों ने अलंकार शास्त्र के अंतर्गत दो प्रकार के अलंकारों 'अन्योक्ति' और 'समासोक्ति' का वर्णन किया है। कवि अपनी बात कहने के लिए इन दोनो प्रकार के अलंकारों का सहारा लेता है। जब कवि कहना कुछ और चाहता है परन्तु कहता कुछ हट कर या अन्य कुछ है तो उस अन्य उक्ति को अन्योक्ति कहा जाता है। इस अलंकार में कवि की निहित भावना की व्याख्या की आवश्यकता बनी रहती है। परन्तु जब कवि जो प्रत्यक्ष कह रहा है वही कहना उसका उद्देश्य है तो उस अलंकार को समासोक्ति कहा जाता है, समासोक्ति में कवि के कहने का उद्देश्य और कथ्य प्रत्यक्ष और स्पष्ट रहता है उसे साधारण पाठक/श्रोता आसानी से समझ लेता है और कथन के रसास्वादन में कुछ भी आड़े नहीं आता। ये दोनों 'अन्योक्ति' और 'समासोक्ति' अलंकारों के रूप में काव्य का सौंदर्य बढ़ाते हैं। इस भाग में इन दोनों अलंकारों का परिचय दिया जाएगा।

13.3. **प्रथम विषय वस्तु (First Content Section)** – पाठ के इस भाग में 'अन्योक्ति'' और 'समासोक्ति' के काव्यशास्त्रीय स्वरूप को उद्घाटित किया जाएगा। काव्य शास्त्र में अलंकारों के रूप में भी और कवि की अभिव्यक्ति शैली के रूप में भी ये दोनों अलंकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। रहस्यवादी कवियों ने जब ईश्वरीय सत्ता को प्रकृति में देखा; अनुभूत किया तो वैसी ही अनुभूति अपने पाठकों; श्रोताओं तक पहुंचाने की चेष्टा करते हुए प्रकृति पर ईश्वर के प्रति अपनी भावना और ईश्वर पर प्रकृति को आरोपित किया। दोनों (प्रकृति के ईश्वर) के परस्पर क्रिया–व्यापार की कल्पना करते हुए रूपकों का निर्माण किया। अन्योक्ति और समासोक्ति उनकी रूपकीकरण की वृत्ति के ही रूप हैं, इसे यहां समझाने की चेष्टा की जाएगी। इस अध्ययन को निम्नलिखित दो उपविभागों में रखा जाएगा।

अन्योक्ति :– यहां अन्योक्ति अलंकार और इसके मूल रूप को समझा जाएगा। अन्योक्ति एक साम्य मूलक अलंकार है, जिसमें अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाता है,

इसे अप्रस्तुत प्रशंसा भी कहते हैं। अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में सामान्यतः अप्रस्तुत विषय का वर्णन किया जाता है, किन्तु उसके द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाती है। इससे अन्योक्ति में अप्रस्तुत अर्थ द्वारा जिस प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना कराई जाती है वही अर्थ प्रमुख हुआ करता है।

अन्योक्ति :– यहां समासोक्ति अलंकार और इसके मूल रूप को समझेंगे।

समासोक्ति में विशेषणों की समानता के कारण यहां प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है, वहां समासोक्ति अलंकार होता है। इस प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ के साथ–साथ एक अप्रस्तुत अर्थ भी अनुस्यूत रहता है यहां मुख्य प्रस्तुत अर्थ ही होता है। समासोक्ति में प्रस्तुत के कथन में अप्रस्तुत का ज्ञान पाया जाए, उसका वर्णन किया जाए या जिसमें प्रस्तुत का भी वर्णन निकलता हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है, जिसकी पहचान कहीं वाचक से और कहीं श्लेष से हुआ करती है। समासोक्ति में प्रस्तुत अथवा वर्णित विषय ही प्रधान रहता है, उसके द्वारा अप्रस्तुत की व्यंजना भी हुआ करती है। अन्योक्ति और समासोक्ति में मूल अन्तर यह है कि जहां अन्योक्ति में अप्रस्तुत प्रधान होता है, वहां समासोक्ति में प्रस्तुत प्रधान होता है।

अन्योक्ति और समासोक्ति के अतिरिक्त रूपक के बारे में भी काव्य शास्त्रियों ने चर्चा की है। रूपक–कथा, काव्य में कथा द्वयर्थक होती है, कथा का प्रस्तुत पक्ष किसी सैद्धातिक अभिव्यक्ति का साधन मात्र होता है, इस सांकेतिक कथा का प्रस्तुत कथा में आद्योपांत अभेद आरोप रहता है। इसमें प्रस्तुत कथा के पात्र पूर्णतया निर्जीव एवं अमूर्त भावनाओं के प्रतीक होते हैं और समस्त वर्णन एवं घटनाएं सांकेतिक अभिव्यक्ति ध्योतक की होती हैं। इसका कथानक पूर्णतया कल्पित होता है और महाकाव्य के लिए अपेक्षित ठोस तथा यथार्थ कथानक सर्वथा भिन्न होता है। ऐसा काव्य महाकाव्य न होकर भी महाकाव्य की विशेषताओं को लेकर लिखा जाता है।

13.4. द्वितीय विषय–वस्तु भाग (Second Content Sction) – इस भाग में पद्मावत को 'अन्योक्ति'' कहने वाले विद्वानों के विचारों को समझाया जाएगा और उन आधारभूत तत्वों/कथनों की व्याख्या की जाएगी जिनके आधार पर 'पद्मावत'' को अन्योक्ति कहा जाता है। यहां विभिन्न पात्रों के प्रतीकार्थ को स्पष्ट किया जाएगा और कुछ ऐसे पराम्परागत प्रतीकों को समझाया जाएगा जो पद्मावत को अन्योक्ति मानने की प्रेरणा देते हैं। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि कुछ शब्दों के भावार्थ और प्रतीकार्थ की सम्प्रदाय विशेष द्वारा की जा रही प्रयुक्ति भी महत्वपूर्ण रहती है जैसे कबीर जी की उलटबासियों में शब्द का अर्थ वही नहीं जो प्रत्यक्ष और सामान्य समाज द्वारा स्वीकृत है, बल्कि संतों ने शब्द को अपनी विचार परम्परा के बीच से उठा कर काव्य में प्रयुक्त करके उसे सम्प्रदाय विशेष के अर्थ विशेष के रूप में प्रयुक्त किया है। सूफी या प्रेम मार्गी कवियों ने भी इस वृत्ति को अपना कर अन्योक्ति का विकास किया जिसका परिचय दिया जाएगा।

यहां दोनों ही शब्दों अन्योक्ति और समासोक्ति को पद्मावत के संदर्भ में समझा जाएगा।

पद्मावत की कथा के समग्र वर्णन को अप्रस्तुत अथवा उपमान के रूप में स्वीकार करते हुए डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ. रामदहिन मिश्र, डॉ. हरदेव और डॉ. बड़थ्वाल ने पदमावत को रुपकातिश्योक्ति अथवा अन्योक्ति स्वीकार किया है। जबकि इसके विपरीत पं. चन्द्रबली पांडेय, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र पदमावत को समासोक्ति स्वीकार करते हैं। इन दोनों प्रकार के मतों के अतिरिक्त डॉ. शम्भुनाथ सिंह पदमावत को प्रतीक पद्धति में रचित एलीगरी स्वीकार करते हैं।

वास्तव में जायसी ने सादृश्य मूलक अंलकारों उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त स्वाभावोक्ति, अन्योक्ति और रूपकातिश्योक्ति अलंकारों का मनोरम प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अप्रस्तुत को प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत किया है, प्रतीक अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति का सबल समर्थ साधन हैं। जहां गूढ़ एवं सूक्ष्म भावानाओं या अनुभूतियों का प्रकटीकरण सामान्य भाषा और परम्परागत अलंकारों की सामर्थ्य से परे होता है, वहां समर्थ कवि प्रतीक पद्धति का आश्रय लेता है क्योंकि प्रतीक स्वेच्छा से परे परम्परा से प्रयुक्त होने वाले संकेत हैं, जो अप्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह अध्ययन निम्नलिखित दो भागों में विभक्त होगा –

अन्योक्ति के मूलभूत तत्व के संदर्भ में पद्मावत

कुछ सांप्रदायिक प्रतीक होते हैं, जो अधिकतर रूढ़ होते हैं और धार्मिक कर्मकाण्डों आदि में स्वीकृत हो जाने के कारण इनके स्वरूप को एक निश्चितत्ता प्राप्त हो जाती है परन्तु उनमें व्यंजनात्मकता का अभाव रहता है जिससे वे काव्य में विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाते। जिस प्रकार कबीर की उलटबासियों में ऐसे साम्प्रदायिक प्रतीक आए हैं। जायसी भी कबीर की तरह ही रहस्यवादी हैं, रहस्यवादी की अनुभूति का स्वरूप और उसका साध्य (ईश्वर) भाषा में अकथनीय, अप्रेषणीय होने के कारण प्रतीकों के माध्यम से ही व्यक्त होता है। जायसी ने ऐसे साम्प्रदायिक प्रतीकों का सुंदर संयोजन किया है जैसे

"नव पौरी तेहि गढ़ मंझियारा, और तैहि फरहिं पांच कोतवारा

दुसव दुआर गुपूत एक नाक, अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी

इस अवतरण में गढ़ = शरीर, नव पौरी = नव इन्द्रियां, पांच कोतवाल = पांच प्राण, दसंव दुआर = ब्रह्म रन्ध्र आदि के प्रतीक शब्द हैं। इसी तरह पदमावत में अन्य स्थल पर भी जायसी प्रतीकों का उपयोग करता है। वहांकृ चौदह भुवन = मानव पिण्ड, चितौड़=शरीर, रत्नसेन = मन, सिंघलदीप=हृदय, पद्मावती=बुद्धि, हीरामन तोता=गुरु, नागमती=दुनिया धन्धा अथवा भोग विलास, राघव चेतन=शैतान, अलाउद्दीन=माया के प्रतीक हैं।

हठयोग साधना में सूर्य और चन्द्र काफी भावपूर्ण प्रतीक हैं जायसी ने पद्मावती को चाँद और

रत्नसेन को सूर्य का प्रतीक माना है। ''राजा सुआ संवाद खण्ड'' में रत्नसेन चन्द्र रूपा पद्मावती को प्राप्त करने के लिए सूर्य का रूप धारण करने का संकल्प करता है। 'गोरा बादल संवाद खण्ड' में गोरा बादल कहते हैं कि हम सूर्य रूपी महाराज रत्नसेन को चन्द्ररूपी तुम (पद्मावती) से ला मिलाएंगें। हठ योग प्रदीपिका 3,15 में सूर्य का इड़ा नाड़ी और चन्द्रमा को पिंगला नाड़ी कहा गया है। इन नाडियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को संचारित करना ही सूर्य चन्द्र का सामरस्य है। कहीं पद्मावती को पारस मणि के रूप में माना है, जिसे स्पर्श करके सरोवर का जल निर्मल ही नहीं हुआ बल्कि उसने जैसा चाहा वैसा रूप प्राप्त कर लिया। इस तरह जायसी ने प्रतीक विधान द्वारा अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने का सफल यत्न किया है, प्रतीक अलंकार होते हुए भी कहीं अन्योक्ति तो कहीं समासोक्ति शैलियों को समृद्ध और पुष्ट कर देता है।

'पद्मावत' में जायसी ने पदमावती के सौंदर्य का चित्रण परमात्मा को नारी रूप में कल्पित करके किया है, उसे अतुलनीय सौंदर्य के साथ–साथ परम प्रेममय भी चित्रित किया है। पद्मावत में कवि ने पदमावती के रूप में ईश्वर के जलवे या नूर की कल्पना की है, अतः जहां कहीं पद्मावती की सुंदरता का वर्णन किया है, उसमें आलौकिक ईश्वर अपने लोकोत्तर सौंदर्य में बिम्बित हुआ है। इन स्थलों पर प्रतीकों और अलंकारों द्वारा कवि ने प्रतीक कथा शैली अपनाई है। जैसे बिना सिंदूर चढ़े पदमावती की मांग ऐसे लगती है जैसे रात्रि में उजला पथ –

बिन सिंदूर अस जानहुँ दिया। उजिअर पंथ रैनि मह किया

पद्मावती की केश राशि ऐसी है कि जूड़े को खोलकर छितराने पर सारे संसार में अन्धकार छा जाता है। पद्मावती के सौंदर्य वर्णन में आलौकिकता का पुट होने के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि वह सृष्टि के सारे सुंदर पदार्थों में उसी का (ईश्वर का) प्रतिबिम्ब देखता है।

अप्रस्तुत अर्थ में पद्मावती परम सत्ता की प्रतीक है और जायसी का लक्ष्य पद्मावती के रूप वर्णन द्वारा उसी परम ज्योति के अपरिमित सौंदर्य का वर्णन करना है। उस परम सत्ता के अतिरिक्त उसके दृष्टिकोण में नारी सौंदर्य की कोई निश्चित मूर्ति नहीं है इसी कारण पद्मावती का कोई निश्चित आकार पाठकों के मन में नहीं जमता। जायसी के सौंदर्य वर्णन की प्रशंसा करते हुए डा. श्री निवास शर्मा ने उचित ही कहा है कि नारी के लौकिक और आलौकिक, भौतिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से जितने मोहक, रमणीक, सजीव, मादक, जीवन्त सौंदर्य–चित्र जायसी में मिल जाते हैं उतने अन्य में नहीं।

वास्तव में जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम कहानी के माध्यम से जीवात्मा द्वारा परमात्मा की उपलब्धि के मार्गों का उद्घाटन किया है। उन्होंने संसार की नश्वरता, उसकी सृष्टि, उसकी क्षणभंगुरता, आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध आदि उन तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जो विश्व के प्रायः सभी देशों के अंतर्मन को मथते रहते हैं।

पद्मावत की कथा में लौकिक प्रेम के द्वारा आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया गया है। जायसी का उद्देश्य लौकिक प्रेम कहानी कहना नहीं है। उन्होंने रत्नसेन को साधक, पद्मावती को ईश्वर, हीरामन तोते को गुरु, नागमती को दुनिया धंधा, राघवचेतन को शैतान, अलाउदीन को माया का प्रतीक मानते हुए आध्यात्मिक कथा कही है। और आत्मा और परमात्मा के मिलन और उसमें आने वाले व्याघातों का चित्रण किया है।

जायसी का मूलोद्देश्य सूफी–साधना पद्धति के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग का उद्घाटन करना है। आलोचकों ने भी पद्मावत में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना स्वीकार की है।

'पद्मावत' के कथा प्रसंगों का लौकिक अर्थ के साथ–साथ आलौकिक अर्थ भी है। इस तथ्य की ओर कवि ने अपनी ओर से भी संकेत कर दिया है कि इस ग्रंथ में जिस प्रेम कहानी को कह रहा हूं, उसका वास्तविक मर्म कोई सिद्ध ज्ञानी ही समझ सकता है पद्मावती के जन्म प्रसंग में ही यह आध्यात्मिक संकेत विद्यमान है कि वह ईश्वर का अवतार है अथवा उसमें ईश्वरीय तेज विद्यमान है

सिंघलद्वीप राजपरवारीं महा सरूप दई औतारी।

इस पंक्ति में 'औतारी' और 'महासरूप' दोनों शब्द आलौकिक ब्रह्म के अवतरण की ओर संकेत करते हैं। पद्मावती के रूप में ईश्वरीय सत्ता को समझ कर ही मानसरोवर का जल उसके चरण–स्पर्श के लिए उत्त्कंठित हो उठता है। तोता हीरामन भी राजा के हृदय में पदमावती रूपी ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम–भाव उत्पन्न कर देता है। कवि ने सिंहलगढ़ के वर्णन में 'नव पंवरी बाकी' नव खण्डों में हठयोगी–साधना का वर्णन किया है और 'नवौ खण्ड नव पौरी' कह कर सूफी साधना के चारों मुकामों शरीयत, तरीकत, हकीकत, मारिफत की ओर संकेत किया है।

पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रत्नसेन का मूर्छित होना, फिर पद्मावती के सौन्दर्य की झलक पाकर मूर्छित होना और पद्मावती द्वारा उसकी मूर्च्छना को भंग करना उसकी भावाविष्टावस्था या हाल की दशा है।

रत्नसेन रूपी साधक पद्मावती रूपी परम ज्योति के सामीप्य की आनंदमयी अनुभूति कर रहा है। रत्नसेन की ये दशाएं सूफी साधना के चारों मुकाम हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य घटनाएं, संवाद हैं और शब्दावली है जिनसे आध्यात्मिक सत्ता की व्यंजना होती है। सांसरिक प्रपंचों से मुक्ति मिलने को सूफी मत में फना कहा जाता है। फना के उपरान्त बका अर्थात् ईश्वर प्रेम की स्थिति आती है। जायसी ने जोगी खण्ड में फना की स्थिति को चित्रित किया है– तजा राज, राजा जा जोगी। औ किंग्गी कर गहै वियोगी। जायसी ने ईश्वर की प्रतिरूप पद्मावती के सौंदर्य का जो वर्णन किया है, उसमें बार–बार उन्होंने ऐसे निर्देश दिए हैं, जो किसी सामान्य नारी पर चरितार्थ न होकर अध्यात्मिक सत्ता की व्यंजना करते हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'जायसी के पदमावत में' कहीं रूपक द्वारा,

कही कथा प्रसंगों के माध्यम से, कहीं घटनाओं, वर्णनों और संवादों के माध्यम से, तो कहीं प्रेम और सौंदर्य के अलौकिक वर्णन द्वारा कवि ने आध्यात्मिक व्यंजना का समावेश किया है।

समासोक्ति के मूलभूत तत्व के संदर्भ में पद्मावत।

सूफी कवियों ने अपने प्रेम कथानकों की प्रेमिका को परमात्मा का प्रतीक माना है। पद्मावत में पद्मावती को परमात्मा और रत्नसेन को आत्मा के रूप में कल्पित करके अनेक लौकिक प्रसंगों से आलौकिक पक्ष की ओर संकेत किया है। जायसी ने जगत के समस्त पदार्थों को ईश्वरीय छाया से उद्भासित कहा है। उनके काव्य में समस्त प्रकृति उस प्रियतम के समागम के लिए उत्कंठित दिखाई पड़ती है। पद्मावती के नखशिख के सौंदर्यपूर्ण वर्णन को सुनकर रत्नसेन बेसुध हो जाता है, उस अवस्था में उसे परम ज्योति के आनंद की अनुभूति होने लगती है, जिसके भंग होने पर उसे ऐसा लगता है जैसे कोई बावला, जाग्रत अवस्था को प्राप्त हो गया है।

अप्रत्यक्ष की ओर संकेत के आधार पर पद्मावत को अन्योक्ति कहा जा सकता है परन्तु यहां पद्मावती का सौंदर्य इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष है और रत्नसेन की विरह अनुभूति इतनी तीखी और प्रत्यक्ष है कि दोनों का प्रेम लौकिक दिखता है अतः यहां इसे समासोक्ति कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि इन्होंने कथा के बीच समासोक्ति द्वारा कई स्थलों पर परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किए हैं।

जायसी के लिए जगत तथा प्रकृति मिथ्या नहीं है, इसके लिए प्रकृति के कण–कण में ब्रह्म व्याप्त है और प्रकृति में प्रतिबिम्बित अपने प्रियतम के मिलन को विरहातुर है। समासोक्ति के आधार पर इन्होंने प्रयत्न और मिलन के अति मनोरम चित्र उतारे हैं। वस्तु वर्णन में इन्होंने कई प्रसंगों में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जिनके प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ का बोध अनायास हो जाता है। जैसे सिंहलगढ़ के वर्णन में नौ पौरी, तथा दसवें दरवाजे वाले नगर का संकेत पाठक को अपने नौ छिद्रों और दसवें ब्रह्मरंध्र वाले शरीर का बोध करा देता है।

समासोक्ति एक अलंकार है, जिसमें समान विशेषणों के बल पर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना की जाती है, इसमें अभिधेयार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों को मुख्यता दी जाती है इसे विशेषण–विशेष्य–विच्छत्ति–मूलक अलंकार कहा गया है। यह अन्योक्ति और श्लेष दोनों से भिन्न है।

अन्योक्ति में व्यंग्यार्थ को मुख्यता दी जाती है। समासोक्ति में दोनों पक्ष–अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ प्रधान रहते हैं जैसे रत्नसेन को बंदी बनाकर दिल्ली भेजने के प्रसंग में, जहां दिल्ली का अप्रस्तुत अर्थ परलोक लिया जाएगा। वहां इसके प्रसंगत घटनात्मक अर्थ को छोड़ा नहीं जा सकता। श्लेष और समासोक्ति में भी अंतर है, श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिए वचनबद्ध होता है, किंतु समासोक्ति में यह आवश्यक नहीं कि कवि आदि से अंत तक दोनों अर्थों का निर्वाह करता जाए, जहां उसे मौका मिले, वह विशेषणों के प्रयोग से अप्रस्तुत अर्थ की भी अभिव्यंजना कर देता है, जायसी ने 'पद्मावत' में इसी समासोक्ति पद्धति को अपनाया है – 'तन चितउर मन राउर कीन्हा' में जो लोग पद–पद पर 'पद्मावत'

में रूपक–निर्वाह की बात सोचते हैं, वे गलती करते हैं।

13.5. तृतीय विषय–वस्तु भाग (Third Content Section) – इस भाग में 'पद्मावत' को 'अन्योक्ति और समासोक्ति' कहने वाले विद्वानों के विचारों को उजागर करके इनके आधार पर बनने वाली उनकी सहमति की व्याख्या की जाएगी और छात्रों को प्रेरित किया जाएगा कि वे अपना मत स्थापित करें और अपने मत की व्याख्या करें। ताकि उनकी विकसित हुई समझ का मूल्यांकन हो सके और जाना जा सके कि पाठ का उद्देश्यपूर्ण हुआ कि नहीं।

पद्मावत अन्योक्ति है या समासोक्ति यदि प्रस्तुत अर्थ के साथ–साथ किसी अन्य अर्थ की भी व्यंजना की गई है और वह अर्थ गौण है तो पद्मावत समासोक्ति कहलाएगा। परन्तु यदि प्रस्तुत के साथ–साथ अप्रस्तुत अर्थ की व्यंजना अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना प्रधान सिद्ध होती तो पद्मावत की गणना अन्योक्ति परक काव्य में की जानी चाहिए। 'पद्मावत' में प्रधानता प्रस्तुत अर्थ की है या अप्रस्तुत अर्थ की, इस संदर्भ में कुछ विद्वान मानते हैं कि पद्मावत का कोई निश्चित आध्यात्मिक अर्थ नहीं है, कवि ने केवल अपनी लौकिक भावनाओं पर आध्यात्मिकता का आवरण देने के लिए कथा के अंत में एक विस्तृत अन्योक्ति का क्रम देने की चेष्टा की है। कुछ विद्वान कहते हैं कि पद्मावत विशुद्ध अन्योक्ति काव्य है, जिस की सम्पूर्ण कथा में एक व्यवस्थित प्रस्तुत अर्थ है और वर्णित कथा पूरी तरह अप्रस्तुत है।

कुछ विद्वान यह कहते हैं कि पद्मावत समासोक्ति काव्य है क्योंकि सब प्रस्तुत वर्णनों में यत्र–तत्र एक आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना की गई है, जो प्रस्तुत है।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि पद्मावत में यत्र तत्र अन्योक्ति और यत्र–तत्र समासोक्ति का निर्वाह हुआ है।

वास्तव में यहां अन्योक्ति के साथ–साथ समासोक्ति का भी सफल नियोजन हो गया है। अध्यात्म प्रिय पाठकों के लिए पद्मावत अन्योक्ति है, उनकी दृष्टि में इसका लौकिक अर्थ अप्रस्तुत कहा जाएगा तथा आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत होगा परन्तु लौकिक व्यक्तियों के लिए पद्मावत एक लौकिक काव्य है तथा उसका कथापरक अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है। उसमें बीच–बीच में कवि ने केवल अपनी आध्यात्मिकता व्यंजित कर दी है, अंततः समासोक्ति के सहारे अप्रस्तुत अर्थ की व्यंजना कर दी है। इस दृष्टि भेद के कारण पदमावत अन्योक्ति भी है और समासोक्ति भी है। समासोक्ति और अन्योक्ति दोनों की प्रकृति परस्पर एक दूसरे से भिन्न होती है पर एक ही काव्य में इन दोनों काव्य–शैलियों की अवस्थिति हो सकती है, यही काम जायसी ने किया है, दोनों शैलियों को अपनाकर पद्मावत को अन्योक्ति भी और समासोक्ति भी बना दिया है।

13.6. सारांश/निष्कर्ष (Summary/Conclusion Let us sum up) – इस भाग में 'पद्मावत' को अन्योक्ति के रूप में भी और उसे समासोक्ति के रूप में भी स्थापित करने का

यत्न किया जाएगा।

अन्योक्ति के रूप में : डॉ० गोबिन्द त्रिगुणायत के अनुसार पद्मावत में अन्योक्ति के तीन पक्षों की व्यंजना मिलती है– (1) प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष, जो पण्डितों द्वारा दिया गया अर्थ है। (2) प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष ; जो सूफी साधना से सम्बन्धित अर्थ है। (3) अप्रस्तुत पक्ष जो कथा के वास्तविक वर्णन से सम्बधित है।

पद्मावत में रूपक तत्व का निर्वाह एक स्थान पर द्विविध स्तरों पर करने के प्रयास का ही यह परिणाम निकला है कि जायसी किसी भी पक्ष का सम्यक प्राकारेण निर्वाह नहीं कर सके हैं, इनके रूपक–निर्वाह में बिखराव आ गया है। फिर भी रत्नसेन की मूर्छावस्था, भावाविष्टावस्था और सिंहलगढ़ वर्णन में रूपक तत्व का अपेक्षाकृत अच्छा निर्वाह हुआ है। अतः अध्यात्म प्रिय पाठकों के लिए पद्मावत अन्योक्तिपरक कृति है। वे लौकिक कथा पर, इस कथा द्वारा सांकेतिक आध्यात्मिक कथा का रस–चर्वण करते हैं जबकि सामान्य पाठकों के लिए पद्मावत की लौकिक कथा ही प्रधान है, अतः उनके लिए यह समासोक्ति परक कृति है।

पद्मावत समासोक्ति के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावत को समासोक्ति माना है और कहा है कि यदि कवि के स्पष्टीकरण के अनुसार व्यंग्य अर्थ को ही प्रधान या प्रस्तुत मानें, तो जहां जहां दूसरे अर्थ भी निकलते हैं, वहां वहां अन्योक्ति माननी पड़ेगी पर ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा के अप्रस्तुत होने की धारणा किसी पाठक को हो ही नहीं सकती। अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ को अप्रस्तुत नहीं कह सकते। इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिए।

पद्मावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार के आरोप नहीं हैं। केवल बीच–बीच में कहीं–कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है। अतः इन स्थलों में वाच्यर्थ से अन्य अर्थ जो साधना–पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त के अनुसार 'जायसी का संकेत विशेष–विशेष स्थानों पर ही है, सारी कथा का घटना–पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सका है।'

एक अन्य विद्वान के अनुसार– ''पद्मावत में जिन विशेष स्थलों पर जायसी आध्यात्मिकता की व्यंजना कर सकते हैं या जिसमें प्रस्तुत अर्थ के साथ–साथ अप्रस्तुत अर्थ का भी महत्वपूर्ण स्थान है, उनमें से कुछ स्थल ये हैं– सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड, मानसरोदक खण्ड के वर्णन, सिंहलगढ़–वर्णन, पद्मावती का नख–शिख वर्णन, प्रेम खण्ड के वर्णन आदि। ये सारे वर्णन और प्रसंग सूफी भावात्मक प्रेम और ईश्वरीय साधना के अनुकूल हैं।''

पद्मावती के नख–शिख सौंदर्य का कवि ने समासोक्ति परक वर्णन किया है, उसमें पद्मावती के

सौंदर्य के साथ–साथ परम सत्ता के सौंदर्य की भी झलक मिलती रहती है। मानसरोदक खण्ड में सरोवर द्वारा पदमावती को पारस बताते हुए उसके चरणों को स्पर्श करने की लालसा व्यक्त करना इस अर्थ की व्यंजना करता है कि वह ईश्वर का प्रतिरूप है। पद्मावती के सौंदर्य वर्णन को सुनकर राजा रत्नसेन का मूर्छित हो जाना समासोक्ति की दृष्टि से उल्लेख योग्य प्रसंग है। पद्मावती रूपी परम सत्ता के अलौकिक सौंदर्य के वर्णन सुनने से रत्नसेन उसी प्रकार मुग्ध हो जाता है जिस प्रकार भक्त परमात्मा के सौंदर्य पर मुग्ध होता है। जब किन्हीं पंक्तियों का अप्रस्तुत अर्थ ब्रह्म साक्षात्कार की अनुभूति की व्यंजना होता है तो समासोक्ति शैली ही है।

13.7. पाठांत अभ्यास/परीक्षा–उचित–प्रश्न **(Lesson End Exercise - Examination Oriented Question)** –

(1) पदमावत् अन्योक्ति है कि समासोक्ति अपने विचार स्पष्ट कीजिए?

_____

_____

_____

_____

_____

(2) पदमावत् अन्योक्ति है, क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

(3) पदमावत् समासोक्ति है, क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? उदाहरण सहित अपने विचार स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

13.8. संस्तुत अध्ययन (Suggested Reading) – इस पाठ के विस्तृत अध्ययन के लिए निम्नलिखित पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं।

1. पद्मावत– डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
2. जायसी ग्रन्थावली – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल


~~~
~~~

नागमती का विरह वर्णन

14.0 रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 भूमिका

14.3 प्रथम विषय वस्तु–भाग

14.4 द्वितीय विषय–वस्तु भाग

14.5 तृतीय विषय–वस्तु भाग

14.6 सारांश

14.7 पुस्तक सूची

14.8 पाठांत अभ्यास

14.1 उद्देश्य

प्रत्येक अध्ययन का, प्रत्येक कर्म का कोई न कोई उद्देश्य होता है। इस नाते नागमती के विरह वर्णन के अध्ययन का भी कोई उद्देश्य है। जैसे युवा हो चुके छात्रों को हृदयस्थ स्थायी भावों और संचारी भावों से परिचित करना, इन भावों, विभावों, अनुभावों की परस्पर संयुक्ति से होने वाले रस संचार की अनुभूति और अभिव्यक्ति से परिचित करवा कर उनकी चित्तवृत्तियों का संशोधन और संयमन करना और उन्हें सभ्य समाज का हिस्सा बनकर अपनी सामाजिक जिम्मेवारी के निर्वाह के योग्य बनाना।

शृंगार रस प्राचीन काल से ही रसराज के पद पर आसीन रहा है। काव्यशास्त्रियों ने मनोयोग से इसकी शास्त्रीय व्याख्या और कवियों ने काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है। मध्य युगीन कवि जायसी

ने पद्मावती और नागमती दो नायिकाओं के प्रति रतनसेन की आसक्ति और प्रेम का वर्णन किया है। दोनों ही नायिकाएं रत्नसेन के हृदय में उठे प्रेम की अनुभूति की पोषक रही हैं। पद्मावती के प्रति रत्नसेन का प्रेम अध्यात्म से जुड़ा प्रेम है और पद्मावती आलौकिक सत्ता का प्रतिबिम्बित रूप है जबकि नागमती उसकी पत्नी है, माया का जाल है जो रत्नसेन रूपी आत्मा को अधिक देर तक अपने माया जाल में उलझा नहीं पाती, वह सांसारिक सुख–सौंदर्य का प्रतीक है। जो पद्मावती के गुण गरिमा और सौंदर्य के प्रति हीरामन द्वारा जगायी जिज्ञासा के कारण रत्नसेन के चितौड़ से सिंहलद्वीप की ओर चले जाने से वियोग से पीड़ित है। उसकी विरह जनित पीड़ा की अभिव्यक्ति से परिचित करवाना ही इस पाठ का उद्देश्य है।

14.2 भूमिका

विरह वर्णन श्रृंगार रस का एक पक्ष है, दूसरा पक्ष संयोग वर्णन का है। संयोग और वियोग दोनों प्रकार की मनःस्थिति के मूल में स्थाई भाव रति है। रति भाव की ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के परस्पर संयुक्त होने से श्रृंगार रस के रूप में निष्पत्ति होती है। पदमावत' में संयोग और वियोग आदि श्रृंगार रस के दोनों पक्षों का चित्रण हुआ है। पद्मावत' में पदमावती से विवाह और संयोग के चित्रण को अलौकिक सत्ता से आत्मा के संयोग के रूप में देखा गया है जबकि नागमती से रत्नसेन के संयोग और वियोग को सांसारिक प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया। नागमती के विरह वर्णन के अंतर्गत यहां हमने लौकिक श्रृंगार के सौंदर्य की परख करना है।

14.3 प्रथम विषय वस्तु–भाग

इस भाग में श्रृंगार रस क्या है, इसके स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अनुभाव क्या हैं आदि का परिचय दिया जाएगा। यद्यपि यह काव्य शास्त्र से सम्बद्ध विषय है तदपि छात्रों को इस विषय की जानकारी दिए बिना नागमती के विरह वर्णन को नहीं समझा जा सकता। विशेष कर लौकिक आलौकिक सत्ता के प्रति जो भेदक अनुभूति रहती है, उसे नहीं समझा जा सकता क्योंकि विभाव अनुभाव आदि के आलम्बन तो समान ही रहते हैं। इसे समझाने के लिए निम्नलिखित उपविभागों को ध्यान में रखा जाएगा –

स्थायी भाव रति के बारे समझा कर रति भाव में विक्षोभ पैदा करने वाले विभाव अनुभाव आदि का वर्णन करते हुए श्रृंगार के दोनों पक्षों के बारे समझाया जाएगा।

श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है, जिसमें भिन्न लिंगी के रूप, रंग, आकार गुण आदि और उसकी प्रतिभा, साहस, शौर्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है, उससे मिलने की आकांक्षा पैदा

होती है, जो यत्न से बढ़ती हुई फलागम तक पहुंचती है और रति भाव में पैदा हुआ विक्षोभ अपनी चरमस्थिति तक पहुंच कर फल प्राप्ति के सुख से शान्त होने लगता है। इस प्रक्रिया में संचारी भाव, विभाव, अनुभाव आलम्बन और वातावरण का भोक्ता मानसिक धरातल पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि रस निष्पत्ति की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

काव्य शास्त्रियों ने श्रृंगार रस के दो पक्ष बताए हैं 1. संयोग पक्ष 2. वियोग पक्ष। जब नायक–नायिका साथ रहते हुए जीवन की विभिन्न क्रियाओं का आनंद लेते हैं तो उन अनुभूति क्षणों के हास–विलास, चुम्बन, आलिंगन की क्रियाओं को संयोग पक्ष के अन्तर्गत रखा जाता है। जब नायक–नायिका किसी कारण वश दूर रहते हैं और परस्पर वार्तालाप नहीं कर पाते संयोग पक्ष से जुड़ी कोई क्रिया संभव नहीं हो पाती तो अतीत हो चुके वार्तालाप, हंसी ठिठोली, चुम्बन, आलिंगन का स्मरण कर संतप्त होते हैं, इसे वियोग पक्ष कहते हैं।

वियोग को काव्यशास्त्रियों ने चार प्रकार का माना है –

(क) **पूर्व राग जन्य वियोग –** जिसमें नायक या नायिका अचानक किसी एक को देखते हैं, चौंक जाते हैं, आकर्षित हो जाते हैं और कुछ क्षणों बाद ही बिछुड़ जाते हैं, अभी उनमें राग उत्पन्न नहीं हुआ होता और कुछ ही दिनों में वे उस क्षणिक आकर्षण को भूल जाते हैं पर भूलने से पूर्व वे उन मिलन क्षणों के स्फुरण का स्मरण करते रहते हैं। यह पूर्वराग जन्य वियोग अधिक देर तक नहीं रहता यह आकर्षण और प्रेम अधूरा होता है।

(ख) **मानजन्य वियोग –** यह वियोग नायक नायिका में किसी बात को लेकर रूठ जाने से पैदा होता है, दोनों रहते तो साथ–साथ हैं परन्तु परस्पर वार्तालाप नहीं करते, दूसरे को देख कर भी नहीं देखते और चाहते हैं कि दूसरा पक्ष उसे मनाए, उसकी चिरौरी करे। जब चिरौरी आदि से मनौवल आदि से रूठा पक्ष मान जाता है तो फिर श्रृंगार का संयोग पक्ष आरम्भ हो जाता है। मान मनोबल के क्षणों के बीच की जो पीड़ा और संताप झेला जाता है और काव्य–शास्त्री उसे ही मानजन्य वियोग कहते हैं।

(ग) **प्रवासजन्य वियोग –** यह वियोग तब पैदा होता है जब नायक नायिका में स्थानगत दूरी पैदा हो जाती है, जैसे पुराने जमाने में नायक नौकरी पर परदेश चला जाता था और नायिका घर में सास, ननद, जेठानी, देवरानी के ताने सुनती थी और जब घर के कामकाज से फुर्सत मिलती थी तो नायक के साथ बीते पलों, क्रियाओं, वार्तालाप, खानपान, सैरसपाटे का स्मरण करती हुई संतप्त होती थी, रोती थी, आंसू बहाती थी। प्रवासजन्य वियोग में नायक नायिका दोनों दुखी और संतप्त रहते हैं और मिलने के लिए यत्न करने के बावजूद स्थानगत दूरी के कारण मिल नहीं पाते, सुखद प्रकृति और ऋतुएं भी उन्हें दुख पहुंचाती हैं।

(घ) **चिरवियोग** – यह वियोग न समाप्त होने वाला वियोग है। इस वियोग का कारण है नायक नायिका में से किसी एक की मृत्यु। यह वियोग शृंगार रस की अपेक्षा करुण रस का पक्ष कहा जा सकता है, जिसमें शोक संतप्त नायक या नायिका अपने हृदय को रो–रो कर मना लेने का यत्न करता है कि अब पुनः मिलन नहीं होने वाला। इस स्थिति में भी वह अतीत हो चुके सहवास संयोग की क्रियाओं का स्मरण करता हुआ रोता है और उसे देखने वाले के हृदय में करुणा पैदा होती है। चिरवियोग का चित्रण भारतीय कवि शांत रस के रूप में करते हैं शृंगार रस के रूप में चिरवियोग का वर्णन अत्यल्प हुआ है।

संयोग पक्ष के अंतर्गत कवियों ने नायक नायिका में परस्पर रूपाकर्षण, पूर्वानुराग प्रियतम मिलनातुरता, आगत पतिका का हर्षोल्लास, प्रथम समागम भी नवोढ़ा की लज्जा, रस रंग में एकात्मकता, स्वकीया का सहज दर्प, अभिसारिका की मिलनोत्कंठा, वासकसज्जा की प्रियप्रतीक्षा आदि सभी का हृदयावर्जक वर्णन किया है।

वियोग पक्ष में प्रवत्स्यत पतिका का प्रिय को विदेश–गमन से रोकना, विरह जनित कामदशाओं का वर्णन और प्रेषित पतिका का काग आदि के द्वारा प्रियतम को संदेश भेजना आदि का वर्णन उल्लेखनीय रहा है।

प्रेममार्गी कवियों में संयोग और वियोग दोनों पक्षों के चित्रण में अनुपम रस है। अपने लौकिक रूप में जहां वह गृहस्थियों के लिए आह्लादक है, वहां आलौकिक रूप में वह मोक्ष के इच्छुक पाठकों के लिए उतना ही आनंददायक है। एक ओर यह शृंगार रस अपने परिष्कृत मर्यादित व शील सम्पन्न रूप में लोक मर्यादा को छूता है, दूसरी ओर ऊर्ध्वप्रयाण की बलवती प्रेरणा देता है। इस शृंगार रस में दिव्य रस की आर्द्रता है।

सूफ़ी कवियों का प्रेमी, प्रेयसी की प्राप्ति के लिए वन–वन भटकता है, जोगी बना फिरता है। यह साध्य तो प्रेयसी है और साधक प्रेमी है। यहाँ साधक को साध्य को प्राप्त करने के लिए भरपूर यत्न करना पड़ता है। इस स्वछन्द शृंगार में नायक की अच्छी परीक्षा होती है जिसमें उत्तीर्ण होने पर ही साधक को साध्य उसके (प्रेमिका–ईश्वर) उपहार स्वरूप मिलता है। सूफ़ी काव्य की प्रेमिकाएं और प्रेमी प्रेम–पथ पर आने वाली बाधाओं तथा विकट से विकट विघ्नों को तृणवत समझते हैं और सिद्धिपथ पर बढ़ते रहते हैं।

इन कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में प्रेम पात्र के सौंदर्य को किसी ऐसे प्रकाश या ज्योतिपुंज के रूप में चित्रित किया है कि प्रत्येक जीव उसकी ओर आकर्षित होकर अपना सर्वस्व प्रेम–पथ पर न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाता है।

इन कवियों ने कथा के सूत्रपात में नायक या नायिका के देश, कुल, आचार आदि का उल्लेख रागोत्पति के लिए कर दिया है। नायक और नायिका दूर देश के लोग होते हैं परन्तु रूप गुण कथन सुनकर नायक नायिका की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग कर आंधी–तूफानों का सामना करते हुए घर से चल पड़ता है और उसमें अपूर्व क्रियाशीलता आ जाती है।

कथा में गति लाने के लिए सूफियों ने भारतीय काव्यों में प्रयुक्त हुई काव्य रूढ़ियों–जैसे चित्र दर्शन या स्वप्न दर्शन द्वारा नायिका का रूप देखकर अथवा शुक सारिका द्वारा कहे नायिका के रूपगुण को सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु–पक्षियों की बातचीत में भावी घटना का संकेत पाना, मंदिर, रंगशाला, उपवन, अथवा किसी अन्य गुप्त स्थान पर प्रेमी युगल का मिलना आदि रूढ़ियों द्वारा दोनों में रागोत्पति होना और प्रेम–प्रक्रिया में तीव्रता लाने का यत्न किया है।

सूफियों ने ईरानी काव्य–रूढियों का भी व्यवहार किया है, जैसे प्रेम व्यापार में देवों और परियों का सहयोग। प्रेमी युगल में प्रेमासक्ति के भाव जाग्रत होने के पश्चात उन्हें कड़ी से कड़ी परीक्षा में डाला जाता है। नायक को अन्य सुंदरियों का प्रलोभन देकर आकर्षण तथा मोहपाश में डाला जाता है, किन्तु वह इस परीक्षा में सफल रहता है।

सूफी कवि विरह दशा का विस्तृत वर्णन करते समय प्रेम तत्व का निरूपण भी करते चलते हैं। कथा के बीच में प्रतिनायक और प्रतिनायिका की भी सृष्टि कर ली जाती है ताकि प्रेमी प्रेमिका के प्रेम की परख होती रहे।

सूफी कवियों ने प्रेम के वियोग पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया है, प्रेम का असली रूप विरह में ही निखरता है, मिलन में नहीं, विरह में क्रियाशीलता बनी रहती है जबकि मिलन में जड़ता आ जाती है। विरह अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने बारहमासे के वर्णन को बहुत महत्व दिया है। यहां उन्होंने भारतीय पद्धति के अनुसार पत्र–व्यवहार भी किया है, परन्तु जहां कहीं फारसी साहित्य की प्रचलित रूढियां आई हैं वहा वर्णन अतिरंजित हो गए हैं।

इन कवियों के संयोग अवस्था के वर्णन कभी–कभी अश्लीलता को स्पर्श करने लगते हैं, इन्होंने संयोग अवस्था को या तो भोग विलास के लिए उपयुक्त वातावरण–मान लिया है या कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ कर डाला है।

सूफ़ी कवियों का नखशिख वर्णन काम शास्त्र से प्रभावित है, जिसमें प्रसंगानुसार भारतीय ज्योतिष, रसायन शास्त्र तथा आयुर्वेद के ज्ञान का भी परिचय दिया गया है। सूफी प्रेमाख्यानों के नायक–नायिका के दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धांत व संस्कृति में कोई परिवर्तन नहीं लाया गया बल्कि घटनाओं को ऐसा क्रम दे दिया जाता है कि सूफी प्रेम साधना से मेल बैठ जाए।

इन प्रेमाख्यानों में शृंगार रस की व्यंजना हुई है। सर्वप्रथम नायक नायिका के प्रति आकर्षित होते हैं उनकी प्राप्ति के लिए विरह–वेदना तथा नाना अन्य संकटों को झेलते हैं। पूर्वराग को जाग्रत करने के लिए गुण–श्रवण, प्रत्यक्ष–दर्शन तथा चित्र दर्शनादि उपायों का आश्रय लिया जाता है। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत सूफियों ने सखा–सखी, वन, उपवन, ऋतु परिर्वतन तथा भारतीय साहित्य में वर्णित अन्य उपकरणों का उल्लेख किया है। प्रासंगिक रूप से इन्होंने अनेक अनुभावों का भी दिग्दर्शन करा दिया है परन्तु संयोग शृंगार के वर्णन में इन्होंने इतनी रूचि नहीं दिखाई जितनी रूचि विप्रलम्भ शृंगार (विरह) में दिखाई है और न ही इन्होंने नायक एवं नायिकाओं के भेदों की उद्धरणी प्रस्तुत की है। इनके शृंगार वर्णन पर काम–शास्त्र का भी प्रभाव है।

14.4 द्वितीय विषय–वस्तु भाग

इस भाग में शृंगार रस के वियोग पक्ष की अभिव्यक्ति का विशेष अध्ययन किया जाएगा। वियोग के क्षणों में नायक–नायिका को प्रकृति और अपना परिवेश कैसे प्रभावित करता है, उनकी मनोदशा किस प्रकार प्रकृति के सान्निध्य के प्रति प्रतिक्रियाएं करती है, विभिन्न ऋतुएं उसके हृदय को कैसे संतप्त करती हैं और कवियों और काव्य शास्त्रियों ने इस प्रकार की मनःस्थितियों को कैसे परिभाषित और व्याख्यायित किया है आदि परिचय दिया जाएगा। यहीं वियोग से पीड़ित नायक–नायिका की दसों काम दशाओं का वर्णन किया जाएगा।

पद्मावत' में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अच्छा परिपाक हुआ है, किन्तु उसमें प्रधानता वियोग पक्ष की है। नागमती के माध्यम से वर्णित विप्रलम्भ (वियोग) श्रृंगार विशेष महत्वपूर्ण है, जिसमें विरह जनित प्रेम में एक विलक्षण तीव्रता अनिर्वचनीय क्रियाशीलता तथा निराली तड़प है। विरह जनित कामदशाओं का वर्णन इस भाग का वर्ण्य–विषय रहेगा। नारी के नख–शिख वर्णन द्वारा सूफी कवियों ने नायक (साधक) को नायिका (साध्य) के प्रति आकर्षित किया है, जायसी ने भी अपने काव्य में सौंदर्य–चित्रण के अन्तर्गत उन्हीं वस्तुओं को उपमान के रूप में चुना है, जिनके द्वारा सौंदर्यानुभूति की तीव्रतम अभिव्यंजना की जा सके।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जायसी के रूप वर्णन के सम्बंध में उचित ही कहा है कि केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामलता के वर्णन के लिए परम्परा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर ज़ोर न देकर कवि ने उसके सृष्टि व्यापी प्रभाव की ओर संकेत किया है। जायसी ने पदमावती की शिख से लेकर उसके नखों तक का मसनवी शैली में वर्णन किया है। इस वर्णन प्रणाली के अन्तर्गत जायसी ने पदमावती के सौंदर्य का बहुत अच्छा हृदयग्राही वर्णन किया है। यहां पद्मावती की बंकिम भवों के सौंदर्य को तने हुए धनुष से उपमित किया गया है, मांग ऐसी लगती है जैसे कि मेघों में विद्युत चमक रही हो, या यमुना की नीले रंग की धारा में सरस्वती आ

मिली हो। इसी प्रकार पदमावती के भवों, ग्रीवा, कलाइयों, वक्षस्थल, उदर, पीठ, कमर, नाभि और नितम्बों के सौंदर्य का आकर्षक वर्णन किया गया है।

डा. श्री निवास शर्मा ने उचित ही कहा है कि जायसी ने श्रृंगार के आलम्बन के रूप में नारी शरीर की मोहक और रमणीक, लौकिक और आलौकिक अनेक प्रकार की भव्य झांकियां प्रस्तुत की हैं। जायसी के सौंदर्य चित्र एक ओर तो पाठक को सौंदर्य की लोकोत्तर कल्पना में मग्न करने वाले हैं तो दूसरी ओर वे रमणी के कलेवर के मादक और उत्तेजक चित्र भी बन पड़े हैं।

'पदमावत' के कवि ने कृति में संयोग और वियोग पक्ष की बड़ी सुंदर अभिव्यंजना की है, अलौकिक प्रणय की प्रतिष्ठा के लिए लौकिक प्रणय के संसार से विराग लेकर ब्रह्म की ओर उन्मुख होना ही अपेक्षित मनोवृत्ति है। रत्नसेन भी अलौकिक सत्ता पदमावती रूपी ईश्वर का नखशिख वर्णन सुनकर अपने राजपाट, पत्नी भ्राता, परिजन आदि को त्याग कर योगी हो जाता है। जब तक वह पदमावती से नहीं मिलता, उसमें वैराग्य की भावना ही प्रधान रहती है।

डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने ठीक ही कहा है ''पदमावत का समग्र प्रभाव शांत रस समन्वित है, श्रृंगार रस वाला नहीं, अतः लौकिक कथा की दृष्टि से पदमावत में विप्रलम्भ श्रृंगार अंगी है और आध्यात्मिक दृष्टि से यह शांत रस प्रधान काव्य है।'' यदि आध्यात्मिकता के संकेत को छोड़ दिया जाए तो रत्नसेन का राजपाट और पत्नी, प्रियजन को छोड़ कर योगी के वेश में पदमावती की खोज में घर से निकल पडना़ प्रियतमा की प्राप्ति के उद्देश्य का ही अंग है। जिसको शांत रस के स्थान पर श्रृंगार रस के अंतर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। वास्तव में नायक रत्नसेन द्वारा नायिका पद्मावती की प्राप्ति श्रृंगार रस के अन्तर्गत ही आती है, नख–शिख वर्णन प्रकारन्तर से श्रृंगार रस का ही अंग है।

'पदमावत' में श्रृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण है, पदमावती के विषय में रत्नसेन के हृदय में प्रेम का स्फुरण गुण–श्रवण पर आधारित है, हीरामन तोते द्वारा पदमावती के नख–शिख का विस्तृत वर्णन सुन लेने पर रत्नसेन उसके प्रति प्रेम–सागर में डूबने–उतारने लगता है। जायसी ने रत्नसेन के विरह का सुन्दर वर्णन किया है। साधक के रूप में रत्नसेन पद्मावती रूपी ईश्वर का सौंदर्य–वर्णन सुनकर ही उसके वियोग में मूर्छित हो जाता है। रत्नसेन के रोम–रोम में पद्मावती से मिलन की कामना झंकृत हो उठती है। उसकी दृष्टि में पद्मावती से विरह भोगने की अपेक्षा सूली पर चढ़ना वरेण्य है, वह सूली पर चढने़ के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाता है। पदमावती भी रत्नसेन के विषय में हीरामन से सूचना पा कर उत्साहपूर्वक उससे मिलने के लिए शिव मण्डप में आती है, जब रत्नसेन उसको देख कर मूर्छित हो जाता है, तो वह उस के हृदय पर चन्दन लगाकर उसे होश में लाने का प्रयास करती है। रत्नसेन को दूल्हे के रूप में आते देखकर

पद्मावती के हर्षोल्लास और प्रेमातिशयता का जायसी ने उत्तम वर्णन किया है।

पद्मावत' में कवि को जितनी सफलता वियोग–पक्ष के चित्रण में मिली है, उतनी सफलता संयोग–चित्रण में नहीं मिली, फिर भी इनका संयोग पक्ष चित्रण भी सजीव बन पड़ा है, यद्यपि उस में इतनी व्यापकता, तीव्रता और गंभीरता नहीं जितनी कि विप्रलम्भ (वियोग) श्रृंगार के चित्रण में है।

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत उन्होंने षड्ऋतु का अच्छा वर्णन किया है। रत्नसेन तथा पद्मावती के प्रथम समागम का बड़ा विराट वर्णन है, जिसमें हास्य विनोद का विधान भी है। परन्तु समागम के समय के हावभावों के वर्णन में कहीं कहीं ऐसी छेड़छाड़ है जो फटकार और अश्लीलता की कोटि में पहुंच जाती है, उनके संयोग में एक–एक अंग का अलग–अलग बिखरा हुआ सौंदर्य भले ही हो, पर वह किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाता, इनके संयोग में इतनी मार्मिकता नहीं कि वे पाठक को संयोग के मधुर वातावरण में डुबो सके। फिर भी पति रत्नसेन से मिलनोत्सुक पद्मावती का चित्र हृदयाग्राही है–

''हुलसे नैन दरस मदमाते हुलसे अधर रंग रस राते
हुलसे कुच कसनीबंद टूटे। हुलसी भुजा वलय कर फूटे
आज चाँद घर आबा सूरु। आजु सिंगार होई सब चूरू।''

जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के विवाहोपरान्त उनकी सुहागरात का बड़ा मनोरम चित्रण किया है। नवपरिणीता या नवोढ़ा की भय और आह्लाद मिश्रित भावनाओं को भी जायसी ने बखूबी चित्रित किया है। पति के समीप आने में संकोच करती पद्मावती को सखियां समझाती हैं परन्तु पद्मावती इस शंका से ग्रस्त खड़ी रह जाती है कि जब प्रियतम उसका हाथ पकड़ेगा तब वह क्या कहेगी? नवोढ़ा की आशंका और भय–मिश्रित आह्लाद को देखिए–

'हौं बारी औ दुलहिनी, पीव तरुन, यह सेज।
न जानों कस होइहि, चढ़त कंत कै सेज।''

संयोग श्रृंगार में आलम्बन की सुंदरता का अत्यधिक महत्व होता है। कवि ने यौवन के भार से झुकी हुई पद्मावती के सौंदर्य का मनोहारी चित्रण किया है।

रत्नसेन और नागमती के बीच के संयोग को भी कवि ने चित्रित किया है, परन्तु नागमती लम्बे वियोग के बाद आए रत्नसेन से रूठी हुई है। यहां उसके मानयुक्त संयोग का सुंदर चित्रण देखें

वह मुंह फेर कर बैठ जाती है–

''काह हंससि तू मोंसो, किए जो और सो नेह।

तोहि मुख चमके बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह।''

परन्तु रत्नसेन मान मनौवल करता हुआ रूठी पत्नी के ताने सुनने के बाद उसे कण्ठ लगा कर मना ही लेता है–

''कंठ लाई कै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई।''

पद्मावती और नागमती के मध्य सपत्नी–भाव के कारण कलह होता है, तो राजा दोनों को समझाते हुए साथ–साथ रहने और संभोग (संयोग) का सुख भोगने की सलाह देता है।

''तुम गंगा जमुना दुइ नारी, लिखा मुहम्मद जोग

सेव करहु मिलि दुनहूं, और मानहु सुख भोग''

14.5 तृतीय विषय–वस्तु भाग

इस भाग में विरह में ग्रस्त नागमती का वर्णन किया जाएगा। उसकी विभिन्न काम जनित मनोदशाओं और प्रकृति–परिवेश के प्रति नागमती की प्रतिक्रियाएं इस उपभाग का विषय रहेगा।

नागमती का विरह वर्णन– किसी आलोचक ने उचित ही कहा है कि पद्मावत' में श्रृंगार के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष के प्रसंगों में प्रेमभाव की अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक व्यंजना मिलती है। परन्तु पद्मावत' में वियोग वर्णन की दृष्टि से पद्मावती की अपेक्षा नागमती का वियोग वर्णन ही विशेष महत्वपूर्ण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी नागमती के वियोग वर्णन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि ''नागमती के वियोग वर्णन में वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं तथा व्यापारों का अलंकृत स्निग्ध, सरल, मृदुल और प्राकृत प्रवाह देखने योग्य है।''

पति के चितौड़ लौटने के मार्ग को जोहती हुई नागमती की हार्दिक व्यथा देखने वाली है

''नागमती चित उर पंथ हेरा। पिउ जो गए फिर कीन्ह न फेरा''

उसे लगता है मानो हम सारसों की जोड़ी बिछुड़ गई है और उसका शरीर अस्थि–पंजर मात्र रह गया है–

''झुरि झुरि पाँज रिधनि भई बिरह कै लागी अग्गि।''

आषाढ़ के महीने में घन–घटाए गर्जन करती हुई आकाश पर छा जाती हैं तो उसे प्रतीत होता है मानो उस पर कामदेव की सेना ने आक्रमण कर दिया है।

सावन के महीने में वह अन्य गृहणियों को अपने पतियों के साथ हिंडोले पर झूलते देखती है, तो उसका हृदय कसमसा उठता है। वह सोचती है कि उसके पंख होते तो वह भी उड़कर पति के समीप जा पहुंचती।

भाद्रमास में बेचारी नागमती अपनी शैय्या की पाटी को जकड़े हुए जैसे–तैसे अपने हृदय को फटने से रोकने का प्रयास करती है, जबकि उसके नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित होती रहती है–

''बरिसै मघा झकोरी झकोरी। मोर दुई नैन चुवहि जस ओरी''

कार्तिक मास में दीवाली के त्यौहार पर तो बेचारी विरिहणी नागमती की दशा अत्यन्त दयनीय हो उठती है और वह अपने सिर में खाक डालने लगती है–

''हौं का खेलौ कंत बिन तेहिं रही छार सिर मेलि।' '

अगहन महीने में शीतागमन के कारण विरिहनी नागमती की मनोव्यथा और भी अधिक बढ़ जाती है–

'सियरि अगिनि विरहिन हिए जाए। सुलगि सुलगि दगधै भै छाए।''

कहा जा सकता है कवि जायसी ने छः ऋतुओं और उनसे जुड़े त्यौहारों में नागमती के मन की विरह व्यथा का सुंदर और हृदयाग्राही वर्णन किया है, पति के बिन ये त्यौहार फीके और हृदय को संताप देने वाले हो जाते हैं।

आलोचकों ने उचित ही कहा है कि नागमती के विरह–वर्णन से संबंधित कुछ दोहे हिन्दी साहित्य में अमर हैं, विरह–वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ बेजोड़ ये दोहे देखिए–

''रकत ढरा माँ गरा हाड़ भए सब संख
धनि सारस होइ ररि मुई आई समेटहु पंख।''

''यह जन जारौ छार कै कहौं पवन उड़ाउ
मकु तेहि मारग हाइ परौं, कंत धरै जहं पान्हं।''

''हाड़ भए सब किंगुरी, नसैं भई सब तांति
रोवँ रोवँ तैं धुनि उठे, कहौं बिथा केहि भांति।''

विरहनुभूति के ये मार्मिक उद्‌गार नागमती की विरह–पीड़ा की अनूठी अभिव्यक्ति हैं। जायसी ने नागमती के विरह को भारतीय चिंतन और जीवन स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

14.6 सारांश/निष्कर्ष–

इस भाग में पदमावत' में 'नागमती के विरह वर्णन' के सार तत्व को दिया जाएगा

14.7 पुस्तक सूची

1. पद्‌मावत – डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
2. जायसी ग्रन्थावली – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

14.8 पाठांत अभ्यास/परीक्षा–उचित प्रश्न

1. पद्‌मावत में नागमती के विरह वर्णन के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. नागमती के विरह वर्णन की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. नागमती के विरह वर्णन में नागमती की कामजनित व्यथा का वर्णन कीजिए। उसकी कामदशाओं का उदाहरण दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

~~~
~~~

पद्मावत की सांस्कृतिक दृष्टि

15.0 रूपरेखा

15.1 उद्देश्य

15.2 भूमिका

15.3 प्रथम विषय वस्तु

15.4 द्वितीय विषय वस्तु

15.5 तृतीय विषय वस्तु

15.6 सारांश

15.7 पाठांत अभ्यास

15.8 प्रस्तुत अध्ययन

15.1. उद्देश्य (Objectives) – इस भाग में सांस्कृतिक दृष्टि विकसित करने की प्रेरणा देना पाठ का मुख्य उद्देश्य है। भारतीय जीवन में संस्कृति सूक्ष्म रूप में निहित रहती है, हमारे रीति–रिवाज़, मेले–त्योहार, व्रत उपवास किसी धर्म सम्प्रदाय विशेष से जुड़े होने के बावजूद समूचे भारतीय जीवन का हिस्सा हैं और जीवन को मर्यादित करते हैं। भारतीय संस्कृति में बंधुत्व, निष्काम सेवा, त्याग, विनम्रता, सत्य, अहिंसा, अहंकार त्याग, सौहार्द्रता ऐसे जीवन मूल्य हैं जो भारतीय धर्म, कला, साहित्य, समाज, रीति–रिवाज़ों में व्यक्त होते रहे हैं।

इस पाठ का यह उद्देश्य है कि इन मूल्यों की साहित्यिक अभिव्यक्ति को समझने के लिए छात्रों को प्रेरित किए जाए और पद्मावत' में अभिव्यक्त संस्कृति को, सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के योग्य बनाया जाए।

पद्मावत' में सूफी धर्म और भारतीय धर्मों का समाहार करके पात्रों और विचारों के आधार पर नये प्रकार की संस्कृति को स्वरूपित किया है, इस नयी सांस्कृतिक सोच अर्थात् सांस्कृतिक दृष्टि से परिचित करवाना इस पाठ का उद्देश्य है। संस्कृति के अंतर्गत विद्वान धर्म और दर्शन के साथ–साथ सृष्टिविद्या (जो प्रत्येक धर्म में अलग–अलग रहती है) की चर्चा करते हैं। दर्शन के अंतर्गत जीव, जगत, ब्रह्म, माया के परस्पर रिश्तों को देखना, समझना, समझाना भारतीय संस्कृति का प्रमुख चिंतन पक्ष रहा है। इसी तरह सूफी दर्शन में भी इन प्रश्नों पर अपने ढंग से चिंतन किया गया है।

इन दोनों चिंतन धाराओं के समाहार से विकसित हुई भारतीय सूफी विचारधारा प्रेम मार्गीय भक्ति के रूप में विकसित हुई है। जायसी से पहले भी और जायसी के बाद भी सूफी कवियों ने प्रेममार्गी सांस्कृतिक दृष्टि को विकसित करते हुए प्रेम काव्य लिखे हैं। जायसी का प्रेम काव्य पद्मावत' सूफी संस्कृति को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करता है। जिससे छात्रों को परिचित कराना और प्रेम और सद्भाव से सामाजिक जीवन को सौहार्द्रपूर्ण बनाए रखने की प्रेरणा देना इस पाठ का उद्देश्य है।

15.2. भूमिका (Introduction) – किसी भी समाज की संस्कृति उसके धर्म, राजनीति, सृष्टिविद्या, कला और सामाजिक संस्थाओं में अभिव्यक्त होती है, संस्कृति किसी क्षेत्र के लोगों की जीवन–क्रियाओं के सूक्ष्म रूप में अभिन्न जुड़ी रहती है। लोगों के व्यवहार किसी क्षेत्र के सांस्कृतिक रीति–रिवाजों और मर्यादाओं में बंधे होते हैं और संस्कृति समाज को नियंत्रित करती हुई व्यक्ति के व्यवहार को वैयक्तिकता से हटा कर सामाजिक, धार्मिक और कलात्मक बनाती है, उसके प्राकृत रूप को परिष्कृत करती है। संस्कृति शब्द के अंतर्गत किसी समाज के सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक जीवन को व्यक्त किया जाता है। भारतीय संस्कृति का एक हिस्सा है सूफी संस्कृति। यद्यपि सूफी संस्कृति अरब, ईरान से आई पर भारत में इसके स्वरूप में भारतीयता आ गई, जिसका परिचय यहां जाएगा।

15.3. प्रथम विषय–वस्तु (First Content Section) – पाठ के इस भाग में सूफी संस्कृति के विकास और स्वरूप तथा उसके महत्त्वपूर्ण तत्वों का परिचय दिया जाएगा। सूफी संस्कृति का विकास, सामी संस्कृति, मसीह संस्कृति, इस्लामिक संस्कृति और भारतीय आर्य संस्कृति के परस्पर प्रभाव से होता रहा है। भारत में अरब के रास्ते इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव ने प्रवेश किया परन्तु वह आठवीं से बारहवीं सदी तक सिन्ध और पंजाब तक ही सीमित रहा।

बारहवीं सदी में सूफियों के अनेक सम्प्रदायों के संत फकीर आदि भारत में फैल गए और अपने विचारों का प्रचार–प्रसार करने लगे। बारहवीं सदी से सूफी प्रेममार्गी कवियों ने सूफी काव्य परम्परा का भारत में आरम्भ किया, जिसका संक्षिप्त परिचय देने के साथ–साथ सूफी संस्कृति का मिश्रित

परिचय दिया जाएगा; विशेषकर सूफियों की सृष्टि विद्या का, जिसमें करतार को ही इस जगत का निर्माता माना जाता है, वही एक–एक कर सभी सांसारिक वस्तुओं पर्वतों, वनस्पतियों, अग्नि, वायु, जल, मिट्टी का निर्माण करता है। वही कर्ता सर्वोच्च सत्ता है; जो बिम्ब है और जिसकी सत्ता साधक के लिए प्रतिबिम्ब के रूप में व्यक्त हो रही है। जायसी भी कहते हैं कि पद्मावती उसी परम सत्ता का प्रतिबिम्ब है।

सूफियों ने माया की अपेक्षा शैतान को स्वीकार किया है जो सूफियों के अनुसार उनकी राह में रोड़े अटकाता है और साधक के साहस, संघर्ष और लग्न की परीक्षा होती रहती है, साधक के हृदय में प्रेमिका (साध्य) को प्राप्त करने की जितनी अधिक तीव्र आकांक्षा होगी उतना ही वह साहसी और संघर्षशील होगा। उसकी प्रेम की पीड़ा ही साधक को आगे बढने़ की प्रेरणा देती है और यह प्रेम–पीड़ा ही शैतान द्वारा खड़ी की गई बाधाओं को जीत लेने की संघर्ष शक्ति प्रदान करती है, इसी विचार की अभिव्यक्ति सूफी कवियों ने की है, जायसी के पद्मवत' में भी यह विचारधारा प्रवाहित हो रही है, जिससे छात्रों को परिचित करवाया जाएगा। सूफी कवियों की सांस्कृतिक दृष्टि का निम्नलिखित उपभागों में परिचय दिया जाएगा।

सूफ़ी शब्द सफ़ शब्द से निकला माना जाता है। सफ़ शब्द का अर्थ है अग्रिम पंक्ति में, जो अग्रिम पंक्ति में खड़े होंगे वे सूफ़ी होंगे। कुछ मदीना की मस्ज़िद के समक्ष 'सुफ्फा' चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफ़ी कहते हैं। सूफी शब्द सोफ़िया (ज्ञान) का रूपांतर भी कहा जाता है, इस अर्थ से सूफ़ी ज्ञानी हुए। सूफ़ी शब्द का सम्बंध सफ़ा से भी जोड़ा गया है, जिसका अर्थ है पवित्र और शुद्धतः इस अर्थ से सूफ़ी शुद्ध और पवित्र आचरण करने वाले हुए। सूफ़ा अरब की एक जाति विशेष भी है, सुफ्फा यन्त्र विशेष भी है। सूफी शब्द का सम्बंध सूफ़ (ऊन) से भी है, पहले सूफ़ी लोग मोटे ऊन के कपड़े धारण करते थे।

कुछ ईसाई संत भी हैं जो संसार को त्याग कर संन्यासियों जैसा जीवन जीते हैं और इनका आचरण सीधा–सादा और पवित्र है और जो ऐसे पहनावे और सादगीपूर्ण जीवन के कारण हो रही अपनी निंदा की परवाह नहीं करते, बल्कि जिन्होंने इस पहनावे को एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे दिया था। संभव है उन्हीं के अनुकरण में सूफ़ियों ने भी काला ऊनी चोग़ा पहनना आरम्भ कर दिया हो।

सूफ़ीमत का आदि स्रोत :– सभी जातियों की आदिम प्रवृत्तियों में सूफ़ीमत का आदि स्रोत मिलता है। सूफ़ीमत की आधारशिला रति–भाव है, जिसका शामी जातियों ने पहले पहल विरोध किया। शामी जातियों से चुम्बन की परिपाटी सूफ़ियों में बोसे और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई।

सूफियों के प्रमुख तत्व प्रेम का स्त्रोत भी शामियों की गुह्य–मंडली मानी गई है, जिसमें निरंतर सुरा–सेवन होता रहता था, कहीं हाल आ रहा था, कहीं करामात दिखाई जा रही थी।

सूफ़ियों के पूर्व–पुरुष ये नबी ही हैं जो सहजानंद के उपासक थे और आत्मशुद्धि के लिए अनेक उपायों का आश्रय लेकर प्रेम का राग अलापते थे, सूफ़ियों के पूर्व–पुरुष ये नबी हाल की दशा में करामात दिखाते थे। इन्हीं की भावना सूफ़ी मत में पल्वित होकर पुष्पित हुई।''

जब मूसा ने प्रवृत्ति मार्ग पर ज़ोर देकर लौकिक प्रेम का समर्थन किया तो सूफ़ी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानने लगे हैं। इससे लौकिक प्रेम का समर्थन हुआ पर संयत भोग का विधान किया गया।

कुछ शामी रतिदान से घृणा करने के कारण नबी संतान कहलाए, कभी–कभी वे देवता के वश में होकर जो कुछ बोलते थे, वह इल्हाम कहलाया और उनकी ऐसी दशा हाल कहलाई। सूफ़ियों के इल्हाम और हाल की दशा का मूल इन्हीं शामी जातियों में पाया जाता है। पीर परस्ती और समाधि पूजा भी सूफ़ियों ने शामियों से ली है।

यहोबा के आविर्भाव के कारण उक्त नबियों की प्रतिष्ठा क्षीण हो गई, फिर भी सूफ़ीमत पर उन नबियों के इल्हाम और हाल का प्रभाव पड़ा।

यहोबा ने रति–क्रिया से दूर रहने की काफी चेष्टा की पर यहोबा के मंदिरों में देवदासों और देवदासियों के रूप में प्रेम का यह स्त्रोत फूट पड़ा। सूफ़ियों के इश्क मिजाजी और इश्क हकीकी में यही प्रेम भावना निहित है।

सुलेमान के गीतों में भी प्रेम की इसी दशा के दर्शन होते हैं। इन गीतों में परमात्मा और आत्मा दूल्हा और दुल्हिन होते हैं। इन गीतों में लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है और यही पद्धति सूफ़ियों में मान्य रही है।

मसीह के आविर्भाव से प्राणी जातियों में विराग की प्रवृत्ति जागी किन्तु धीरे–धीरे मसीह के उपासकों में प्रणय–भावना प्रचारित होती गई। इसी कारण एक स्थान पर मसीह को दूल्हा तथा उनके भक्त को दुल्हिन कहा गया है, संभव है मसीह अनुयायियों पर यूनान की गृह्य टोलियों या अफालतून (प्लेटो) के प्रेम का प्रभाव पड़ा हो। मसीह मत में प्रेम का प्ररूप सूफ़ी मत के ससर्ग का परिणाम है।

सूफ़ीमत की प्रेम भावना की अपेक्षा मसीह मत के प्रेम तत्व में आध्यात्मिकता का अभाव है। मसीह का मूलमंत्र विराग है जिस तरह मुसलमानों के पतन के पश्चात् मसीह सूफ़ी मत को अपनी ओर खींचने लगे और आरम्भिक सूफ़ों को यूहन्ना या मसीहा का शिष्य कहने लगे उसी तरह कुछ लोग सूफ़ी मत को हज़रत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही एक रूप मानने लगे, जबकि अनेक सूफ़ी अपने आपको उस धर्म से अलग मानते हैं। फिर भी उन पर इस्लाम धर्म का प्रभाव (विशेषकर इस्लाम गुह्य विद्या का प्रभाव) देखा जा सकता है।

पहले–पहल यहोवा के उपासकों की कट्टरता और संकीर्णता के कारण मादक–भाव (हाल) को काफी क्षति पहुंची किन्तु बाद में यही भाव उनमें कबायली रूप में (कबीले के रूप मे) मान्य हुआ। इसी तरह यहोवा के मंदिरों में देवदास देवदासियों के प्रेम के रूप में हसीअ को अपने अली के प्रेम का प्रमाण मिला।

नास्तिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक संत था, मादन भाव नास्तिक मत का प्रधान अंग था। नास्तिक मत का प्रभाव; इस मादन भाव का प्रभाव सूफ़ीमत पर पड़ा। इस प्रभाव के कारण सूफ़ी आज भी (मादन भाव के लिए) पीरे मुगां से मधुपान की याचना करते हैं। सूफ़ी मत का एक प्राचीन नाम नास्तिक मत भी मिलता है।

इस नास्तिक मत के बिखराव से मानी मत का विकास हुआ, मानी मत पर महात्मा बुद्ध का प्रभाव पड़ा, जिससे मानी मत में गुरू–शिष्य परम्परा का विधान हुआ। मूर्तियों के खंडन और जन्मान्तर–निरूपण के सम्बंध में विचारधारा का विकास हुआ, और वही विचारधारा सूफ़ी मत का दर्शन हो गई। मानी मत की परिणति तसव्वुफ हो गई।

अहं ब्रह्मास्मि की घोषणा करके अद्वैत की प्रतिष्ठा करने वाले मंसूर अंशतः सूफ़ी हैं, उनके गान में करूणा, वेदना और कामुकता का मिश्रण है।

वस्तुतः सूफ़ी मत पर चार प्रभाव स्पष्ट दिखते हैं–इस्लाम की गुह्य विद्या, आर्यों का अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद, नवअफलातूनी मत और विचार स्वातंत्र्य।

ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वर की उद्‌बुद्धि का नाम तसव्वुफ है जो एक प्रकार से रहस्यवाद है और आदर्शवाद से भिन्न है।

सूफी मत इस्लाम धर्म की शरीयत (कर्मकाण्ड) की प्रतिकिया का उसी प्रकार फल है, जिस प्रकार हिन्दू धर्म–साधना में वैदिक कर्म–काण्ड की प्रतिक्रिया का फल वैष्णव मत है।

वास्तव में सूफ़ीमत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहिम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ। जबकि सूफ़ी मत के मूल में प्रेम का निवास है। सूफ़ीमत जीवन का क्रियात्मक धर्म तथा नियम है, जिसमें किसी प्रकार की कट्टरता नहीं है, सूफ़ी लोग उदार तथा मुलायम प्रकृति के थे। मूसा की तरह मुहम्मद साहब ने भी संयत भोग का विधान किया है।

वास्तव में अफलातून के दर्शन का प्रभाव सूफी मत पर यूनान में पड़ा और फिर प्लेटिनस द्वारा उस पर भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ा।

प्लेटिनस ने पृथ्वी से लेकर नक्षत्र–मंडल तक व्याप्त आलौकिक सत्ता के आलोक का वर्णन बड़े

अनूठे ढंग से किया है, सूफ़ियों की आध्यात्म भावना इसी से प्रभावित है, सूफ़ीमत में इसी प्रभाव से जो आनंद प्रस्फुटित हुआ है वह पूजा और प्रेम का प्रसाद है।

सूफ़ी मत का पूर्ण विकास मुहम्मद साहब से पूर्व ही हो चुका था किन्तु कालांतर में इस्लाम के सीमित क्षेत्र से सूफ़ी मत को भी प्रतिष्ठा मिली। मुहम्मद साहब नबी के रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने कुरान को इल्हाम कह कर इस्लाम धर्म का प्रवर्तन किया और ईमान और दीन की अपेक्षा इस्लाम पर अधिक बल दिया, उनकी भक्ति में प्रेम की भावना नहीं बल्कि दास्य भावना है। यही कारण है कि उन्हें पूर्णरूपेण सूफ़ी नहीं कहा जा सकता। सूफ़ियों के प्रेम और संगीत के अतिरिक्त प्रायः सभी लक्षण मुहम्मद साहब में पाए जाते हैं।

भारत में सूफ़ी मत का प्रचार 12वीं शताब्दी में होता है। आईने अकबरी में सूफियों के 14 सम्प्रदायों का उल्लेख है। चिश्तिया सम्प्रदाय की सातवीं पीढ़ी के ख्वाज़ा मुईनुद्दीन ने भारत में सूफी मत का प्रचार किया, इस सम्प्रदाय के कुतुबुद्दीन काकी, फरीदुद्दीन (शकर गंज) के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

काकी ने सम्राट अल्तमश को दीक्षित किया, इनके प्रचार का मुख्य साधन संगीत था।

12वीं शताब्दी में कादरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन अब्दुल कादिर ने किया, इस सम्प्रदाय के सैयद मुहम्मद गौस को इतनी ख्याति मिली कि सिकंदर लोधी ने अपनी पुत्री की शादी उससे कर दी।

नक्शबंदी सम्प्रदाय का प्रचार 17वीं शताब्दी में अहमद फारूखी ने किया, इनके प्रभाव में सूफियों में संगीत विधान, नृत्य और साष्टांग दण्डवत आदि कार्य बंद हो गए।

मुग़ल साम्राज्य के ह्रास के साथ सूफ़ी मत का भी ह्रास हो गया।

भारत में सूफ़ी मत का प्रचार 9वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ और 10वीं श्ताब्दी में इसका विशिष्ट प्रचार हुआ जो आगे–आगे बाबर आदि के समय में विशेष रूप से बढ़ता गया।

15.4. द्वितीय विषय–वस्तु भाग (Second Content Section) – इस भाग में पद्मावत' के संदर्भ में सूफी कवि जायसी की सांस्कृतिक दृष्टि का परिचय दिया जाएगा। 'पद्मावत' में सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के लिए निम्नलिखित उपशीर्षक होंगे।

संस्कृति का महत्त्वपूर्ण तत्व है दर्शन। दर्शन के अंतर्गत ईश्वर, जीव, जगत के आपसी रिश्तों को समझा जाता है। ईश्वर के प्रति विचारणा दर्शन का मूलभूत तत्व है। इसलिए सूफ़ी संस्कृति में भी ईश्वर के प्रति विचार किया गया है।

सूफ़ियों के सभी सम्प्रदाय मानते हैं कि ईश्वर निर्विकार और निर्विकल्प है, उसके साथ एकीकरण के लिए प्रेम की पीर का उदय आवश्यक है, अहंभाव की समाप्ति और आत्मसमर्पण से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। जब मनुष्य की सभी इच्छाएं लुप्त हो जाती हैं वह ब्रह्म (अल्लाह) में मिल

जाता है, यही अन–अल्हक (अहं ब्रह्मास्मि) है, यही तसव्वुफ का चरमोत्कर्ष है, और सूफ़ी दर्शन की पराकाष्ठा है, ईश्वर के साथ तादात्मय का एक मात्र उपकरण प्रेम है।

सूफ़ियों के अनेक सम्प्रदाय हैं, ईश्वर के प्रति उनकी भावनाएं भी भिन्न–भिन्न हैं। जैसे इजादिया सम्प्रदाय एकेश्वरवाद, शुदूदिया सम्प्रदाय प्रतिबिम्ब वाद या सर्वात्मवाद को मानता है, बुजूदिया सम्प्रदाय ईश्वर को ही मानता है और संसार की समस्त वस्तुओं में उसकी झलक देखता है। सूफ़ियों का ईश्वर सम्बन्धी यही प्रधान और मान्य मत है, ईश्वर के अतिरिक्त सूफ़ी लोग अन्य किसी सत्ता को नहीं स्वीकार करते परन्तु प्रत्येक धर्म के प्रति सहानुभूति रखते हैं क्योंकि प्रत्येक धर्म में प्रकारान्तर में उन्हें इसी ईश्वरीय सत्ता का आभास होता है।

कुछ लोग ईश्वर को जगत से परे मानते हुए भी, ईश्वर को जगत् में लीन मानते हैं, कुछ लोग ईश्वर और जगत को भिन्न नहीं मानते बल्कि ईश्वर को ही जगत का रूप मानते हैं। जबकि कुछ लोगों ने ईश्वर और जगत को भिन्न–भिन्न माना है। परन्तु सूफ़ी ईश्वर को न जगत् के बाहर समझते हैं न जगत् में लीन, वह जगत के बाहर भी है और अन्दर भी क्योंकि वास्तव में उसका रूप अकल्पनीय और अचिंतनीय है, वह निर्गुण विशेष, शुद्धस्वरूप तथा निरपेक्ष है, प्रकृति में वनस्पति, पशु, पक्षी, जीव आदि में उसी की अंग प्रत्यंग की छाया है। उसी सौंदर्य (प्राकृतिक) पर मुग्ध होकर सूफ़ी उसी मूल सौंदर्य (ईश्वरीय) के दर्शन करना चाहता है और उसी में लीन होकर अपने–आपको एक समझने लगता है।

सृष्टि–विद्या :– विभिन्न दर्शन शास्त्रियों ने अपने–अपने धर्म के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति (यानी सृष्टि–विद्या) पर चर्चा की है। सूफियों ने भी माना है कि ईश्वर ने अपने गूढ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए सृष्टि रची है।

सूफ़ी मानते हैं कि अल्लाह चन्द्रकान्त मणि के रूप में था, जब सृष्टि की कामना से उसने अपने स्वच्छ स्वत्व पर दृष्टिपात किया तो द्रवीभूत होकर पानी के रूप में हो गया, जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भान्ति ऊपर छा गया, उसी स्थूल द्रव्यफेन से सप्त पृथ्वी की रचना की गई, उसके (स्थूल द्रव्य के) सूक्ष्म तत्वों से सप्त लोक और फरिश्ते बने।

अधिकांश सूफियों का विचार है कि ईश्वर (अल्लाह) ने सर्वप्रथम आलोक की सृष्टि की, वह आलोक बीज में बदला, उसी आलोक से पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई, फिर आकाश और तारे बने, तत्पश्चात् सप्त भुवन, धातु उद्भिज पदार्थ, जीव–जन्तु मानव की उत्पत्ति हुई। सूफ़ियों के अनुसार मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, जिसमें ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। प्रत्येक मनुष्य में परिपूर्णता का बीजसुप्तावस्था में रहता है और उसमें प्रस्फुटन की संभावना रहती है।

मानव शरीर में नफस (जड़) अंश भी है और आध्यात्मिक अंश भी। जड़आत्मा अर्थात् नफस मनुष्य को पाप की ओर ले जाता है जबकि रूह आत्मा हृदय के स्वच्छ दर्पण में ईश्वर ईश्वरीय शक्ति का दर्शन करती है, वही (रूह आत्मा) प्रियतम (आत्मा की ईश्वरीय) के साथ मिलन कराता है। नफस को मारना ही मानव का परम कर्त्तव्य है।

सूफी मुहम्मद को सर्वश्रेष्ठ मानव मानते हैं और उनके ज्ञान को विशेष महत्व देते हैं। साधुओं को (जिन्हें वली या पीर कहा जाता है) भी सूफ़ी पूर्ण मानव मानते हैं और ईश्वरीय साक्षात्कार के लिए सूफियों में पीर या सद्गुरु की अपार मान्यता है।

सूफ़ियों ने फना (मानवीय गुणों का नाश) और बका (ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति) को भी माना और महत्व भी दिया है।

इसी फना और बका की धारणा से इन्होंने गुरु, पीर, औलिया को बड़ी मान्यता दी है, बल्कि गुरु के अन्धानुकरण को भी श्रेयस्कर कहा है और पीर और औलिया आदि की उपासना को भी प्रचलित किया है क्योंकि पीर या गुरु ही साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्त करके सिद्धि की ओर ले जाता है।

शैतान :– सूफ़ी मत में शैतान की सत्ता स्वीकार की गई है, जो शंकराचार्य की माया के समान है और साधक के मार्ग में व्यवधान पैदा करता है। परन्तु सूफ़ियों ने शंकराचार्य की तरह माया अर्थात् शैतान को हेय न मानकर श्रेयस्कर माना है, क्योंकि शैतान द्वारा पैदा किए व्यवधान को पार करना ही साधक की सच्ची परीक्षा है, और व्यवधान को पार करने से ही साधक की साधना में परिपक्वता आती है।

गुरु और औलिया या पीर शैतान के विरुद्ध साधक का उचित मार्ग दर्शन हैं। धर्म–साधना और अन्य धार्मिक क्रियाएं सूफ़ियों की दृष्टि में साधक के लिए आवश्यक रहती हैं, इसी से साधक साध्य से साक्षात्कार करता है, सूफ़ियों ने अपनी उपासना में नमाज़, कुरान शरीफ़ का पारायण, चुने हुए भजनों का दैनिक पाठ आदि बाह्य धार्मिक क्रियाओं को अपनाने के लिए कहा है तथा वे आत्म विग्रह, चिंतन और नाम जाप का संबंध आत्मा के संयम से जोड़ते हैं।

बाह्य क्रियाओं के अतिरिक्त उन्होंने मजार की पूजा और तीर्थ यात्रा पर भी विश्वास किया है।

सूफ़ी–साधना में सप्तसोपान माने गए हैं – अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दरिद्रय, धैर्य, विश्वास, संतोष और प्रेम। इनमें प्रेम की बड़ी महत्ता है।

प्रेम के अभाव में साधना में सिद्धि नितांत असंभव है। सूफ़ीमत में प्रेम ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

यह प्रेम (इश्क) लौकिक (मजाजी) से अलौकिक प्रेम (इश्क इकीकी) की ओर उन्मुख होता है, यह प्रेम निष्काम और निस्वार्थ है, इस एकमात्र प्रेम से हाल की दशा प्राप्त होती है, हाल की दशा में साधक बाह्य संसार को भूलकर अपने एकमात्र प्रियतम के रूप में लीन हो जाता है। हाल की दशा में साधक अपनी ओर से निरपेक्ष होकर अपने आपको ईश्वर को अर्पित कर देता है।

हाल ही चार अवस्थाएं मानी गई हैं। प्रथम अवस्था नाजूत में साधक शरीयत का अनुसरण करता है। दूसरी दशा मलकत में साधक तरीकत या उपासना में प्रवृत्त होता है। तीसरी दशा जबरूत में वह आरिफ बन जाता है। चौथी अवस्था लाहूत में पहुंचकर उसे हकीकत (परम तत्व) की उपलब्धि होती है। सूफियों के अनुसार सप्त सोपानों की सिद्धि के साधक में अतींद्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है।

साधना के उपर्युक्त सप्त सोपानों के अतिरिक्त सूफ़ी मत में चार उच्चतर सोपान भी स्वीकार किए गए हैं – जिन्हें मुकामात कहा जाता है। पहला मुकाम है– मार्फ़त जिसे मानव हृदय ईश्वर की उपलब्धि की अनुभूति के द्वारा प्राप्त करता है। दूसरा मुकाम वह है जहां प्रेम का उदय होता है और वह प्रेम उन्माद का रूप धारण कर लेता है, इसे सूफ़ी समाधि कहते हैं। आगे चल कर इसी समाधि की दशा में वस्ल का अवसर प्राप्त होता है और वही दशा आत्मा–परमात्मा के अभेद की सूचक है।

सूफ़ी साधक के सामने ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में आता है। साधक यहां प्रेमी है तो ईश्वर साध्य प्रियतमा, जिसके हाथ से दिए गए मधुपान के लिए साधक सदा लालायित रहता है और जिसे प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के यत्न करता रहता है।

15.5. तृतीय विषय–वस्तु भाग (Third Content Section) – पाठ के इस भाग में 'पद्मावत' में अभिव्यक्त संस्कृति का विश्लेषण करने के लिए प्रेरित किया जाएगा। पद्मावत' में व्यक्त संस्कृति संत साहित्य की खण्डनात्मक वृति की अपेक्षा मण्डनात्मक स्वर लिए हुए है। यह मण्डन किस–किस क्षेत्र में हुआ है, इसका संक्षिप्त परिचय देकर छात्रों को विस्तृत अध्ययन के लिए प्रेरित किया जाएगा।

'पदमावत' की सांस्कृतिक दृष्टि सूफ़ी संस्कृति को सूफ़ी प्रेम मार्गी कवियों ने प्रेमाख्यानों में अभिव्यक्ति प्रदान की है, इस संस्कृति में भारतीय जीवन की तत्कालीन जीवन स्थितियों और भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक तत्वों का समाहार कर लिया गया है और हिन्दू–मुस्लिम के बीच समन्वय स्थापित करने का यत्न किया गया है।

जायसी ने पदमावत् में इसी सांस्कृतिक दृष्टि को अपनाया है। पद्मावत में जायसी ने सूफी संस्कृति में भारतीय संस्कृति का समाहार करने का यत्न किया। जायसी का रहस्यवादी चिंतन

भारतीय अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित है, उनकी साधना वाले सोपान रहस्यवादी साधना के सोपानों से अधिक भिन्न नहीं हैं। जायसी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय संस्कृति और लोक जीवन से अनेक दृश्य, पात्र, प्रसंग और वातावरण लेकर भारतीय महाकाव्य विधा के अनुरूप अंतः कथाओं का नियोजन करके मसनवी शैली का समाहार करते पद्मावत को मौजूदा रूप में ढालने का यत्न किया है।

अंतः कथाओं में इन्होंने पक्षियों, देवों और अप्सराओं का उपयोग किया है, प्रेमी–प्रेमिका के मार्ग में बीहड़ वन पक्षी राक्षस भयंकर तूफान, विषैले सांप, सुदीर्घ, अजगर विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड़ भक्षी राक्षस, मनुष्य भक्षी राक्षस तथा यंत्र तंत्र और जादूटोना जानने वाले मानवों द्वारा बाधाएं उपस्थित की जाती हैं और प्रेमी–प्रेमिका के प्रेम की परीक्षा ली जाती है और चारित्रिक दृढ़ता की परख की जाती है।

कवि जायसी ने भारतीय महाकाव्यों में प्रयुक्त होने वाली कथारूढियों, कथा–अभिप्रायों और काव्य–पद्धितयों का सहारा लेकर पद्मावत' को भारतीय संस्कृति का उद्घोषक काव्य बना दिया है। 'पद्मावत' में कवि ने लोकपक्ष और हिन्दू संस्कृति का भरपूर मिश्रण किया है। सर्वसाधारण के अंधविश्वास, मनौतियों विभिन्न लोकोत्सव, लोकव्यवहार, तीर्थ, व्रत, सांस्कृतिक वातावरण का बड़ी सरलता से अंकन किया है और हिन्दू घरानों की प्रेम–कहानियां लेकर सूफ़ियों को हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का सामान्य परिचय दिया है, उन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन–सहन और आचार–विचार तथा हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा की है।

जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन के गृह त्याग पर माता पिता का रोना, पदमावती का रासरंग, विदा, समागम, यात्रा–युद्ध, सपत्नी कलह, स्वामी भक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल, सतीत्व, अभिसार, पासा खेलना, बाल–विवाह वर्णन, योग की नौ परियों का वर्णन आदि सभी बातों से प्रतीत होता है कि जायसी ने सूफी संस्कृति में भारतीय संस्कृति का सफलता पूर्वक समाहार किया है।

उसने खलनायक या प्रतिनायक की भारतीय कल्पना और सूफ़ियों की शैतान सम्बंधी कल्पना का भी उचित समाहार करके कथा को गति प्रदान की है, और नायक नायिका के उदात्त चरित्र को तीव्र अभिव्यक्ति प्रदान की है।

जायसी के पात्र सात्विक और तामसिक दोनों प्रकार के हैं जो तत्कालीन जीवन के सर्वांगीण व्यवहारिक जीवन को प्रस्तुत करने में सक्षम सिद्ध होते हैं। जायसी ने भारतीय हठयोग, ज्योतिष, कामशास्त्र, उपनिषद् चिंतन, आयुर्विज्ञान आदि से जुड़े लोक प्रचलित ज्ञान का संयोजन करके भारतीय संस्कृति के विस्तृत रूप का पद्मावत' में नियोजन किया है।

उसने मसनवी पद्धति के आधार पर कथा के आरम्भ से पूर्व ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति,

शाह–ए–वक्त की प्रशंसा, आत्म परिचय आदि दिया है जिसका भारतीय महाकाव्यों में मंगलाचरण, गणेश वंदना, गुरु वंदना आदि जैसा ही वर्णन किया है।

परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि सूफ़ी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है जिसमें किसी प्रबंध–काव्य के प्रायः सभी तत्व विद्यमान हैं, किन्तु जिसमें इसके साथ ही साथ कथा–आख्यायिका, जैन चरित्र काव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

स्पष्ट है कि कवि जायसी भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के साथ जुड़ता हुआ अपनी सांस्कृतिक दृष्टि को समृद्ध और सामयिक बना कर 'पद्मावत' की रचना करता है, उसने 'पद्मावत' में लौकिक प्रेम कहानी द्वारा आलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है और लोक प्रचलित कथा में ऐतिहासिकता का सुंदर समन्वय कर दिया है। 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध लोक–प्रचलित कथा कल्कि पुराण पर आधारित है, जिसमें सिंहल द्वीप के राजा वृहद्रथ की त्रैलोक्य सुंदरी कन्या 'पद्मिनी' की कथा है। कवि ने वृहद्रथ को गंधर्वसेन में बदल दिया है और पद्मिनी को पदमावती में तथा वाचाल विद्वान–शिवदत्त नाम के तोते को हीरामन में तथा विष्णु के अवतार कल्कि को रत्नसेन में बदल दिया है।

15.6. सारांश / निष्कर्ष (Summary/Conclusion let us sum up) – इस सारे विश्लेषण और वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि जायसी की सांस्कृतिक दृष्टि समन्वयवादी है जिसमें सूफ़ी संस्कृति और भारतीय संस्कृति का समाहार हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों के लोगों में परस्पर प्रेम को स्थापित करने के लिए किया गया है। सूफ़ी शब्द मूलतः अरब और ईरान के उन व्यक्तियों को सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा पहनते थे और जिनका जीवन विरक्तों–संन्यासियों जैसा साधना पूर्ण था और इसी से वे इबादत के समय में अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।

सूफ़ी फकीरों ने प्रेममय आख्यानों द्वारा हिन्दु–मुस्लिम के बीच समन्वय स्थापित करने का यत्न किया और दोनों संस्कृतियों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया। सूफ़ी प्रेम काव्य कोमल हृदय की सुंदर अभिव्यक्ति है। प्रेम–काव्य की रचना में प्रेम भावना की अभिव्यक्ति जायसी से पहले भी सूफी दर्शन के अनुसार हो रही थी।

जिन दिनों भारत में बाबर और शेरशाह के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ने दोनों जातियों के लोगों को उदार बना दिया था और लोगों में परस्पर सहिष्णुता, समन्वय और संग्राहक बुद्धि का उदय हो रहा था। उन्हीं दिनों सूफी कवियों की प्रेरक रचनाओं में इस उदारता का सहित्यिक रूप अभिव्यक्त हुआ। जायसी ने इस प्रेममय भावना को समन्वयदृष्टि सहित 'पद्मावत' में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

15.7. पाठांत अभ्यास / परीक्षा–उचित प्रश्न **(Lesson End Exercise, Examination Oriented Questions) –**

(1) 'पद्मावत' में व्यक्त सूफी संस्कृति का परिचय दीजिए

(2) 'पद्मावत' की सांस्कृतिक दृष्टि का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

(3) 'पद्मावत' में प्रेममार्गीय संस्कृति को स्पष्ट कीजिए।

15.8 प्रस्तुत अध्ययन (Suggested Reading) – इस पाठ के विस्तृत अध्ययन के लिए निम्नलिखित पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं।

1. पद्मावत डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
2. जायसी ग्रन्थावली – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

~~~
~~~

सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान

16.0 रूपरेखा

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान

16.3.1 सूफी शब्द की उत्पत्ति

16.3.2 सूफी सम्प्रदाय

16.3.3 सूफी काव्य के सिद्धान्त

16.3.4 सूफी काव्य परम्परा

16.3.5 सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान

16.4 सूफी काव्य की विशेषताएं

16.5 सारांश

16.6 कठिन शब्द

16.7 संदर्भ सूची

16.8 उपयोगी पुस्तकें

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.1 उद्देश्य

- सूफी शब्द के प्रति अवगत कराना।
- किस शताब्दी में भारत में सूफियों का आगमन हुआ इसकी जानकारी देना।
- सूफी काव्य के सिद्धान्तों का परिचय देना।
- सूफी काव्य परम्परा की जानकारी देना।

16.2 प्रस्तावना

निर्गुण काव्य धारा की दूसरी शाखा को हिन्दी साहित्य में सूफी काव्यधारा कहा जाता है। इस काव्यधारा को प्रेममार्गी/प्रेमाश्रयी/प्रेमाख्यानक/रोमांटिक कथा काव्य आदि नामों से भी जाना जाता है। प्रस्तुत आलेख में सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान, सूफी शब्द की उत्पत्ति, सूफी सम्प्रदाय, सूफी काव्य के सिद्धान्तों की जानकारी दी गई है।

16.3 सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान

16.3.1 सूफी शब्द की उत्पत्ति

विद्वानों में 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद है। प्रथम प्रकार के विद्वानों के अनुसार मदीना में मस्जिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) पर बैठने वाले 'फकीर' सूफी कहलाये। द्वितीय प्रकार के विद्वानों के अनुसार अपने सदाचार और पवित्रता के कारण कयामत के दिन 'सफ' (अग्रिम पंक्ति) में खड़े होने के सम्मान को पाने के योग्य साधक सूफी नाम से अभिहित किये गये। तीसरे प्रकार के विद्वानों के अनुसार 'सफा' अर्थात् पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले साधु 'सूफी' नाम से प्रसिद्ध हुए। विद्वानों का एक वर्ग सूफी शब्द को 'सोफिस्त' (ज्ञानी) का विकृत रूप मानता है। कुछ विद्वान् इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति विशेष) अथवा 'सुफ्फाह' (भक्त विशेष) का रूपान्तर मानते हैं। किन्तु आज के अधिकांश विद्वानों के मतानुसार 'सूफी' साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले अरब तथा ईराक में निवास करने वाले सूफ़ (सादा ऊन) के कपड़े धारण करने वाले फकीरों का सूचक है।

16.3.2 सूफी सम्प्रदाय

बारहवीं शताब्दी में भारत में सूफियों का आगमन हुआ। सूफी मत चार सम्प्रदायों के रूप में समय–समय पर देश में प्रचलित हुआ। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इन चार सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार बताये हैं–

1. चिश्तिया सम्प्रदाय (बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

2 सुहरावर्दी सम्प्रदाय (तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

3. कादरी सम्प्रदाय (पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

4. नक्शबन्दी सम्प्रदाय (सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

इन चारों में चिश्तिया सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। भारत में सूफी मत का प्रचार करने वाले इस सम्प्रदाय की सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती हुए। कुतुबुद्दीन, काकी, फरीदुद्दीन आदि के नाम इस सम्प्रदाय में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। आगे चलकर यह सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। सम्राट इल्तुतमिश को दीक्षित करने का गौरव काकी को प्राप्त हुआ। इनके प्रचार का मुख्य साधन संगीत था। यह सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया।

बारहवीं शती में अब्दुल कादिर ने कादरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इस सम्प्रदाय में सैयद मोहम्मद गौस को अत्यधिक ख्याति मिली। सिकन्दर लोदी ने अपनी पुत्री की शादी इनसे की थी। 16वीं शताब्दी में अहमद फारूखी ने नक्शबन्दी सम्प्रदाय का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय को हजरत मुहम्मद के समान मान्यता मिली।

सूफियों में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में थोड़ा–बहुत अन्तर होना स्वाभाविक है। सूफी कवियों के अनुसार ईश्वर–निर्गुण निराकार है। ईश्वर के सर्वव्यापी होने पर भी सच्चा प्रेमी ही उसके दर्शन कर सकता है। परमात्मा से मिलन की कुंजी प्रेम ही है। सूफी मत में प्रेम को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ है।

16.3.3 सूफी काव्य के सिद्धान्त

सूफियों के कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

(1) सूफी भी सनातन–पन्थी मुसलमानों जैसा परमात्मा के सम्बन्ध में 'एकेश्वरवाद' में विश्वास करते थे। परमात्मा अपने जैसा आप सनातन–पन्थी इस्लाम के अनुसार है, उसके जैसा और कुछ भी नहीं। वह जात (सत्ता), सिफ्त (गुण) और कर्म में अद्वितीय है। सृष्टि के सभी पदार्थों से भिन्न होने के कारण उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। 'एकेश्वरवाद' का अर्थ सूफियों के लिए दूसरा है। परमात्मा एक अद्वितीय और निरपेक्ष सत्ता है, यह सब जानते हुए भी सूफी यह मानते हैं कि इस दृश्यमान जगत् में परिव्याप्त एकमात्र वही सत्य है। एकमात्र उसी की सत्ता पहले थी और भविष्य में होगी।

(2) प्रेम अथवा इश्क को भी सूफी मत में विशेष स्थान प्राप्त है। परमात्मा से मिलन का एकमात्र साधन सूफियों की दृष्टि में प्रेम है। सूफियों ने अपने को पुरुष तथा परमात्मा को नारी के रूप में

प्रेम की तीव्रता की वृद्धि के लिए ही स्वीकार किया है। अपने प्रियतम के विरह की ज्वाला में जिस समय वह जल रहा होता है, उस समय समस्त जीव–जगत् को अपने विरह की व्यथा से व्यथित मानता है। परमात्मा–रूप नारी के आलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर आत्मा या साधक प्रेम–मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

(3) सूफी मार्ग की चार अवस्थाओं का उल्लेख भारतीय सूफियों ने किया है। पहली अवस्था 'शरीअत' साधक की प्रकृत अवस्था है। यह अवस्था कुरान में प्रतिपादित विधि–निषेधों का पालन करने के कारण साधना की सबसे पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था 'तरीकत' में साधक बाह्य कार्यकलापों को त्यागकर केवल हृदय की शुद्धता के साथ ईश्वर का स्मरण करता है। इसे हार्दिक उपासना भी कह सकते हैं। इसी अवस्था से निकलकर साधक तीसरी अवस्था 'हकीकत' में प्रविष्ट होता है। इस अवस्था में परमात्मा से मिलने की शक्ति आ जाने के कारण उसके मार्ग की सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। चौथी अवस्था 'मारिफत' सिद्धावस्था कही जाती है। इसमें साधक कठिन व्रत और उपवास तथा मौन आदि की साधना करके परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करता है। इसके द्वारा उसे विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार चारों अवस्थाओं के बाद साधक अपने चरम लक्ष्य को पा लोता है तथा अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति का अनुभव करने लगता है।

(4) सूफी मत में 'शैतान' का रूप शंकराचार्य की 'माया' से मिलता–जुलता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन में यह शैतान ही बाधा पहुँचाता है। साधक को साधना–पथ से विचलित करना इसका मुख्य कार्य होता है। शैतान की कल्पना इस्लाम में होने पर भी दोनों के (इस्लाम और सूफी) शैतान (माया) में अन्तर है, क्योंकि इस्लाम का शैतान खुदा का विरोधी तथा सूफी का शैतान खुदा का परम भक्त होता है। शैतान की सृष्टि खुदा ने साधक की परीक्षा के लिए की है। शैतान की परीक्षा को पास करने के पश्चात् ही साधक परमात्मा से मिल सकता है। गुरु ही शैतान के विघ्नों से बचाने में समर्थ है। इसी कारण गुरु को सूफी कवियों ने विशेष महत्व प्रदान किया है।

(5) अपने गूढ़ रहस्यों की अभिव्यक्ति ईश्वर द्वारा सृष्टि–रचना के निमित्त हुई है। जिली का कथन है कि अल्लाह चन्द्रकान्त मणि के समान है। स्वत्व पर दृष्टिपात करने के उपरान्त सृष्टि की कामना से वह द्रवीभूत होकर पानी के रूप में हो गया, जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भाँति ऊपर छा गया। सप्त पृथ्वी की रचना उसी से की गयी। सप्त–लोक और फरिश्ते उसके सूक्ष्म तत्वों से बने हैं। अधिकांश सूफियों के मतानुसार सर्वप्रथम ईश्वर ने मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। उस आलोक के बीच में बदलने पर ही पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई। फिर आकाश और तारे बने। तदुपरान्त सप्त भुवन, धातु, उद्भिज् पदार्थ तथा जीव–जन्तु एवं मानव की रचना हुई। सूफियों की दृष्टि में मानव निखिल सृष्टि–प्रसार का श्रेष्ठतम प्राणी है, जिसके द्वारा ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। सूफियों के अनुसार मानव–शरीर में जड़ और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अंश हैं।

मनुष्य को पाप की ओर नफस (वासनाएँ) ले जाती हैं। मानव का परम कर्तव्य नफस को मारना ही है।

(6) सूफी मत में साधना के सात सोपान माने गये हैं– अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, विश्वास तथा सन्तोष या प्रेम। प्रेम की महत्ता इन सभी सोपानों में सर्वाधिक है। सातों सोपानों को पार करने के उपरान्त उनमें एक अद्वितीय आनन्द का उदय होता है। सूफी ईश्वर को सत्तर हजार पर्दों के पीछे मानते हैं। अन्धकार के इन सभी पर्दों को फाड़ता हुआ साधक प्रकाशमय पर्दों के पास जाता है अर्थात् साधक मानवीय गुणों का अतिक्रमण करके ईश्वरीय गुणों को प्राप्त कर लेता है। सप्त सोपानों के अतिरिक्त चार उच्चतर सोपान और माने गये हें, जिन्हें क्रमशः (1) शरीअत, (2) तरीकत, (3) हकीकत, तथा (4) मारिफत की संज्ञा प्रदान की गयी है।

16.3.4 सूफी काव्य परम्परा

1. **असाइत–** डॉ० नगेन्द्र ने अपने इतिहास ग्रंथ में इन्हें सूफी काव्य परम्परा का प्रथम कवि माना है। असाइत ने 'हंसावली' की रचना सन् 1370 ई० में की। इस प्रेमाख्यान में राजस्थानी भाषा के प्राचीन रूप का प्रयोग हुआ है। कवि असाइत ने इस कृति का रचना स्त्रोत विक्रम एवं बैताल की कथा को माना है। इसमें पाटण की राजकुमारी हंसावली तथा नायक राजकुमार के प्रेम का चित्रण है। भाव सौन्दर्य एवं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से यह रचना साधारण कोटि की है।

2. **मुल्ला दाउद–** डॉ० राम कुमार वर्मा ने मुल्ला दाउद के चंदायन (सन् 1379 ई०) से सूफी काव्य परम्परा का प्रवर्तन माना है। इसके नायक का नाम लोर (अथवा लोरिक) तथा नायिका का नाम चन्दा है। इस प्रेमाख्यान में इन दोनों के उन्मुक्त प्रेम का चित्रण किया गया है। इसकी रचना प्राकृत–अपभ्रंश में प्रचलित कड़वक शैली में की गयी है। इसमें सूफी काव्य की मसनवी शैली का अनुसरण नहीं किया गया है।

3. **कुतुबन–** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मृगावती' (सन् 1501 ई०) के रचयिता कुतुबन को इस परम्परा का प्रथम कवि माना है। 'मृगावती' में चन्द्र नगर के राजा गणपति देव के पुत्र राजकुमार तथा कंचनपुर के राजा रूप मुरारी की कन्या मृगावती की सरस प्रेम कथा का वर्णन है। यह ग्रन्थ अवधी भाषा में लिखा गया है। इसमें भी कड़वक शैली (दोहा–चौपाई शैली) का ही प्रयोग किया गया है। इसमें परम्परागत प्रेमाख्यानों की विभिन्न शैलियों का कुशलतापूर्वक समन्वय देखने को मिलता है।

   मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में सपनावति, मुगुधावति, मिरगावति, खण्डावति, मधुमालति तथा प्रेमावति नामक प्रेमाख्यान काव्यों का उल्लेख किया है; पर इनमें से मिरगावति और मधुमालति को छोड़कर शेष अनुपलब्ध हैं।

4. **मलिक मुहम्मद जायसी–** जायसी भक्तिकालीन सूफी प्रेमाख्यान–काव्य परम्परा के प्रमुख कवि माने जाते हैं। अन्तः साक्ष्य के आधार पर जायसी का जन्म सन् 1498 ई० तथा मृत्यु 1542 ई० में मानी जाती है। इनका परिवार जायस (रायबरेली) में रहता था। जायसी के दाम्पत्य जीवन के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं, कुछ विद्वानों का कहना है कि जायसी का विवाह हुआ था, उनके पुत्र भी थे, लेकिन वे किसी दीवार के नीचे दबने या अन्य किसी दुर्घटना में मर गये, जिसके प्रभाव से जायसी विरक्त हुए और घर छोड़कर सैयद असरफ जहाँगीर तथा मुहीउद्दीन चिश्ती से दीक्षित हो गये। कुछ विद्वानों के मत में माता–पिता की मृत्यु के पश्चात् ये बचपन से ही साधुओं की संगति में रहने लगे थे। जायसी बहुत कुरूप थे, लेकिन उनका आंतरिक व्यक्तित्व अत्यधिक सुन्दर था। वे उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, इसीलिए लोगों में इनकी बड़ी मान्यता थी। जायसी के सम्बन्ध अमेठी के राजा से बहुत अच्छे थे और वे इनका बड़ा मान करते थे। अपने अन्तिम दिनों में वे अमेठी के पास जंगल में अपनी कुटिया में रहते थे। कहा जाता है कि इनकी मृत्यु शिकारी की गोली लगने से हुई। उसी स्थान पर अमेठी के राजा ने इनकी कब्र बनवा दी। इनकी रचनाओं की संख्या 21 मानी जाती है, लेकिन तीन ही रचनाओं को प्रामाणिक तौर से स्वीकार किया गया है– 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखरी कलाम'।

5. **मंझन–** कवि मंझन के जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो पायी है। रामपुरा स्टेट लाइब्रेरी से मंझन की सुप्रसिद्ध कृति 'मधुमालती' की अधूरी पांडुलिपि प्राप्त हुई है। इस कृति का रचना–काल सन् 1545 ई० माना जाता है। यह कृति 'मृगावती' से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है। इसमें कनेसर नगर के राजकुमार मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेमकथा द्वारा निःस्वार्थ प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है।

6. **उसमान–** उसमान जहाँगीरकालीन सूफी कवि थे। चिश्ती सम्प्रदाय के हाजी बाबा इनके गुरु थे। इनका 'चित्रावली' नाम का प्रेमाख्यान ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसका सम्पादन श्री जगमाहेन वर्मा ने किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इसका रचना–काल 1613 ई० है। यह प्रेमाख्यान जायसी के 'पद्मावत' का अनुकरण करता हुआ जान पड़ता है।

7. **शेख नबी–** शेख नबी जिला जौनपुर के रहने वाले थे। सन् 1619 में उन्होंने 'ज्ञानद्वीप' की रचना की थी। इस प्रेमाख्यान में राजा राजशिरोमणि के पुत्र ज्ञानद्वीप और राजकुमारी देवयानी के प्रेम की कथा वर्णित है। इस काव्य में नायक के स्थान पर नायिका की सखी का योगी वेश धारण करना तथा नायिका की सहचरी का अन्य स्थानों पर भी विशेष चित्रण नये प्रयोग को चित्रित करता है। इसमें नायक की खोज के लिए स्वयंवर का आयोजन होता है। कथा का अन्त सुखमय है। इसमें भी वर्णनात्मकता का बाहुल्य पाया गया है।

आचार्य शुक्ल 'ज्ञानद्वीप' को सूफी प्रेमाख्यान धारा की अन्तिम कृति मानते हैं– "यहीं प्रेममार्गी सूफी

कवियों की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्य–क्षेत्र में जब कोई परम्परा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य काल के पीछे भी कुछ दिनों तक समय–समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी–बहुत होती रहती हैं, पर उनके बीच कालान्तर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेख नबी से प्रेमगाथा–परम्परा समाप्त समझनी चाहिए।"[1] शुक्लजी ने कासिमशाह–कृत 'हंस जवाहिर', नूर मुहम्मद–कृत 'इन्द्रावती', 'अनुराग बाँसुरी' आदि का परवर्ती सूफी प्रेम– काव्यों के रूप में उल्लेख किया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इस काल–खण्ड की अन्य अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ रचनाएँ सूफी और कुछ असूफी कवियों की लिखी हुई हैं। इन रचनाओं में सूफी प्रेमाख्यानों के समान सूफी दर्शन का स्पष्ट रूप से अंकन भले ही न हो, लेकिन प्रेम तत्त्व की महत्ता अवश्य प्राप्त होती है। ऐसी रचनाओं में जान–कवि रचित 60 ग्रन्थों में से कथा–रत्नावली, कथा–कनकावती, कथा–कवँलावती, कथा–नल–दमयन्ती आदि 29 प्रेम–कथाएँ, कुशल राय–कृत 'माधवानल–कामकन्दला', नन्ददास कृत 'रूपमंजरी', पुहकर कृत 'रसरतन', दुखहरण दास कृत 'पद्मावती', शेख निसार–कृत 'यूसुफ जुलेखा', चतुर्भुजदास–कृत 'मधुमालती', नजफअली–कृत 'प्रेम चिनगारी', मृगेन्द्र–कृत 'प्रेम पयोनिधि' आदि उल्लेखनीय हैं।

16.3.5 सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान

मलिक मोहम्मद जायसी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के प्रमुख कवि हैं। अवधी भाषा में रचित उनका महाकाव्य 'पद्मावत' सूफी काव्य धारा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, जिसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन एवं सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का चित्रण किया गया है। रत्नसेन यहाँ जीवात्मा का प्रतीक है और पद्मावती परमात्मा का। सूफी काव्य परम्परा के सभी ग्रन्थों में प्रेम की महत्ता स्वीकार की गई है। ये कवि 'प्रेम' को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं और 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हकीकी' तक पहुँचने का सन्देश देते हैं।

जायसी की मान्यता है कि इश्क मिजाजी (लौकिक प्रेम) के द्वारा इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) को पाया जा सकता है। रत्नसेन का पद्मावती के प्रति प्रेम इसी प्रकार का है। प्रेमी के हृदय में प्रिया के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन या सौन्दर्य प्रशंसा का आश्रय लिया जाता है तथा प्रेमी प्रिया को पाने के लए सर्वस्व त्यागकर विघ्न बाधाओं को पार करता हुआ अन्त में उसे प्राप्त कर लेता है। हीरामन तोते के द्वारा पद्मावती के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर राजा रत्नसेन उसे पाने को व्याकुल हो गया और सिंहलद्वीप जाकर उसने अन्ततः अनेक कष्ट झेलने के उपरान्त पद्मावती को प्राप्त कर लिया।

जायसी ने 'पद्मावत' में इसी सूफी प्रेम पद्धति को अपनाया है। पद्मावती के अनुपम रूप सौन्दर्य की प्रशंसा से प्रभावित राजा रत्नसेन योगी बनकर सिंहलद्वीप जाता है। मार्ग में समुद्र यात्रा के समय अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु उन्हें पार करता हुआ वह अन्ततः पद्मावती को पा लेता है। लौटते हुए रास्ते में फिर

विघ्न आते हैं। पद्मावती उससे बिछुड़ जाती है, किन्तु प्रेम की दृढ़ता के कारण उनका पुनर्मिलन होता है। चितौड़ लौटने पर राघवचेतन की दुष्टता के कारण अलाउद्दीन बादशाह पद्मावती को पाने के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण कर देता है तथा राजा रत्नसेन को बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाता है, किन्तु गोरा–बादल की तत्परता से कारागार से मुक्त होकर चित्तौड़ लौट आता है। चित्तौड़ लौटकर राणा वीरपाल से उसका युद्ध होता है जिसमें वह वीरगति को प्राप्त करता है तथा राजा रत्नसेन की दोनों रानियां – नागमती एवं पद्मावती उसके साथ सती हो जाती हैं। इस प्रकार राजा रत्नसेन रूपी आत्मा 'फना' होकर 'अनलहक' की अधिकारिणी बनकर पद्मावती रूपी परमात्मा से एकाकार हो जाती है।

जायसी ने पद्मावती को परमात्मा मानकर उसके रूप–सौन्दर्य की आलौकिक छटा संसार में व्याप्त दिखाई है। संसार में जो कुछ सुन्दर है सब उसी का प्रतिरूप है। मानसरोदक खण्ड के अन्तर्गत पद्मावती रूपी परमात्मा के अलौकिक सौन्दर्य को सर्वत्र व्याप्त दिखाते हुए वे कहते हैं:

'नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।

हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर।।"

जायसी ने पद्मावत में स्थान–स्थान पर प्रेम तत्व का निरूपण किया है। प्रेम की प्राप्ति से दृष्टि निर्मल और आनन्दमय हो जाती है। प्रेम के इस क्षीर सागर को जो पार करते हैं वे 'जीव' संज्ञा को त्यागकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने उनके इस प्रेम के प्रणय तत्त्व पर विचार करते हुए लिखा है, "प्रणय भावना या श्रृंगार रस निरूपण की दृष्टि से इनके पक्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने प्रेम को जीवन का सर्वोपरि तत्व मानते हुए उसके प्रति अत्यन्त उच्च एवं उदात्त दृष्टि का परिचय दिया है; जिससे इनका प्रणय सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आध्यात्मिक आदि सभी बाधाओं, सीमाओं व कुण्ठाओं से मुक्त होकर अपने सहज स्वाभाविक तथा पूर्ण विकसित रूप से प्रस्फुटित होता है।"[2]

जायसी का मत है कि प्रेम की चिंगारी यदि हृदय में पड़ गई और उसे सुलगाते बन पड़ा तो उस अद्भुत अग्नि से सारा लोक विचलित हो जाता है। भगवत्प्रेम की यह प्रेमपूर्ण चिनगारी गुरु ही हृदय में डाल पाता है, किन्तु उसे सुलगाना 'साधक' का काम है। गुरु तो ईश्वर का आभास मात्र कराता है, किन्तु भावना के उत्तरोत्तर उत्कर्ष द्वारा शिष्य उसे पूर्णता तक ले जाता है।

प्रेमी को प्रिय के साक्षात्कार के अतिरिक्त और कोई कामना नहीं होती है। न उसे स्वर्ग की आकांक्षा होती है और न नरक का भय। राजा रत्नसेन भी इसी स्थिति में पहुंच गया है :

ना हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि प्रेम पथ लावा।।

निश्चय ही जायसी की प्रेम भावना अत्यन्त सात्विक है तथा वह लौकिकता से प्रारम्भ होकर

आलौकिकता की ओर अग्रसर हुई है। जायसी ने प्रेम की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उसे ईश्वर का रूप सिद्ध किया है। जायसी ने फारसी प्रेम पद्धति का आधार ग्रहण करते हुए प्रेम की पीर अर्थात् विरह वेदना का अत्यन्त मार्मिक चित्रण 'पद्मावत' में किया है। नागमती की विरह वेदना सम्पूर्ण संसार में व्याप्त दिखाई गई है, यहाँ तक कि उसके विरह की आग में जलकर बादल काले हो गए, राहु–केतु, सूर्य–चन्द्र भी उस विरहाग्नि में जल उठे– "**अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धुंआ जो उठा/ दाढ़ा राहु केतु गा दाधा। सूरज जरा, चांद जरि आधा।।** " विजय देव नारायण साही नागमती की विरह वेदना को चित्रित करते हुए लिखते हैं, "जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती का विरह–वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उस विरह वर्णन के आन्तरिक संवेगों की तरलता और तीव्रता का विश्लेषण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भावग्राही आलोचक बुद्धि ने जिस प्रकार किया है, उसमें कुछ जोड़ने का प्रयास करना व्यर्थ है। यह नागमती का विरह–वर्णन ही था, जिसके कारण शुक्ल जी ने जायसी को गुमनामी से उठाकर हिन्दी की त्रिवेणी में बिठा दिया। मैं बहुत विनम्रतापूर्वक शुक्लजी के इस मूल्यांकन में अपनी आवाज भी मिलाना चाहता हूँ।"[3] इसी प्रकार बाबू गुलाब राय जायसी की रचना 'पद्मावत' पर विचार कर उसकी महत्ता को चित्रित करते हुए लिखते हैं, "पद्मावत जायसी की अक्षय कीर्ति का अमर आधार है। जायसी इसी के कारण हिन्दी के अमर कवियों में से एक हैं।"[4]

फलतः उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मलिक मुहम्मद जायसी सम्पूर्ण सूफी काव्य परम्परा के श्रेष्ठ कवि रहे हैं। उनकी रचनात्मकता को ध्यान से देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी मुस्लिम परिवार में नहीं बल्कि किसी हिन्दू परिवार में जन्मे, पले, बढ़े। वे मुस्लिम परिवार के रीति परम्परा को जीते हुए पूरी तार्किकता के साथ हिन्दू धार्मिक–सामाजिक परम्परा को आत्मसात करते और उसे अपनी रचनाओं में पिरोते रहे। बाबू गुलाब राय लिखते हैं, "जायसी बहुश्रुत थे। उन्होंने ज्योतिष, हठयोग और शतरंज आदि का अच्छा ज्ञान दिखलाया है। यद्यपि जायसी ने हिन्दू कथाओं के वर्णन में भूल की है, जैसे इन्द्र का निवास कैलास बतलाया है और चन्द्रमा को स्त्री कहा है, तथापि इनको हिन्दू धर्म का ज्ञान बहुत अच्छा था।"[5]

पद्मावत के अलावा जायसी की अन्य रचनाओं का उल्लेख भी मिलता है, जिनमें 'अखरावट' और 'आखरी कलाम' प्रमुख हैं। जायसी द्वारा रचित इन दोनों कृतियों पर विचार करते हुए डॉ० बालमुकुन्द पाठक लिखते हैं, "जायसी के 'अखरावट' में जायसी की साधना और आध्यात्मिक दृष्टि का परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में कवि ने परमात्मा, आत्मा, सृष्टितत्त्व पर सूफी दृष्टिकोण से विचार किया है। 'आखरी कलाम' की रचना सूफी मत या साधना के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए की गई जान पड़ती है।"[6]

16.4 सूफी काव्य की विशेषताएँ

सन्त कवियों ने अपनी वाणी के द्वारा हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच समन्वय करने का प्रयास किया था तथा निराकार ब्रह्म को आराध्य बताकर ज्ञानमार्गी भक्ति की स्थापना की थी। सूफी कवियों ने भी

निराकार ब्रह्म की ही स्तुति पर बल दिया, परन्तु उसे ज्ञानगम्य न बताकर प्रेमगम्य बताया। किंचित इसी कारण इन्हें सन्त कवियों की अपेक्षा हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति को समीप लाने एवं उनके हृदय के अजनबीपन को मिटाने में अधिक सफलता मिली। इन्होंने परम–ब्रह्म को प्रेम के द्वारा गम्य बताया, यह प्रेम की साधना हिन्दू–मुसलमान दोनों के लिए समान है–

"विधिना के मार्ग हैं तेते, सगर–नखत तन रोंवा जेते"

1. **प्रबन्धात्मकता–** सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से आलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इनकी ये प्रेम कहानी प्रबन्ध काव्य की परम्परा में आती है। इन्होंने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों के माध्यम से अपने काव्य का ताना–बाना बुना है। सूफियों के काव्यों की कहानियाँ प्रायः एक ही साँचे में ढली हुई जान पड़ती हैं। उनमें यांत्रिकता अधिक है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ इन्हें नए–नए दृश्य, पात्र, प्रसंग, वातावरण, कथा, घटनाओं की नवीन सृष्टि करनी पड़ी है, वहाँ अन्तःकथाओं का नियोजन भी किया है। प्रेमी और प्रेमिकाओं के मार्ग में बीहड़वन, भयंकर तूफान, विषैले साँप, सुदीर्घ अजगर, विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड़ पक्षी, मनुष्यभक्षी राक्षस तथा यन्त्र, मन्त्र, तंत्र और जादू–टोना के प्रयास द्वारा कथा को और रोचक बना दिया गया है।

2. **क्रम–योजना–** सर्वप्रथम मंगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन हजरत मुहम्मद और उनके संयोगी की प्रशंसा, शाहे वक्त का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, अपना तथा पीर का परिचय, अपने सम्प्रदाय का उल्लेख, रचना का निर्माण काल, कथा के सूत्रपात में नायक या नायिका के देश, कुल, आचार आदि का उल्लेख, सूफी काव्य परम्परा के क्रमयोजना को सिद्ध करता है। पद्मावत, मृगावती, इन्द्रावती, हंस जवाहिर आदि इसी कोटि के प्रबन्ध काव्य हैं।

3. **प्रेम के वियोग पक्ष का चित्रण–** इन कवियों ने प्रेम के संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष को अधिक महत्व दिया है। इसकी व्यंजना के लिए इन्होंने नाना उपादानों का सहयोग लिया है। विरह वर्णन के अन्तर्गत भारतीय पद्धति बारहमासे का सजीव वर्णन है। उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, बैर, कपट, दया, सहृदयता की भी व्यंजना सुन्दर रूप में हुई है। विरह वर्णन में इन कवियों को जितनी सफलता मिली है, उतनी श्रृंगार के संयोग पक्ष में नहीं। इनका श्रृंगार वर्णन या तो पुरुष–स्त्री के साधारण मिलन तक सीमित रह गया है अथवा कामसूत्र के प्रभाव से प्रभावित जान पड़ता है। इसमें काव्य के उदात्त तत्व के दर्शन नहीं होते।

4. **भारतीय जीवन चरित्र–** इनके प्रायः सभी पात्र भारतीय हैं तथा एक दूसरे से अलग देश के निवासी हैं। प्रायः नायक, नायिका का दर्शन चित्र दर्शन, श्रवण अथवा स्वप्न दर्शन से करता है और प्रभावित होकर घर–द्वार छोड़कर उसकी प्राप्ति हेतु निकल पड़ता है। इन कवियों की सबसे बड़ी

कमज़ोरी यह है कि इनके पात्र चाहे सिंघलद्वीप के हों, चाहे बलख के हों, चाहे रूस के हों, सबकी वेष–भूषा, जबान एक ही है और वह पूर्णतः भारतीय जीवन चरित्र को चित्रित करते हैं।

5. **लोक पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति–** सूफी प्रेम काव्य में लोकपक्ष एवं हिन्दू संस्कृति को पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है। इन काव्यों में सर्व–साधारण में व्याप्त अन्ध–विश्वास, मनौतियाँ, मंत्र–तंत्र, जादू–टोना, डायनों की करतूतें, विभिन्न लोकोत्सव, लोक व्यवहार, तीर्थव्रत आदि हिन्दू सांसारिक वातावरण बड़ी सफलता से अंकित किए गए हैं। इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन–सहन, आचार–विचार का सुन्दर वर्णन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी है। शट्ऋतुओं और बारहमासा के वर्णन से प्रतीत होता है कि इन्हें हिन्दू जीवन का परिचय था और उस परिचय को उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान भी दिया है।

6. **शैतान की परिकल्पना माया के रूप में–** संत कवियों ने माया को हेय और त्याज्य समझा है, क्योंकि वह साधक को साधना के मार्ग से विमुख कर देती है, किन्तु सूफी कवियों ने शैतान को हेय (तुच्छ) और त्याज्य नहीं माना, क्योंकि उसके द्वारा साधक के प्रेम की पराकाष्ठा की परीक्षा होती है, या ली जाती है। पद्मावत में राघव चेतन शैतान के रूप में चित्रित किया गया है।

7. **हिन्दू मुस्लिम एकता–** ज्ञानाश्रयी सन्तों की भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा ने हिन्दू–मुस्लिम जातियों में धार्मिक एकता का श्रीगणेश कर दिया था। किन्तु उन्हें अपने उद्देश्य में यथेष्ठ सफलता न मिली। कारण उनके स्वर में चुभने वाली कर्कशता थी, जिससे हिन्दू–मुसलमान दोनों चिढ़े हुए थे। किन्तु इन मुलायम स्वभाव के सूफियों ने किसी सम्प्रदाय–विशेष का खण्डन नहीं किया, बल्कि दोनों जातियों की एकता के लिए प्रेममार्ग का सहारा लिया और इस सहारे से उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। सम्भवतः यह उनके सामान्य जन–जीवन से जुड़ाव के द्वारा ही सम्भव हो सका।

8. **स्त्री पात्र और ईश्वरीय–** सूफी कवियों ने प्रेम को प्रमुख स्थान देते हुए नारी पात्र को ईश्वर ठहराया है। उनके अनुसार वह परमात्मा का प्रतीक है। नारी वह नूर या रोशनी है, जिसके बिना विश्व सूना है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में– "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती, वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक ईश्वरी सत्ता बनकर आती है।" और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः आलौकिक गुणों से युक्त भी बताया गया है। प्रायः इन काव्यों में स्वकीया नारी का चरित्र ही चित्रित है। कहीं–कहीं पर परकीया का भी चित्रण है।

9. **प्रेम कहानियों की मूल प्रेरणा–** कुछ विद्वानों का विचार है कि इन सूफी कवियों का हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों के माध्यम से प्रछन्न रूप से इस्लाम का प्रचार करना अभीष्ट था। किन्तु वस्तु–स्थिति इससे भिन्न है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों के विकास अथवा अन्त तक कोई ऐसा प्रसंग मिला, जिससे उनका कोई साम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। फलतः यह कहा जा सकता है कि इन मुसलमान कवियों द्वारा अपनायी गयी भारतीय कहानी किसी भी प्रकार से इस्लाम का प्रचार नहीं हैं बल्कि यह उनकी उदात्तता का प्रतीक है।

16.5 सारांश

इस प्रकार जायसी अपनी रचनाओं में पिरोये भावों को सातवें आसमान तक पहुँचाने का पूर्ण प्रयास करते हैं और किसी हद तक वे सफल भी होते हैं। यह सफलता उनको जनपक्षीय जुड़ाव से प्राप्त होती है और यही जनपक्षीय जुड़ाव उनको आगे आने वाली भारतीय पीढ़ी में अमर बनाती, जीती–जगाती रहेगी और वे हमेशा ऐसे ही प्रमुख कवियों में गिने जाते रहेंगे।

16.6 कठिन शब्द

(1) धरा

(2) यथेष्ठ

(3) कर्कशता

(4) प्रेरणा

(5) मनौती

(6) अतिश्योक्ति

(7) परिकल्पना

(8) निराकार

(9) तार्किकता

(10) आत्मसात

16.7 सन्दर्भ सूची

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अठारहवाँ संस्करण, 1978, पृष्ठ 78।
2. डॉ० नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, बयालीसवाँ संस्करण – 2012, पृष्ठ 144
3. विजय देव नारायण साही, 'जायसी', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण – 2004, पृष्ठ 111
4. बाबू गुलाब राय, 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, बावनवाँ संस्करण – 2008, पृष्ठ 37
5. बाबू गुलाब राय, 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, बावनवाँ संस्करण – 2008, पृष्ठ 36
6. डॉ० बालमुकुन्द पाठक, 'हिन्दी प्रेम काव्य' (लेख), 'हिन्दी निबन्ध', संपादक– डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1973, पृष्ठ 44

16.8 उपयोगी पुस्तकें

1. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य – डॉ० शिव सहाय पाठक
2. जायसी ग्रन्थावली (भूमिका) – राम चन्द्र शुक्ल
3. जायसी – विजय देव नारायण साही
4. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान काव्य – श्याम मनोहर पाण्डेय

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान निर्धारित कीजिए।

_____

_____

_____

2. सिद्ध कीजिए कि जायसी सूफी काव्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि है।

~~~
~~~

सूरदास की भक्ति भावना

17.0 रूपरेखा

17.1 उद्देश्य

17.2 भूमिका

17.3 सूरदास की भक्ति भावना

17.4 सारांश

17.5 शब्दावली

17.6 प्रश्नावली

17.7 पठनीय संदर्भ ग्रंथ

17.1 उद्देश्य

- इस आलेख में आप भक्ति काल के प्रमुख कवि सूरदास की भक्ति–भावना के सन्दर्भ में जान पाएंगे।
- सूरदास की भक्ति–भावना सर्वप्रथम उनके विनय के पदों में प्रकट हुई है यह जान सकेंगे
- सूर के पदों में नवधा भक्ति और विनय की प्रधानता है इसके बारे में जान सकेंगे।

17.2 भूमिका

सूरदास गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। अतः इनकी भक्ति–भावना अधिकांशतः बल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों पर ही आधारित है। बल्लभाचार्य जी ने ब्रह्मा के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है पर वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना को सुगम एवं श्रेष्ठ मानते हैं निर्गुण ब्रह्म चिन्तन का विषय हो सकता है,

उसकी आराधना एवं उपासना कदापि संभव नहीं है। निर्गुण मार्गी भक्त भी भगवान के प्रेम में तन्मय होकर उनमें क्षमा, दया, करूणा, भक्तवत्सलता आदि गुणों का आरोप कर लेते हैं। सूर ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। उन्होंने सर्वाधिक मर्मस्पर्शी प्रसंग 'भ्रमरगीत' की रचना सगुणोपासना के निरूपण एवं 'निर्गुणोपासना के खंडन के लिए ही की है। निर्गुणोपासक एवं पूर्ण–ज्ञानी, योगी, कृष्ण–सखा उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उन्हें अपना संदेश देकर अपने विरह में व्याकुल गोपियों के पास भेजा था, जिससे उन्हें अपने ज्ञान की सारहीनता का पता लग जाए और उनके नीरस निर्गुणवाद का अहंकार छूट जाये। गोपियां इस प्रसंग में उद्धव के समक्ष ज्ञान, भोग एवं निर्गुण की निरर्थकता दिखाकर भक्ति, प्रेम तथा सगुण ब्रह्मा की उपासना का प्रतिपादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक करती हैं। उनके प्रेम के उच्च आदर्श एवं सच्ची भक्ति–भावना की तन्मयता को देखकर ज्ञान–गर्व से पूरित उद्धव भी उन्हीं के रंग में रंगे जाते हैं। उनके नियम–व्रत छूट जाते हैं। वे कृष्ण का गुण–गान करते हैं। यहां तक कि वे गोपियों के चरणों की धूलि लेने को लालायित हो जाते हैं।

सूरदास का भक्ति–मार्ग ही पुष्टि–मार्ग कहा जाता है। इसमें भगवान की कृपा से भक्त उनके आनंदधाम में प्रवेश पाता है। वस्तुतः पुष्टि–मार्ग भगवान के अनुग्रह से ही संभव है। इसमें भक्त को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। वह परमात्मा की कृपा पर ही पूर्णतया अवलंबित रहता है। इसीलिए सूरदास परमात्मा की कृपा के लिए लालायित हैं। वे प्रभु कृपा की याचना एवं अभिलाषा करते हैं पर अपने को विषय वासना में लीन देखकर वे भयभीत हैं कि कदाचित् प्रभु उन पर कृपा न करें। फिर भी वे उनको पतित–पावन जानकर उनकी शरण में जाने का साहस करते हैं।

17.3 सूरदास की भक्ति–भावना

पुष्टिमार्गी भक्ति का सीधा संबध भगवान की लीला में भाग लेकर उनकी सेवा करने से है। यह मार्ग प्रधान रूप से भगवान की सेवा को ही महत्त्व प्रदान करता है। सूरदास ने 'सूरसागर' में इसका विशद् विवेचन किया है। पुष्टिमार्ग में वर्ण एवं आश्रम की मर्यादा की कुछ भी मान्यता नहीं है। इसमें सभी वर्णों के लोगों को भगवान की भक्ति, पूजा एवं कीर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। सूरदास ने अपने अनेक पदों में जाति–पाति की निरर्थकता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनों को भी भ्रमात्मक माना है। अपने गुरू स्वामी बल्लभाचार्य से हरिलीला के रहस्य को अवगत कर लेने के बाद वे समस्त साधनों को तिलांजलि देकर हरि–लीला के गायन में ही तल्लीन हो गए थे और इस तल्लीनता की स्थिति में ही उन्होंने अपनी यह आस्था व्यक्त की थी कि गोपाल श्रीकृष्ण के गुणों के गायन में जो सुख मिलता है, वह बहुत से जप–तप आदि साधनों के संपन्न करने तथा करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से नहीं मिलता।

सूर की भक्ति–भावना सर्वप्रथम उनके विनय के पदों में प्रकट हुई है। उन पदों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व सूर भारतवर्ष में प्रचलित अन्य भक्ति पद्धतियों एवं

उपासना प्रणालियों से प्रभावित थे। इसीलिए उनके कुछ पद हठयोग एवं शैवसाधना से प्रभावित जान पड़ते हैं और कुछ पदों में वे निर्गुण भक्ति के भी समर्थक दिखाई देते हैं, जिससे वे जाति–पाति का विरोध, वेद शास्त्र की निन्दा, ज्ञान और वैराग्य की महत्ता आन्तरिक साधना का महत्त्व, सतगुरू की महत्ता, मूर्तिपूजा के विरोधी सन्तों का गुणगान आदि का वर्णन करते दिखाई देते हैं। इसीलिए कहीं वे "जौ लौ सतस्वरूप नहिं सूझत" कहकर सत्यपुरूष की प्रशंसा करते हैं तो कहीं 'अपुनपौ आपुन ही में पायौ' कहकर निर्गुण मार्गी कबीर की तरह अन्तःसाधना एवं सतगुरू के उपदेश आदि का महत्त्व आदि प्रतिपादित करते दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं सूर के ऐसे पद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनमें रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि के विचारों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए सूर के पदों में नवधा भक्ति और विनय की प्रधानता है। विनय की सातों भूमिकाएं–दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा विद्यमान हैं तथा वैष्णव सम्प्रदाय के छः नियमों का पालन दिखाई देता है जिससे यहां (1) अपने इष्टदेव की अनुकूलता का संकल्प (2) प्रतिकूल वार्ता का परित्याग (3) इष्टदेव में दृढ़ विश्वास (4) इष्टदेव का गुणगान (5) सर्वस्व अर्पण की भावना एवं (6) दैन्य का निरूपण मिलता है। यह सभी पद इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि वल्लभाचार्य के पुष्टि–मार्ग में दीक्षित होने से पहले सूर एक सन्त–महात्मा थे जिन पर किसी विशेष भक्ति–सम्प्रदाय का प्रभाव न था, अपितु जो सभी उपासना पद्धतियों, भक्ति प्रणालियों एवं भगवद् भजन संबंधी मान्यताओं को समान दृष्टि से देखते थे।

वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आते ही सूर पुष्टिमार्गीय भक्त हो गये। भक्ति के क्षेत्र में वल्लभाचार्य का साधना मार्ग पुष्टि–मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। इस साधना–मार्ग के अन्तर्गत श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में 'पोषणै तदनुग्रह' के आधार पर वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की है। इसका तात्पर्य यह है कि एक जीव का उद्धार प्रेम – लक्षणा भक्ति द्वारा ही हो सकता है। किन्तु उस प्रेम – लक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति उसी समय होती है जबकि भगवान का अनुग्रह होता है। साधारणतयः तीन प्रकार के जीव माने जाते हैं। 1. पुष्टि जीव जो भगवान के अनुग्रह पर ही भरोसा रखते हैं और भगवान की नित्य लीला में प्रवेश पाते हैं। 2. मर्यादा जीव, जो वेद की विधियों का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं 3. प्रवाह जीव जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लीन रहते हैं। इनमें से पुष्टि जीव को ही सर्वोपरि बताया गया है तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में से भक्ति को ही सर्वोपरि साधन सिद्ध किया गया है क्योंकि भक्ति मार्ग में ही जीव भगवान के विशेष अनुग्रह (पुष्टि) का अधिकारी होता है और अन्त में उसके साथ नित्यलीला में सम्मिलित होता है। श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित गोपियों की प्रेमा भक्ति को ही पुष्टिमार्गीय भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है।

पुष्टिमार्ग में सेवा का बहुत महत्त्व माना गया है। वहां सेवा दो प्रकार की बताई गई है – नाम–सेवा और स्वरूप–सेवा। स्वरूप सेवा भी पुनः तीन प्रकार की मानी गई है तनुजा, वित्तजा और मानसी। शारीरिक सेवा को 'तनुजा' कहते हैं, धन से की हुई सेवा 'वित्तजा' कहलाती है और मन से की हुई सेवा को मानसी

कहते हैं। यह मानसी – सेवा भी दो प्रकार की होती है – मर्यादा मार्गीय और पुष्टि मार्गीय। इनमें से मर्यादा मार्गीय मानसी सेवा के लिए शास्त्रोक्त गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस सेवा मार्ग में साधक को नाना क्लेश उठाकर पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, फिर वह लोकार्थी के रूप में भगवान श्रीकृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपने अहंकार एवं ममत्व का विनाश करता है तब अन्त में उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु भगवान के अनुग्रह की आवश्यकता फिर भी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त पुष्टिमार्गीय मानसी – सेवा करने वाला साधक आरम्भ से ही भगवान के अनुग्रह की कल्पना करता है। वह शुद्ध प्रेम द्वारा भगवद्भक्ति करता हुआ सहज ही भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करके अपने अभीष्ट फल को भी प्राप्त करता है। इस तरह मर्यादा मार्ग की अपेक्षा पुष्टि मार्ग सरल एवं सुगम है। इसमें भगवान कृष्ण को परमब्रह्म माना गया है, वे दिव्यगुण सम्पन्न 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं और गुरु को ही भगवान कृष्ण का स्वरूप माना जाता है। इस भक्ति मार्ग में आने के लिए अपना सर्वस्व भगवान कृष्ण के चरणों में अर्पित किया जाता है, इसीलिये इस मत का अनुभागी प्रत्येक भक्त अपना तन–मन–धन सर्वस्व कृष्ण स्वरूप गुसाईं जी के चरणों में अर्पित करना अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

महात्मा सूरदास ने पुष्टिमार्ग प्रेमासक्ति को ही अपनाया है। इसीलिये उनके सूर सागर में प्रेम के विविध रूप – दास्य, वात्सल्य, माधुर्य, दाम्पत्य आदि की छटा विद्यमान है। यहां भगवान श्रीकृष्ण को भी प्रेममय माना गया है। इसमें कृष्ण प्रेम के वशीभूत होकर ही ब्रज में जन्म लेते हैं। इसीलिए सूर ने 'प्रीति के वस नटवर रूप धरयौ' कहकर इसी बात का समर्थन किया है।

सूर ने प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए विरह की तीव्रानुभूति में ही विशुद्ध प्रेम के दर्शन किए हैं और वियोग, विरह–वेदना आदि के अन्तर्गत सच्चे भक्त की अभिलाषा, व्याकुलता एवं विवशता को चित्रित किया है

साधारणतः पाँच प्रकार की भक्ति प्रचलित है– (1) शान्त भाव की भक्ति, जिसमें पूज्य–पूजक भाव रहता है (2) वात्सल्य भाव की भक्ति, जिसमें भगवान के साथ जन्य–जनक भाव रहता है, (3) दाम्पत्य भाव या माधुर्य भाव की भक्ति, जिसमें भगवान के साथ पतिभाव रहता है, (4) दास्यभाव की भक्ति, जिसमें भगवान के साथ सेव्य–सेवक भाव रहता है, (5) सख्य–भाव की भक्ति, जिसमें भगवान के साथ सखा भाव रहता है। सूर की भक्ति दास्य भाव की भक्ति है जिसमें सूर अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को अपना सखा मानकर अपनी भक्ति–भावना प्रकट करते हैं तथा पुष्टिमार्गीय सेवा भाव को अपनाते हैं जिसके तीनों रूप–गुरू सेवा, सन्त सेवा तथा प्रभु–सेवा सूरदास में विद्यमान हैं। पुष्टिमार्ग में नित्य सेवा–विधि और वार्षिकोत्सव सेवा–विधि का भी बड़ा महत्व है। सूर ने नित्य सेवा विधि का उल्लेख करते हुए प्रातः काल से लेकर शयनपर्यन्त भगवान की सेवा–विधि का सांगोपांग वर्णन किया है और वार्षिकोत्सव सेवा विधि के अन्तर्गत सूर ने कृष्ण, राम, वामन आदि की जयन्तियों का पूरा–पूरा वर्णन किया है।

पुष्टिमार्ग में तीन आसक्तियाँ प्रमुख मानी गई हैं–स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भाव–आसक्ति। सूर ने अपने 'सूर–सागर में मुख्यतः लीलासक्ति को ही अपनाया है और 'सूरसागर' में मुख्यतः लीला–पदों का गान करते हुए लीलासक्ति के प्रति अपनी रूचि अधिक दिखायी है। वैसे भी सूर के दीक्षागुरू वल्लभाचार्य ने सूर को लीला पदों का गान करने का ही उपदेश दिया था और इसी कारण सूरदास ने भक्ति–विभोर होकर गोकुल से लेकर मथुरा तक की समस्त कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है।

तुलसी के समान ही सूरदास ने भी भगवान कृष्ण को बार–बार नाथ, प्रभु, ठाकुर एवं स्वामी कहा है और स्वीकार किया है कि आपका यह भक्त पापी है, अपराधों से परिपूर्ण है और आप भक्त वत्सल हैं। इसीलिए इसको आपका ही पूर्ण भरोसा है। इस हेतु ही यह आपकी शरण में आया है।

(क) मेरी कौन गति ब्रजनाथ?

भजन विमुखडरू सरन नाहीं, फिरत विषयनि संग।

हौं पतित, अपराध पूरन भरयो कर्म विकार।

काम क्रोधडरू लोभ चितवौ, नाथ तुमहिं विसार।

उचित अपनी कृपा करिहौं तबै तो बनि जाई।

सोइ करहु जिहि चरन सेवै सूर जूठनि खाइ।

(ख) अनाथ के नाथ प्रभु कृष्ण स्वामी।

नाथ सारंगधर, कृपा करि मोहि पर,

सकल अघ–हरन हरि गरूडगामी।

(ग) सूरदास–स्वामी, यह जन अब करज श्रम हारौ।

सूरदास कहते हैं कि मैं नंदनंदन का खरीदा हुआ दास हूँ। उनकी शरण में आने के कारण यम के फंदे से मुझको छुटकारा मिल जाएगा। तिलक, तुलसी पत्र, वनमाला आदि धारण किए हुए भक्त के वेश में देखकर लोग मुझे कृष्ण का दास कहते हैं। यह सुनकर मैं बहुत खुश होता हूँ। दासवृत्ति के कारण मुझे भगवान की जूठन प्रसाद रूप में खाने को मिलती हैं। यह मेरे लिए सबसे आनंद की बात हैः

हमै नंद नंदन मोल लिये।

जम के फंद कारि मुकराए, अभय आजाद किए।

भाल तिलक स्रवननि तुलसीदल मेरे अंक बिये।

मूंडयौ मूंड, कंठ बनमाला, मुद्रा–चक्र दिये।

सब कोउ कहत, गुलाम स्याम को, सुनत सिरात हियै

सूरदास कौ और बडो सुख जूठनि खाई जियै।।

दास्य भाव की भक्ति में प्रभु चरणों की शरणागति पर विशेष बल दिया गया है। भक्त भगवान के चरणों मे जाने और पड़े रहने की सदा आकांक्षा करता रहता है। शरणागति ही तो उसका लक्ष्य है। तुलसी के समान सूर में भी यह भाव भरा हुआ है। वह अपनी बुद्धि को प्रबोध देते हैं कि तू रस चाहती है न? तो ले, एक उत्तम रस मैं बताता हूँ:

रे मन, सुमिरि हरि हरि हरि।
सत जज्ञ नाहिन नाम सम,
परतीति करि करि करि।
रस चरण अंबुज बुद्धि भाजन,
लेहि भरि भरि भरि
सूर श्री गोपाल हृदय राखि
धरि धरि धरि।।

भगवान के इन चरणों की शरणागति में सूर का बल तुलसी से कम नहीं है। सूर ने बार–बार भगवान की शरण चाही है। उनके सामने अनेक उदाहरण हैं कि जो भी उनकी शरण में आया, उसके दुख दूर हो गए। उसके भवफंद कट गये।

सूरदास मानते हैं कि इस संसार में अपना जो कुछ है वह सब उस भगवान को अर्पित कर देने से कुछ घटता नहीं है। तन, मन, धन आदि सब उस प्रभु को भी समर्पित करके भक्त सांसारिकता से निवृत्ति प्राप्त करता है। संसार से राग के बंधन को तोड़ना जरूरी है। बिना राग–विनाश के भगवान में आसक्ति असंभव है। वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सांसारिकता दूर होती है। संसार से नाता टूटने पर ही भगवान के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव पैदा होता है। अभिप्राय यह है कि वैराग्य ही भक्ति का साधन है। संसार से रागात्मक संबंध विच्छेद के लिए यह जरूरी है कि भक्त भगवान के नाम, रूप, गुण आदि के श्रवण, स्मरण एवं कीर्तन में अपने मन को लगा दे। सूरदास मानते हैं कि प्रभु की लीला गान में बड़ा सुख मिलता है:

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ

श्री वल्लभ नखचंद छटा बिन्दु

सब जग मांह अंधेरी।

जहां तक दर्शन की बात है वल्लभाचार्य का दर्शन ही सूरदास का दर्शन है किन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति ही 'सूरसागर' नहीं है। एक महाकवि किसी सम्प्रदाय में सीमित नहीं हो सकता। सूरदास की चेतना तो शतधा होकर उस विश्व–चेतना से मिलने के लिए 'सागर' भरती रही है

सीत–उष्ण, सुख दुख नहि मानै,

हर्ष शोक नहीं खांचे।

जाइ समाइ सूर वा निधि मैं,
बहुरि जगत नहीं नाचै।

17.4 सारांश

इस प्रकार सूर की भक्ति–भावना का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि सूर ने सखा–भाव की भक्ति को अपनाते हुए भी यशोदा–नंद के वात्सल्य भाव राधा एवं गोपियों के माधुर्य एवं दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना की है। इसमें अनुभूति की गम्भीरता के साथ–साथ हृदय की तल्लीनता भी दिखाई देती है। सूरदास प्रेम एवं अनुकम्पा के साथ–साथ मधुरा–रति की अभिव्यक्ति में अत्यधिक तल्लीन एवं तन्मय दिखाई देते हैं। उनकी यह तल्लीनता एवं तन्मयता गोपियों की दाम्पत्य भाव की भक्ति के निरूपण में पराकाष्ठा पर पहुंच गयी है। इसीलिए सूर की भक्ति–भावना में पुष्टिमार्गीय प्रेमालक्षणा शक्ति का ही प्राधान्य है और इसी प्रेमाभक्ति को तीन रूपों में विभक्त कर सूर ने अपने पदों में व्यक्त किया है। इसमें पहले कृष्ण के प्रति नन्द–यशोदा तथा अन्य गुरूजनों के ममतापूर्ण स्नेह के रूप में। दूसरे बालसखाओं के सौहार्द के रूप में तथा तीसरे गोपियों एवं राधारानी के दाम्पत्य–भाव के रूप में प्रेमा–भक्ति की अभिव्यंजना हुई है।

17.5 शब्दावली

अपरस – अनासक्त

कैतव–छल, कपट

हेम– हिम, पाला

निज– खास

पैंठ– दुकान

17.6 प्रश्नावली

प्रश्न1 सूर की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रेम लक्षणा भक्ति एवं पुष्टिमार्गीय भक्ति का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न 2 तुलसी की भक्ति भावना पर विचार कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न 3 'महाकवि सूरदास की भक्ति भावना का मेरुदंड पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भगवदानुग्रह है'– स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

17.7 पठनीय संदर्भ ग्रंथ

1) हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि – डॉ. द्वारिका सक्सेना

2) भ्रमर गीत का काव्य सौंदर्य – सत्येन्द्र पारीक

3) सूरसागर में लोक जीवन – डॉ. हरगुलाल


~~~
~~~

सूरदास का विरह–वर्णन

18.0 रूपरेखा

18.1 उद्देश्य

18.2 भूमिका

18.3 सूर के विरह–वर्णन की विशेषताएँ

18.4 सारांश

18.5 शब्दावली

18.6 प्रश्नावली

18.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

18.1 उद्देश्य

– इस आलेख में आप यह जान सकेंगे कि बाल जीवन की ही भाँति सूरदास ने विरही जीवन को भी बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किया है।

– गोपियों के वियोग का अत्यन्त व्यापक एवं विशद चित्रण हुआ है, यह जान सकेंगे।

– किस तरह ब्रज के चेतन एवं अचेतन सभी पदार्थ प्रज्जवलित होकर व्यथित एवं बेचैन दिखाई देते हैं, जान पाएंगे

18.2 भूमिका

सूर ने बाल–जीवन की ही भाँति विरह जीवन के भी चित्र बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किये हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा के मतानुसार तो "इन दोनों प्रकार के चित्रों में विरह–जीवन के चित्र भावनाओं की गहरी अनुभूति लिए हुए हैं"। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर ने वात्सल्य की ही भाँति वियोग का भी अत्यन्त व्यापक एवं विशद वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के ब्रज से विदा होते ही गोपियाँ ठगी–सी रह जाती हैं, वे चित्र–लिखी–सी खड़ी होकर कृष्ण को

देखती रहती हैं, उन्हें सुधबुध नहीं रहती और उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती है। सूर ने 'जहाँ सू तहाँ एक टक रहि गईं, फिरति लोचन फेरे' कहकर गोपियों की किंकर्त्तव्य'–विमूढ़ स्थिति का बड़ा ही हृदय–द्रावक चित्रण किया है। इतना ही नहीं, 'मुरझि परी ब्रजबाल' कहकर सूर ने उनकी विरह–जन्य अचेतावस्था का भी जीता–जागता चित्र अंकित किया है। कृष्ण के चले जाने पर गोपियों के नेत्रों से आँसुओं की निरन्तर वर्षा होती रहती है, उन्हें खाना–पीना अच्छा नहीं लगता, उन्हें 'पिया बिनु नागिनी कारी रात' प्रतीत होती है, वे मुख में ताम्बूल, नेत्रों में अंजन और ललाट पर तिलक तक का प्रयोग नहीं करतीं, उनके वस्त्र मैले–कुचैले हैं, सहज सचिक्कण अलकावलि रूखी है और उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है। श्रीकृष्ण के विरह में केवल गोपियाँ ही व्यथित नहीं हैं, अपितु नन्द, यशोदा तथा ग्वाल–बाल भी रात–दिन बेचैन रहते हैं इतना ही नहीं, श्री कृष्ण के तीव्र विरह में यमुना भी अत्यन्त काली पड़ जाती है और सारा ब्रज विरहाग्नि में प्रज्जवलित दिखाई देने लगता है। इसीलिए हरी–भरी कुंजे भी विषय ज्वाला से सन्तप्त करती हुई और सावन के मेघ तथा पपीहा की पुकार भी सम्पूर्ण ब्रज को व्यथित करती हुई दिखाई देती हैं। इस तरह सूर ने विरह का अत्यन्त व्यापक रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें ब्रज के चेतन एवं अचेतन सभी पदार्थ प्रज्जवलित होकर व्यथित एवं बेचैन दिखाई देते हैं।

18.3 सूर के विरह–वर्णन की विशेषतायें

(1) **गोपियों की अतृप्त प्रेमानुभूति–**सूरदास ने 'भ्रमर–गीत' के अन्तर्गत जिस तीव्र विरह का निरूपण किया है, उसमें गोपियों की अतृप्त प्रेमानुभूति का अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रदर्शन किया है, क्योंकि गोपियाँ कृष्ण के प्रेम–रस का पान करके तनिक भी तृप्त दिखाई नहीं देतीं और वे कृष्ण–प्रेम के रस–पान के लिए रात दिन छटपटाती हुई दिखाई गई हैं। उनकी इस छटपटाहट में अतृप्ति है, असन्तोष है, बेचैनी है और तीव्र व्याकुलता भरी हुई है–

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।।
– – – – – – – – – – – – – – – – –
बारक वह मुख फेरि दिखाओ, दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ, ये सरिता हैं सूखी।।

2) **गोपियों की गहन वेदनानुभूति –**गोपियों के हृदय में वेदना का सागर उठ रहा है, वे प्रेम की पीड़ा से अत्यधिक व्यग्र एवं बेचैन हैं और उनको इस वेदना ने इतना अधीर, आकुल एवं आतुर बना दिया है कि उन्हें अपने तन–मन का भी होश नहीं रहा है। कारण यह है कि उनके हृदय में माखनचोर टेढ़े होकर अड़ गये हैं और अब किसी प्रकार नहीं निकलते। इसीलिए उन्हें अब कृष्ण के सिवाय और कुछ अच्छा नहीं लगता। अब वे कृष्ण के बिना कैसे जीवित रहें? इसीलिए वे विरह–वेदना से व्यथित होकर मर जाना ही अच्छा समझती हैं और कहती हैं–

अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुन री सखी! श्यामसुन्दर बिन, बाँटि विषम विष पीजै।

कै गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी, स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारून दावानल, जाय जमुन धँसि लीजै।
दुसह वियोग विरह माधव कै, कौन दिनहिं दिन छीजै।

(3) गोपियों की विविध काम–दशायें – सूर ने गोपियों की सम्पूर्ण काम–दशाओं का निरूपण किया है। शास्त्रों में विरह की काम–दशायें ग्यारह बताई गई हैं, जिनसे किसी विरहिणी के विरहाधिक्य का बोध होता है। सूर ने इन सभी विरह–दशाओं के चित्र बड़ी सजीवता के साथ अंकित किए हैं। जैसे सूर ने 'निरखत अंक श्यामसुन्दर के बार–बार लावति छाती' कहकर उनकी 'अभिलाषा' का चित्रण किया है, 'मधुर ये नैना पै हारे, निरखि–निरखि मग कमल नयन को प्रेम–मगन भये भारे' कहकर 'चिन्ता' का निरूपण किया है, 'तिहारी प्रीति किधौं तरवारि, दृष्टि धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रज–नारि' कहकर 'उद्वेग' का वर्णन किया है, 'एक ग्वालिन गोधन लै रेंगति एक लकुटि कर लेति, एक मण्डली करि बैठाराति छाक बाँटिकै देति' कहकर उनकी 'उन्माद' स्थिति को व्यक्त किया है, 'मेरे मन इतनी सूल रही' पद में 'स्मरण' का चित्रण किया है, 'संदेसौ देवकी सों कहियौ' वाले पद में 'गुण–कथन' का निरूपण किया है 'कैसे पनघट जाऊँ सखी री डोलों सरिता तीर' में 'प्रलाप' का वर्णन किया है, 'निस न नींद आवै दिन ना भोजन भावै मग जोवति भई दृष्टि झाँवरी' में 'व्याधि' का निरूपण किया है, 'सूर सीस धुनि चौंकति नाँवहिं अब काहे न मुख बोलति' में 'जड़ता' का उल्लेख किया है, सोचति अति पछताति राधिका मूर्च्छित धरनि ढही' में 'मूर्च्छा' की स्थिति का चित्रण किया है और सूरदास ने अब मरन बन्यौ है पाप तिहारे माथे' में गोपियों की दारूण स्थिति 'मरण' का भी चित्र अंकित किया है।

(4) विरह की सात्विकता एवं अनन्यता–सूर ने विरह के अत्यन्त सात्विक एवं अनन्य रूप का चित्रण किया है, क्योंकि सूर की गोपियाँ 'मनसा–वाचा–कर्मणा' अपने प्रिय कृष्ण पर निछावर हो गई हैं, श्रीकृष्ण के साथ उनकी एकाकार स्थिति हो गई है और वे निरन्तर कृष्ण के प्रेम में तल्लीन रहने के कारण अपने सम्पूर्ण भौतिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का परित्याग करके सम्पूर्ण भोगों, विषयों, भौतिक कामनाओं आदि से सर्वथा परे कृष्ण की अनन्त भक्ति, अनन्य प्रेम–भावना, अनन्य रूप–माधुरी का पान करती हुई विरह की सात्विकता एवं पवित्रता से परिपूर्ण जान पड़ती हैं। इसी कारण ये गोपियाँ अपनी अनन्यता प्रकट करती हुई कह रही हैं–

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, को आराधे ईस।।
भई अति सिथिल सबैं माधव बिनु यथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस।।

(5) विरह में दाम्पत्य भाव का आधिक्य–सूर के वियोग–वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ गोपियों के प्रेमातिरेक में उनके दाम्पत्य भाव की सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई है। गोपियाँ कृष्ण की पुजारिन हैं, उनकी ही आराधिकायें हैं और उन्हें अपना पति मानकर उनके प्रति दाम्पत्य भाव की भक्ति प्रदर्शित करती हैं। श्रीकृष्ण को

वे अपना पति, स्वामी एवं सर्वस्व मानती हैं। उनके नेत्रों में श्री कृष्ण के विरह की बेल छा गई है और गोपियाँ अपने प्रियतम कृष्ण के लिए रात–दिन रोती रहती हैं तथा यही कहती रहती हैं–

मेरे नैना विरह की बेल बई।
सींचत नीर नैन के सजनी, मूल पताल गई।।
विकसित लता सुभाग्य आपने, छाया सघन भई।
अब कैसें निरवारों सजनी, अब तन पसरि छई।।
को जाने काहू के जिय की, छिन–छिन होत नई।
सूरदास स्वामी के बिछुरे, लागै प्रेम झई।

(6) **विश्व के साथ तादात्म्य–** सूर की गोपियाँ विरह–वेदना से विदग्ध होकर सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं। इसीलिए वे अपनी वैयक्तिक स्थिति को भूलकर साधारण भाव–भूमि पर स्थित हो जाती हैं और सभी पदार्थों के साथ समता, सहानुभूति एवं संवेदना प्रकट करती हुई अधिक उदार एवं अत्यन्त सहनशील दिखाई देती हैं। इसी कारण उन सभी प्राकृतिक पदार्थों के प्रति उनकी गहन सहानुभूति हो जाती है जिनके साथ छल, कपट या निर्दयता का व्यवहार हुआ है और जो इस दुर्व्यवहार के कारण गोपियों की तरह ही अपने–अपने प्रेमियों से छले गए हैं। इसीलिए गोपियाँ श्रीकृष्ण के अंग–प्रत्यंग के प्राकृतिक उपमानों के प्रति अपने विचार प्रकट करती हुईं अपनी सहानुभूति, समता एवं संवेदना इस प्रकार व्यक्त करती हैं–

ऊधौ अब यह समुझ भई।
नंद–नंदन के अंग–अंग प्रति उपमा न्याय दई।
कुन्तल कुटिल भँवर भरि–भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरू कियौ कपटी जब जानी निरसि भई।
आनन–इन्दु बरन सम्पुट तजि करखें तें न नई।
निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहि हेम हई।।

(7) **प्राकृतिक पदार्थों में भी विरहाकुलता –** सूर के विरह की यह भी एक सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि यहाँ केवल चेतन गोप, गाय एवं गोपियाँ कृष्ण की विरह–वेदना में विदग्ध दिखाई नहीं देतीं, अपितु यहाँ यमुना, वृक्ष, लता, वन आदि अचेतन एवं जड़ पदार्थ भी कृष्ण के विरह में अत्यधिक आकुल–व्याकुल दृष्टिगोचर होते हैं, इसीलिए कृष्ण के विरह में बेचारी यमुना तो काली पड़ जाती है–

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियों पथिक जाए उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी।

कारण यह है कि श्रीकृष्ण का विरह केवल गोप–गोपियों तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु वह पशु, पक्षी, सरिता, वन, उपवन, बेल आदि सभी को सता रहा है। इसीलिए प्रकृति का कोई भाग विरह से रहित दिखाई नहीं देता–

ऊधौ यहि ब्रज विरह बढ़्यौ।
घर, बाहिर, सरिता, बन, उपवन, बल्ली, द्रुमन चढ़्यौ।।

(8) विरह में व्यंग्य एवं उपालम्भ का आधिक्य– सूर ने उक्ति वैचित्र्य एवं व्यंग्य–विनोद का आश्रय लेकर जहाँ एक ओर श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के उपालम्भों की योजना की है, वहाँ दूसरी ओर उद्धव की हँसी उड़वाकर निर्गुण भक्ति का खंडन भी किया है। इसीलिए सूर के इस विरह–वर्णन में उपालम्भों एवं व्यंग्यों की भरमार है, जिनमें उक्ति–चमत्कार के साथ–साथ तर्कपूर्ण वचन–वक्रता के भी दर्शन होते हैं। सूर की ये सभी उक्तियाँ वाग्वैचित्र्य की दृष्टि से अनुपम एवं अद्वितीय हैं। गोपियों का तीव्र एवं तीक्ष्ण व्यंग्य देखिए–

बिलगि जनि मानहु, ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि, जै आवहिं ते कारे।।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनियारे।।
मानहुँ नील माठ तें काढ़े, लै जमुना ज्यौं परवारै।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे।।

ऐसे ही गोपियों के व्यंग्य–बाण से भरा हुआ एक ओर उपालम्भ देखिए, जो उनके प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के प्रति है और जिसमें कितनी वचन–वक्रता एवं उक्ति–चातुरी भरी हुई है।

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे आवहिं चाहत नवजौबनियाँ।।
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए, गोद खिलाये कनियाँ।
गुहि गुहि देते नन्द जसोदा, तनक काँच की मनियाँ।।
दिना चारि तें पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियाँ।
'सूरदास' प्रभु तजी कामरी, अब हरि भये चिकनियाँ।।

ऐसे ही गोपियों ने उद्धव के प्रति व्यंग्य–बाणों की जो बौछार की है, उसमें भी उक्ति–वैचित्र्य, तर्कपूर्ण वचन–विन्यास एवं वाग्वैचित्र्य की सजीवता एवं मार्मिकता दृष्टिगोचर होती है–

आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी।
लादि खेप गुन–ज्ञान जोग की ब्रज में आनि उतारी।।

फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरी निपट सुधारी।
धुर ही तें खोटो खायौ है, लिए फिरत सिर भारी।।
इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप कौ पानी।।

(9) विरह–निरूपण में लक्षणा एवं व्यंजना का प्राधान्य– सूर के विरह–वर्णन में लक्षणा एवं व्यंजना का आधिक्य है। इसी कारण यहां गोपियाँ श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए सीधा–सादा सन्देश नहीं भेजतीं, अपितु लाक्षणिक पदावली का प्रयोग करते हुए गोपियाँ यह कहती हैं कि हमारे अंग–प्रत्यंग पर सुसज्जित आभूषणों एवं अन्य शृंगार के प्रसाधनों को देखकर कामदेव हमें शिव समझ रहा है और अपना बदला लेने के लिए हमें सता रहा है। अतः आप शीघ्र आकर इस दुष्ट से हमारा उद्धार करो। गोपियों के इस सन्देश में कैसी सजीव लाक्षणिकता एवं व्यंजकता विद्यमान है–

अब न अबध सुन्दरी, बधै जनि।
मुकतामाल अनंग! गंग नहिं, नवसत साजे अर्थि स्यामघन।।
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि–ग्रन्थि अहिपति न सहस फन।
नहिं विभूति दधिसुत न कंठ जड़! यह मृगमद–चंदन चर्चित तन।।
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि विचारि कहाँ नन्दी गन।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बरबस काम करत हठ हम सन।।

ऐसे ही 'सिंह वृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन डोलत' आदि कहकर गोपियों ने लक्षणा के द्वारा श्रीकृष्ण को बुलाने का सन्देश भेजा है और 'आज कालि तुमहू देखते हौ तपति तरनि सम चन्द्र' कहकर गोपियों की अत्यन्त विरहातुर अवस्था की व्यंजना की गई है।

(10) विविध रसों का समावेश– सूर ने विरह–वर्णन करते हुए अन्य रसों का समावेश भी किया है वैसे तो विरह–वर्णन विप्रलम्भ श्रृंगार–रस के अन्तर्गत आता है, परन्तु सूर ने विप्रलम्भ श्रृंगार के साथ–साथ वात्सल्य रस और करूण रस का समावेश भी अपने विरह–वर्णन में किया है। इसी कारण सूर का विरह मुख्यता विप्रलम्भ श्रृंगार, वात्सल्य और करूण रस से भरा हुआ है क्योंकि गोपियों के विरह–विदग्ध उद्‌गारों में तो सर्वत्र विप्रलम्भ श्रृंगार के दर्शन होते हैं, किन्तु जहाँ मात यशोदा पुत्र–प्रेम में व्याकुल होकर विलाप करते हुए मूर्च्छित हो जाती हैं, वहाँ वात्सल्य रस से परिपूर्ण विरह के भी दर्शन होते हैं, जैसे –

जसोदा बार–बार यों भाखै।
है ब्रज में कोउ हितू हमारौ, चलत गोपालहि राखै।।

– – – – – – – – – – – – – – – –

कमल नयन कों टेरत–टेरत अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रकट जनाऊँ, दुखित नन्द की रानी।।

ऐसे ही सूर ने राधा को वियोग–वेदना न सह सकने के कारण मूर्च्छित अवस्था तक ही नहीं, मरणावस्था तक पहुँचा दिया है। सूर के इस चित्रण में करूण रस की भी व्यंजना हो जाती है–

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि स्रमजल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी।।
अधमुख रहित उरध नहिं चितवति ज्यो गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हिलानो ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि सन्देस सुनि सहत मृतक भई, इक विरहन दूजे अलि जारी।।

(11) विरह में भावानुकूल भाषा का प्रयोग– सूरदास के विरह–वर्णन की यह भी सबसे बड़ी विशेषता है कि सूर ने सर्वत्र विरहानुकूल सजीव, सशक्त एवं सारगर्भित भाषा का प्रयोग किया है, उसे लोकोक्ति एवं मुहावरों से सुसज्जित करके अर्थ–वैचित्र्य से परिपूर्ण किया है, लाक्षणिकता का समावेश करके उसे वचन–वक्रता से भरपूर बनाया है और उक्ति–चमत्कारों से परिपूर्ण करके उसे वचन–चातुरी से अलंकृत किया है। इसी कारण सूर के विरह में वाग्वैचित्र्य के साथ–साथ अर्थ–गांभीर्य भी विद्यमान है और सर्वत्र भाषा में सजीवता एवं मार्मिकता के दर्शन होते हैं; यथा–

निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावन ऋतु हम पे, जब तें श्याम सिधारे।।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भए कारे।
कंचुक नहिं सूखति सुनु सजनी, उर बिच बहन पनारे।।

18.4 सारांश

सारांश यह है कि सूर का विरह–वर्णन जायसी की भाँति भले ही अधिक गहन एवं गम्भीर न हो फिर भी इसमें अनुभूति की तीव्रता एवं भावों की विशदता के दर्शन होते हैं। यह सत्य है कि यहाँ गोपियाँ वियोग की अग्नि में जलती हुई भी सदैव गम्भीर एवं मौन नहीं बनी रहतीं, अपितु दुःख के क्षणों में भी सहज चपलता एवं व्यंग्य–विनोद से परिपूर्ण दिखाई देती हैं, किन्तु उनकी इस सहज चपलता एवं हास–परिहास के अन्तर्गत भी विरह की बड़वाग्नि तीव्रता के साथ प्रज्जवलित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। यही सूर की सबसे बड़ी कलागत विशेषता है कि सूर ने सहज चापल्य एवं व्यंग्य–विनोद की शीतल लहरों के अन्तर्गत भी वियोग की बड़वाग्नि का सहज चित्र अंकित किया है। निःसन्देह सूर की विरहिणी गोपियाँ तपस्विनी हैं, क्योंकि वियोगाग्नि के अन्तर्गत उनकी समस्त इन्द्रिय–जन्य लालसायें एवं वासनायें नष्ट हो चुकी हैं और उनका कृष्ण–प्रेम कुन्दन की भाँति निखर आया है। इसी कारण सूर ने

निर्गुण पर सगुण की विजय दिखाकर ज्ञान पर भक्ति की अथवा संयोग पर वियोग की विजय दिखाई है और इसी कारण सूर वात्सल्य के साथ–साथ वियोग–वर्णन में भी सिद्धहस्त माने जाते हैं।

18.5 शब्दावली

1. करूआति–दुखती हैं
2. छाक– कलेवा
3. सौज – वस्तु
4. ससि –चन्द्रमा
5. खीस डारना– नष्ट कर डालना
6. अथाई – बैठक

18.6 प्रश्नावली

प्रश्न–1 सूरदास के विरह–वर्णन की विशेषताएँ लिखिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न–2 सूरदास के विरह वर्णन पर एक लेख लिखिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न–3 भ्रमर गीत में गोपियों के विरह का संक्षिप्त चित्रण कीजिये।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न–4 सूरकाव्य के विरह वर्णन की चार विशेषताएँ लिखें।

_____

_____

_____

_____

_____

18.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

1. भक्तिकाल पहचान और परख – हरिमोहन
2. सूरदास एक अध्ययन – अश्विनी पराशर
3. सूर की भाव साधना – नरेंद्र सिंह
4. भ्रमरगीत का काव्य–वैभव – डॉ. मनमोहन गोतम


~~~
~~~

भ्रमरगीत की परम्परा में सूरदास का स्थान

19.0 रूपरेखा

19.1 उद्देश्य

19.2 भूमिका

19.3 भ्रमरगीत परम्परा में सूरदास का स्थान

19.4 भ्रमरगीत की विशेषताएँ

19.5 सारांश

19.6 प्रश्नावली

19.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

19.1 उद्देश्य

– इस आलेख में आप जान पायेंगे कि सूरदास पहले कवि थे जिन्होंने भागवत् के भ्रमर– गीत –प्रसंग को लेकर रचना की थी। उन्होनें भ्रमर गीत प्रंसग को लेकर एक विशिष्ट परम्परा का सूत्रपात किया।

– सूरदास का भ्रमरगीत प्रसंग भागवत की भित्ति पर आधारित होते हुए भी अपने विशिष्ट उद्देश्य को लेकर चला है। उसको उन्होंने अपनी मौलिकता के द्वारा सर्वथा एक रुप में प्रस्तुत किया ।

– आप साथ ही यह जान सकेंगे कि यहाँ पर उद्धव को प्रतीक बनाकर निर्गुण भक्ति पर सगुण भक्ति की विजय दिखलाना सूर का अभीष्ट रहा है। इसलिए उनके उद्धव निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से भरपूर दिखलाये गये हैं।

19.2 भूमिका

भ्रमरगीत भारतीय काव्य की पृथक काव्य परम्परा है। सूरसागर सूरदासजी का प्रधान एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस में प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसके दो प्रसंग 'कृष्ण की बाल लीला' और भ्रमरगीत–प्रसंग' अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसके विषय में आचार्य शुक्ल कहते हैं, ''सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है।'' आचार्य शुक्ल ने लगभग 400 पदों को सूरसागर के भ्रमरगीत से छांट कर उनको 'भ्रमरगीत सार के रुप में' संग्रह किया था। भ्रमरगीत में सूरदास ने उन पदों को समाहित किया है जिनमें मथुरा से कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज संदेश ले कर भेजते हैं।

19.3भ्रमरगीत परम्परा में सूरदास का स्थान

भ्रमरगीत : स्वरूप और परम्परा

'भ्रमर–गीत' का अर्थ

'भ्रमर–गीत' शब्द भ्रमर' एवं 'गीत' दो शब्दों से मिलकर बना हैं । भ्रमर काले रंग का उड़नेवाला जन्तु होता है, जिसे मधुप, मधुकर, अलि, अलिन्द, भुंग, सारंग आदि विविध नामों से पुकारा जाता है । दूसरा शब्द 'गीत' है, जिसका सामान्य अर्थ 'गाना' होता है। इस प्रकार 'भ्रमरगीत' का शाब्दिक अर्थ 'भौंरे का गीत' अथवा 'भ्रमर से सम्बन्धित गीत' हुआ।

साहित्य में 'भ्रमर गीत' शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सन्दर्भ में इसका संबंध कृष्ण तथा इनके मित्र ज्ञानी उद्धव से है। कृष्ण जब मथुरा में चले गए तो उन्होंने वियोगिनी गोपिकाओं को समझाने के लिए उद्धव को भेजा। उद्धव के समक्ष गोपियों ने भ्रमर को सबोधित कर अपने भावों को मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया । यही कारण है कि इस प्रसंग को 'भ्रमर गीत' की संज्ञा से अभिहित किया गया।

भ्रमर–गीत–परम्परा

''भ्रमर–गीत''–परम्परा का मूलाधार श्री कृष्ण की कथा है। उस समय प्रेम और भक्ति, ज्ञान व योग के संघर्ष के समुचित समाधानार्थ ही भ्रमरगीत की कल्पना की गई थी। इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमें श्रीमद्भागवत पुराण में देखने को मिलता है। उसके दशम् स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में अध्याय 47 के 12 से 21 श्लोक तक भ्रमर को लक्ष्यकर गोपियों द्वारा उपालम्भ दिऐ गये हैं। इससे भी पूर्व महाकवि कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी भ्रमर का उल्लेख हुआ है, जहाँ भ्रमर शकुन्तला के शरीर पर बैठ गया तो ईर्ष्यालु स्वर में दुष्यन्त ने उससे कहा कि उसके बार–बार निषेध करने पर भी तू उसके अधरों के मधुर रस को पी रहा है। वास्तव में रस–तत्व का भोग करके सफल तो तू ही हुआ, हम तो यों ही भटकते रहे। (अंक 1) भागवत में भ्रमर को रसिक प्रेमी के अर्थ में ही प्रस्तुत किया गया है भागवत में गोपियों की विरह–व्यथा को दृष्टि में रखकर कृष्ण ने उन्हें सांत्वना देने–हेतु उद्धव को गोकुल भेजा। वहाँ उद्धव सर्वप्रथम नन्द –यशोदा से

1. भक्ति–काल

2. रीति–काल

3. आधुनिक–काल

1. भक्ति–काल

भक्ति काल में भ्रमरगीत –परम्परा के दर्शन हमें सगुण भक्ति की कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों की रचनाओं में मिलते हैं, जिनमें महाकवि सूर, नन्ददास, परमानन्ददास, वृन्दावनदास तथा रामभक्त तुलसी आदि प्रमुख हैं।

सूरदास :– सूरदास ने श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध की कथा का आधार ग्रहणकर भ्रमरगीत की रचना की। पौराणिक बिन्दुओं से जो रेखाएँ अंकित हुई , उनमे कवि ने रंगों का सुन्दर एवं मौलिक संयोजन किया , जिससे सूर का भ्रमरगीत हिन्दी–काव्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निधि बन गया।

सूर ने अपने 'सूरसागर' मे तीन भ्रमरगीतों की रचना की–

1. प्रथम रूप में कवि ने भागवत के भ्रमरगीत को अपने रूप से प्रस्तुत कर दिया । इसकी रचना दोहा–चौपाई छन्द में की गई।

2. दूसरा भ्रमरगीत केवल एक ही पद में मिलता है। इसमें गोपियों को उद्धव का उपदेश, गोपियों का उपालम्भ, उद्धव का मथुरा लौटकर कृष्णा के समक्ष गोपियों के विरह का मार्मिक वर्णन कृष्ण का मूर्च्छित होना आदि सारे प्रसंग एक ही पद में उल्लिखित हुए हैं। वस्तुतः इसे सूर के तीसरे भ्रमरगीत की भूमिका माना जा सकता है।

3. तीसरा भ्रमरगीत अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत बना है। 'सूरसागर' के 4078 वें पद से लेकर 4710 वें पद तक इसका विस्तार हुआ है। यह अधिक सरस एवं काव्यमय बन सका है। इसमें उद्धव व गोपियों के वार्तालाप के बीच में प्रथम बार भ्रमर उड़कर आया। उसी भ्रमर के माध्यम से गोपियों ने जी भरकर उद्धव और कृष्ण के प्रति व्यंग्य–बाणों के प्रहार किये । सूर का यह भ्रमरगीत हिन्दी–काव्य के इतिहास का गौरव–बिन्दु कहा जा सकता है। इसमें कवि ने निर्गुण–भक्ति का विरोधकर सगुण–भक्ति की विजय बतलाई है।

नन्ददास :– सूर के पश्चात् नन्ददास कृत 'भँवरगीत' इस परम्परा की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में सामने आता है। इसमें केवल 75 पदों की रचना की गई है। इसमें 28 वें पद तक केवल दार्शनिक विवाद प्रस्तुत हुए हैं, इसके उपरान्त 26 वें पद में गोपियों के समक्ष कृष्ण का रूप स्पष्ट किया गया है। 44 वें पद तक गोपियों का मर्म–स्पर्शी विरह–वर्णन मिलता है। इसी समय भ्रमर का प्रवेश हुआ है, इसी के साथ उपालम्भ प्रारम्भ किया गया है। इन पदों में से गोपिकाओं के रुदन का उल्लेख मिलता है। तदनन्तर 69 वें पद तक उद्धव का मनोद्वन्द्व एवं विचार परिवर्तन व्यक्त हुआ है।

इसके आगे कृष्ण व उद्धव की संवाद–योजना की गई है, जिसमें उद्धव के कृष्ण–रूप के दर्शन के साथ भ्रमरगीत को समाप्त कर दिया गया है। नन्ददास ने 'भँवरगीत' में श्रीमद्भागवत के परम्परागत तथ्यों की समुचित रक्षा करते हुए अपने मौलिक विचार–बिन्दुओं की भी प्रतिष्ठा की है।

परमानन्ददास :– परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों की परम्परा में भ्रमरगीत के विकास में सहायक माने जा सकते है। उन्होंने अपने भ्रमर–गीत की रचना चौपाई व साखी छन्दों में की है। यहाँ भ्रमर का प्रवेश नहीं कराया गया है, किन्तु 'मधुकर' शब्द का संबोधनात्मक प्रयोग अवश्य हुआ है, इस रूप में स्पष्टत : कवि ने भ्रमरगीत के प्रतीकार्थ को ही ग्रहण किया है। परमानन्ददास ने सूर व नन्द की भाँति ही ज्ञान का खण्डन कर सगुण भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यहाँ उद्धव का ज्ञान गोपियों की मार्मिक विरह–व्यथा को देखकर चूर–चूर हो गया है। वस्तुतः यह कवि की अपनी कल्पना है।

अष्टछाप के इन तीन कवियों के अतिरिक्त अन्य अष्टछाप के कवियों ने भ्रमर–गीत की रचना में कहाँ तक योगदान दिया, इस विषय पर कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती । कृष्णदास के कुछ पद इस सम्बन्ध में मिलते हैं, पर ठोस प्रमाण नहीं मिल पाए हैं। चतुरभुजदास ने भी दो–तीन पद लिखे, ऐसा माना गया है। इनके अतिरिक्त कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी आदि की रचनाओं में भ्रमरगीत नहीं मिलता ।

वृन्दावनदास :– भक्तिकालीन कवियों में वृन्दावनदास सूर व नन्द की परिपाटी के ऐसे कवि हैं, जिन्होंने भ्रमरगीत–परम्परा को विकासोन्मुख किया । उन्होंने छन्दों में दो प्रकार के भ्रमरगीतों की रचना की है–

1. प्रथम भ्रमरगीत सूर की भाँति एक ही पद में लिखा गया ।
2. दूसरा भ्रमरगीत विस्तृत रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें यशोदा के मातृ–स्नेह तथा गोपियों की विरह–वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उद्धव के निर्गुण– प्रतिपादन तथा गोपियों द्वारा उसके खण्डन के प्रसंग में कवि सूर व नन्द का ही अनुगमन करता दिखाई पड़ता है। यहाँ गोपियों ने उद्धव के समक्ष अपने मनोभावों को सहज रूप में प्रस्तुत किया है तथा कृष्ण– मिलन न होने को वे अपने ही दुर्भाग्य का कारण मानती हैं। उद्धव के सारे उपदेश उनके लिए वृथा सिद्ध हुए। वे तो बार–बार कृष्ण के आगमन की संभावनाओं पर ही उद्धव से प्रश्न करती दिख पड़ती हैं।

तुलसीदास :– राम–भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसी ने भी 'कृष्ण गीतावली' में भ्रमरगीत का प्रयोग किया है। गोपियों के विरह–प्रसंग में कवि की दृष्टि प्रेम की आलौकिकता की ओर उन्मुख हुई है। ज्ञान –मूढ़ उद्धव के समक्ष ज्ञान के खण्डन के सन्दर्भ में कवि ने 'मधुप' 'मधुकर ' आदि सम्बोधनों के साथ भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। यहाँ भ्रमर का प्रवेश नहीं हो सका। इस रचना में तुलसी की मर्यादा–स्थापन की मौलिक विशिष्टता के दर्शन मिलते हैं। सूर व नन्द की गोपियों की भाँति तुलसी की गोपियाँ लज्जा का त्याग नहीं करती । वे अत्यन्त विनम्रता, शील, मर्यादा तथा भक्तिभावों से युक्त हैं। उनमें नन्द की गोपियों की भाँति तर्क करने की प्रवृत्ति भी नहीं दीखती। उन्होनें अपने सहज प्रेम, विनय एवं भक्ति से उद्धव के ज्ञान–गर्व को पराजित किया।

भतिकाल के उक्त कवियों के अतिरिक्त कुछ और कवियों ने भी भ्रमर– गीतों की रचना की, जिसमें हरिराय, मलूकदास, मुकुन्ददास, रसखान आदि की चर्चा की जा सकती है। इनमें भी हरिराय की 'स्नेह–लीला' मलूकदास की 'ऊधौ पचीसी' तथा रसखान के कवित्त विशिष्ट महत्व के हैं साथ ही नीतिकार रहीम ने बरवै छंद में मुक्तक रूप से भ्रमरगीत की रचना की। यहाँ कृष्ण के प्रति गोपियों की तन्मयता जिस रूप में मुखर हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

रीतिकाल

भक्तिकाल में प्रवाहित भ्रमरगीत की यह परम्परा रीतिकाल में भी उसी भाँति विकासोन्मुखी बनी रही। इस काल में जिन कवियों ने भ्रमरगीतों की रचना की, उनमें मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, सेनापति आदि प्रमुख हैं।

मतिराम :– रीतिकाल के पोषक कवियों में मतिराम को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होनें यद्यपि स्वतंत्र रूप से भ्रमरगीत की रचना नहीं की, किन्तु गोपियों के विरह की अभिव्यक्ति में भ्रमरगीत को सहज ही अभिव्यक्ति मिल गई है। कवि ने कहीं पर परम्परा को ग्रहण किया है तो कहीं परम्परा की लीक छोड़कर उसने मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। मतिराम की गोपियों में कृष्ण के प्रति झुँझलाहट तथा उद्धव के प्रति आदर एवं बौद्धिकता विशेष रूप से मुखर हुई है। वे स्पष्टवादी तथा चंचल प्रवृत्तियों से युक्त देखी जा सकती हैं।

देव :– मतिराम की भाँति ही देव ने भी गोपियों की विरह–पीड़ा को अपनी सरस एवं मार्मिक उक्तियों के माध्यम से वाणी प्रदान की है। यहाँ भक्ति की अपेक्षा गोपियों के द्वारा प्रेम–पक्ष का आलंकारिक चित्रण अधिक मुखर हुआ है। यहाँ कुब्जा के प्रति व्यंग्योक्तियाँ कही गई हैं। कहना ही होगा कि देव की गोपियाँ रीतिकालीन प्रभाव से युक्त हैं, अतः वे सपत्नी अर्थात् कुब्जा के प्रति प्रियतम कृष्ण की अत्यधिक आसक्ति एवं गोपियों के प्रति उपेक्षा भला कैसे सह सकती थी। इस प्रसंग में देव सगुण–निर्गुण के स्थान पर राग एवं विराग की संघर्ष –योजना में उलझ गए। वस्तुतः भ्रमरगीत–परम्परा की विकासोन्मुखी धारा में यह एक नवीन कड़ी मानी जा सकती है।

घनानन्द :– मुक्तक–रूप में भ्रमरगीत की रचना करने वाले कवियों में घनानन्द का उल्लेखनीय स्थान है। उनकी रचनाओं में भ्रमरगीत संबधी छंद एक ही स्थान पर नहीं मिलते, प्रत्युत बिखरे पड़े हैं। घनानन्द ने गोपियों के सम्मुख सगुण व निर्गुण का संघर्ष प्रस्तुत कर सगुण की ही प्रतिष्ठा की। भाव, भाषा व अलंकार संबंधी रीतिकालीन विशेषताएँ हमें घनानन्द के भ्रमरगीत संबंधी छन्दों में देखने को मिलती हैं यहाँ गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपने एकनिष्ठ प्रेम को व्यक्त करते हुए भ्रमर को स्वार्थान्ध बतलाने का प्रयास किया है। उनकी वेदना में निराशा का समावेश हुआ है।

पद्माकर :– पद्माकर ने भी स्फुट रूप में भ्रमरगीत की रचना कर इस परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। उनकी गोपियों में कृष्ण के प्रति जैसी तन्मयता देखने को मिलती है, वह प्रेम के भावुक, सहज एवं शाश्वत स्वरूप को प्रस्तुत करती है। उनकी तन्मयता का एक छवि–चित्र देखिए–

"नैनन बसे हैं, अंग–अंग हुलसे हैं, रोमनि रसे हैं, निकसे हैं, कौतूहल है।
ऊधौ, वे गोविन्द कोऊ और, मथुरा में, यहाँ मेरे तो गोविन्द मोहि माहि में रमत हैं।"

पद्माकर ने भी गोपियों के द्वारा कुब्जा के प्रति मार्मिक एवं कटु व्यंग्यों की बौछार करवाई है–

"जैसे को तैसो मिले, तबहि जुरत सनेह।

ज्यों त्रिभंग तन स्याम को, कुटिल कूबरी देह।।"

सेनापति :– रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति सेनापति ने भी भ्रमरगीत की रचना करते समय अपनी गोपियों में बौद्धिकता का सहज समाहन किया है। श्लेष अलंकार की सहायता से कवि के भाव मुखर हुए हैं। कृष्ण और ब्रह्म को दृष्टि में रखकर सेनापति की गोपियाँ भक्ति की अपेक्षा प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करती दिख पड़ती हैं। यहाँ कृष्ण को महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

इनके अतिरिक्त रीतिकाल के अन्य कवियों में, जिन्होंने भ्रमरगीत लिखे, कुछ और भी कवियों का उल्लेख किया जा सकता है। डॉ. स्नेहलता श्रीवास्तव ने "हिन्दी में भ्रमरगीत–काव्य और उसकी परम्परा" में इस सन्दर्भ में बख्शी हंसराज, बृजनिधि, रसनायक, भिखारीदास, कालिदास, पाजनकुँवर आदि की चर्चा की है।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में आकर भ्रमरगीत–परम्परा में एक नवीन मोड़ आया। युगीन चेतना, नवीन भावना आदि का उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस रूप में आधुनिक काल को भ्रमरगीत–परम्परा के लिए पुनरुत्थान–युग के रूप में देख सकते हैं। इस अवधि में फुटकर एवं स्वतन्त्र– दोनों ही रूपों में भ्रमरगीत रचे गए।

भारतेन्दु :– भारतेन्दु आधुनिक काल के प्रथम ऐसे कवि हैं, जिन्होंने रीतिकालीन विशिष्टताओं को ग्रहण करते हुए मौलिकता के समन्वित रुप में भ्रमरगीत–परम्परा का विकास किया । सूर की भाँति ही भारतेन्दु ने भी उद्धव को ब्रज भेजा उसी भाँति ब्रज में उद्धव का सत्कार भी हुआ । उद्धव से योग का उपदेश सुनकर वे प्रेम–बालाएँ क्रोधाभिभूत हो उठीं। भारतेन्दु, की गोपियाँ भाग्यवादी आस्था से ग्रस्त हैं। वे तो केवल मात्र उद्धव से यही कहती दिख पड़ती हैं–

" तुम ऊधौ, यहै कहियो उनसौं, हम और कुछ नहिं जानत हैं।

पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अखियाँ दुखिया नहिं मानत हैं।।"

भारतेन्दु ने इसी प्रसंग में ज्ञान और भक्ति की चर्चा भी की है। उनकी अभिव्यक्ति पारम्परिक ही रही है।

प्रेमघन :– भारतेन्दु के उपरान्त आधुनिक काल में इस परम्परा के दूसरे प्रमुख कवि के रूप में प्रेमघन का नाम आता है। उनके पदों में सूर का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। इन्होंने इस प्रसंग –विशेष को आधार बनाकर जो पद लिखे, उनमें कुब्जा के प्रति व्यंग्योक्तियों को भी स्थान मिला है, इसे हम कवि पर रीतिकालीन प्रभाव मान सकते हैं। उद्धव के ज्ञान व योग के उपदेश को सुनकर प्रेमघन की गोपियाँ खीझ–खीझ उठी हैं, कवि ने उनकी झुँझलाहट का बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। यहाँ उद्धव गोपियों के सरल व सहज तर्कों के समक्ष पराजित हो जाते हैं।

सत्यनारायण कविरत्न :– आधुनिक काल में भ्रमरगीत –प्रसंग को लेकर स्वतन्त्र काव्य की सृष्टि करनेवाले प्रथम कवि के रूप में श्री सत्यनारायण कविरत्न हमारे समक्ष आते हैं। आपने अपने 'भ्रमर दूत' ग्रंथ में भ्रमरगीत छंद को

पुनः जीवित किया है। कवि की उद्‌भावनाओं पर युग के अनुकूल परिस्थितियों का परिवर्तित प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । 'भ्रमर–दूत' काव्य में कवि ने स्वदेश की निराशाजनक परिस्थिति को प्रस्तुत कर भ्रमर–गीत परम्परा के इतिहास–क्रम में सचमुच एक नया मोड़ प्रदान किया है। इसमें उद्धव, गोपियाँ, ज्ञान व भक्ति–योग, सगुण–निर्गुण विषयक विवाद आदि कुछ भी नहीं मिलता । यशोदा भ्रमर को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती है। यहाँ कवि ने यशोदा को भारतमाता के रूप में चित्रित किया है, देखिए–

'' विलपति अति कलपति जबे लखी जननि निज स्याम।

भगत– भगत आये तबै भाये मन अभिराम भ्रमर के रूप में!''

कविरत्नजी के अनुसार कृष्ण का मथुरा–प्रवास कुब्जा–प्रेम के फलस्वरूप न होकर लोक कल्याण पर आधारित था। यहाँ भ्रमर का आगमन उद्धव के रूप में नहीं हुआ, वरन् स्वयं कृष्ण ही भ्रमर के रूप में आ गए। यशोदा की व्यथा सम्पूर्ण ब्रज–प्रदेश की व्यथा बनकर मुखर हुई है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध– अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है इस ग्रंथ के प्रणयन की जहाँ और अनेक विशेषताएँ हैं वहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इसमें श्रीकृष्ण की कथा का नवीन रूप प्रस्तुत हुआ है। श्री कृष्ण के काव्यों को सामाजिकता के दायरे में घुमाकर इस ग्रन्थ में आधुनिकता का सराहनीय प्रभाव है। कृष्ण के प्रवास की इस कथा में भ्रमरगीत का प्रंसग भी आ गया है। इसलिए यह ग्रंथ भी भ्रमरगीत –परम्परा की एक कड़ी है। साथ ही यह भी बात है कि अपने नवीन दृष्टिकोण को रखने के कारण इस ग्रन्थ का भ्रमरगीत प्रसंग भी अपने आप में नवीन है।

'प्रिय प्रवास' का लगभग आधे से अधिक भाग इस प्रसंग से सम्बन्धित है। इसमें न तो ज्ञान पर प्रेम की विजय की चर्चा है, न उद्धव और गोपियों के तर्क–वितर्क है और न उद्धव का ज्ञान–मार्ग का 'लेक्चर' । इस ग्रंथ का दृष्टि–कोण सामाजिक भावों की व्यंजना करना है। इस प्रसंग का प्रारम्भ प्रिय प्रवास में कृष्ण द्वारा ब्रज की स्मृति करने पर होता है–

एकाकी ब्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए गेह में।

उत्सन्ना ब्रजभूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी ।।

ऊधौ संज्ञक ज्ञानवद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे।

वे आये इस काल ही सदन में आनन्द से मग्न से।।

श्री कृष्ण के आदेश से उद्धव ब्रज जाते हैं। वहाँ सबसे पहले यशोदा और नन्द से वार्तालाप करते हैं। अगले दिन गोपियों से कृष्ण–सम्बन्धी चर्चा होती है। कुछ दिन बाद गोपियों से बातें है और अन्त में राधा से उद्धव की बातें होती हैं। इन सभी वार्तालापों में विरह की अनुभूति होते हुए भी वह 'हाय–हाय'! नहीं है जो भ्रमरगीत प्रंसगों में देखी गई है। कृष्ण के विरह का कष्ट होते हुए भी परिस्थितिजन्य विवेक के कारण सान्त्वना की धारणा बनी हुई है।

वैसे कृष्ण के किसी प्रिय व्यक्ति को आता देखकर ब्रज के समाज की उत्सुकता आतुरता आदि में कोई कमी नहीं है। उद्धव के आगमन पर क्या दशा वहाँ हो गई है यह ईक्षणीय है–

निकालती जो जल कूप से रही।
सरज्जु सो भी तज कूप में घड़ा ।।
अतीव हो आतुर दौड़ती गई
ब्रजांगना बल्लभ को विलोकने।
तजा किसी ने जल से भरा घड़ा।
उसे किसी ने सिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ीं सुधि गात की गवा।
सरोज–सा सुन्दर श्याम देखने।।

'प्रिय प्रवास' में यशोदा द्वारा अपने पुत्र की स्मृति में विलाप बड़े विस्तार के साथ आया है जब कि अन्य भ्रमरगीतों में नाममात्र को ही यशोदा का इससे सम्बन्ध जोड़ा गया है। गोप आदि ने श्रीकृष्ण के सामाजिक लाभ के कार्यों की ओर संकेत करके उनकी स्मृति की है । सामाजिकता का भाव इस ग्रंथ के इस प्रसंग की सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरण के लिए केवल इन चार पंक्तियों से ही उनके इस रूप का अनुमान लगाया जा सकता है कि कृष्ण ने कितनी समाज सेवा की–

रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।।

उद्धव जब राधा से वार्तालाप करते हैं तब वे भी इस तरह के समाज–सेवा के भावों की ही अभिव्यक्ति करते है। हरिऔध ने राधा को भी आसुओं की नदी बहाते हुए नहीं दिखलाया। वे भी एक समाज सेविका है। सब के दुःखों का उन्हें ध्यान रहता है उद्धव से बातें करते समय राधा ने श्रीकृष्ण के लिए जो कहला भेजा है उससे उनके हृदय के समाज सेवा के भावों का अच्छी तरह से पता चलता है। वे उद्धव से कहती हैं–

जाके मेरी विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुँवर वर को आप सौजन्य द्वारा।।
मैं ऐसी हूँ न दुख से कष्टिता शोकमाना।
हा ! जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से।।

सारांश यह है कि हरिऔध द्वारा जो भ्रमरगीत प्रसंग प्रस्तुत किया गया है वह अपने–आप में बिल्कुल नवीन है। आधुनिक युग की सामाजिकता को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। कृष्ण और राधा पक्के समाज सेवी के रुप में चित्रित किये गये हैं। समय और युग के प्रभाव के अनुसार ऐसा परिवर्तन इस परम्परा के विकास का द्योतक है। यह ग्रन्थ इस परम्परा की श्रेष्ठ रचना है।

मैथिलीशरण गुप्त – भ्रमरगीत परम्परा के प्रसंग में मैथिलीशरण गुप्त की भी एक रचना आती है उन्होंने अपनी पुस्तक 'द्वापर' में इस प्रंसग का संयोजन किया है। वहाँ उड़ते हुए एक अलि को लक्ष्य करके गोपियों द्वारा उद्धव के लिए वचन कहलवाये गये हैं। इस प्रसंग की यहां पर अधिक विस्तार के साथ अवतारणा नहीं की गई है पर इसमें व्यक्त उपालम्भ पठनीय हैं राधा की स्थिति का कथन करते हुए गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य करती हैं–

"अभी विलोक एक अलि उड़ता, उसने चौंक कहा था।
सखि वह आया इस कलिका में क्या कुछ शेष रहा था।"
पर तत्क्षण ही गरज उठी वह, भौंह चढ़ाकर वाँकी–
" सावधान अलि ! हर कर लेना , तुम प्यारी की झाँकी।"

इनके इस प्रसंग में अभिव्यक्त उपालम्भ चापल्यपूर्ण ढंग से व्यक्त नहीं किये गये हैं। उद्धव के ज्ञानमार्ग की बातों की ओर भी उनके कथनों से ध्वनि निकलती है। ब्रह्म तो घट–घट में एक ही है इस पर गोपियों का सुन्दर भाव किस तरह व्यक्त हुआ है–

इसमें तुममें एक ब्रह्म पर, वह कैसा नटखट है,
बोल दो घटों में दो बाते करा रहा खटपट है।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भ्रमरगीत प्रसंग अधिक विस्तार के साथ वर्णित नहीं है। यह प्रसंगतः आ गया है पर प्रतिभावान कवि ने थोड़े से शब्दों में ही कुछ महत्व प्रदर्शित करके इस परम्परा के प्रवाह में योग दिया है।

आधुनिक युग में और भी कुछ रचनाएँ भ्रमरगीत को लेकर हुई हैं। ऐसे कवियों में द्वारिकाप्रसाद मिश्र, डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', हरदेव सहाय और जगन्नाथ सहाय आदि के नाम लिये जाते हैं। इनके काव्यों में भी प्रसंगतः ही यह वर्णन हुआ है अतः उनका स्थान गौण है।

भ्रमरगीत प्रसंग की प्राचीन परम्परा आधुनिक काल तक चली आयी है। इस परम्परा का आधार श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही रहा है। सूरदास के वर्णन की व्यापकता ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए और नया मार्ग प्रशस्त कर दिया था। आधुनिक काल में आकर उसका परिवर्तित रूप दृष्टिगत हुआ है। सत्यनारायण कविरत्न और हरिऔध के विचार युग– प्रभाव से अनुप्रमाणित है। यह प्रसंग अपने–आप में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है। एक ओर तो कवियों के ध्यान को प्रसंग ने अपनी ओर आकृष्ट किया है और दूसरी ओर सहृदय समाज को अपनी मार्मिकता से लुभाया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग की सुदीर्घ परम्परा सर्वथा स्वाभाविक है।

वास्तव में हिन्दी–साहित्य के अन्तर्गत शुद्ध 'भ्रमर–गीत' के प्रणेता सर्वप्रथम सूरदास ही हैं। सूर ने अपने भ्रमरगीत–में न तो केवल गोपियों के उपालम्भ एवं विरह–व्यथा का वर्णन किया है, अपितु नन्द एवं यशोदा के वात्सल्य की भी अद्‌भुत झाँकी अंकित की है। सूर के इस भ्रमर–गीत में व्यंग्य–विनोद, हास–परिहास एवं उपालम्भ के साथ विरह–व्यथा का जो सरस वर्णन मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता। यह भ्रमर–गीत उक्ति–वैचित्र्य एवं विनोदशीलता के साथ–साथ विरह की समस्त अन्तर्दशाओं से परिपूर्ण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

इस प्रकार 'श्रीमद्‌भागवत' से लेकर आज तक 'भ्रमर–गीत' की जो पयस्विनी प्रवाहित हुई है, उसका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सूरदास ने अपने 'भ्रमर–गीत' में मानव–हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है तथा व्यंग्य एवं उपालम्भ के साथ विरह–वेदना की जो मार्मिक अभिव्यंजना की है, वैसा कार्य कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। सूर का 'भ्रमर–गीत' वास्तव में विरह एवं प्रेम के जल की एक अगाध पयोधि है, जिसमें व्यंग्य एवं उपालम्भ की लघु लहरें हैं, उद्धव–सन्देश के झंझावात से आलोड़ित वेदना एवं व्यथा की तरंगें हैं और भक्ति की बड़वाग्नि है। इसी लिये सूर के 'भ्रमर गीत' का प्रत्येक पद मार्मिकता एवं सहजीवता में अन्य सभी कवियों से अधिक उत्कृष्ट है और परवर्ती सभी कवि 'सूर की जूठन' से जान पड़ते हैं। सूर के भ्रमर–गीत में निःसन्देह वियोग–शृंगार का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है, उसमें निर्गुण–साधना पर सगुण–साधना की विजय दिखाई गई है और गोपियों के उत्कृष्ट प्रेम, दृढ़ विश्वास एवं उत्कृष्ट भक्ति–भाव की सुन्दर एवं सजीव झाँकी प्रस्तुत की गयी है, जिसे देखकर ज्ञान के प्रकाण्ड आगार उद्धव भी अपना सम्पूर्ण ज्ञान भूल जाते हैं और निर्गुण ब्रह्म का उपदेश छोड़कर सगुण ब्रह्म के उपासक हो जाते हैं। यही कारण है कि 'भ्रमर–गीत' की इस सुदीर्घ परम्परा में सूरदास का 'भ्रमर–गीत' हिन्दी की आरम्भिक रचना होकर भी सर्वश्रेष्ठ है।

19.4 सूर के 'भ्रमर–गीत' की विशेषतायें

(1) अन्य सभी 'भ्रमर–गीतों' की अपेक्षा सूर का 'भ्रमर–गीत' कहीं अधिक व्यवस्थित एवं शृंखला–बद्ध है, क्योंकि इसके आरम्भ में कृष्ण की गोकुल सम्बन्धी चिन्ता, उद्धव का ज्ञान सम्बन्धी अहंकार, कृष्ण का उद्धव के अंहकार को दूर करने के बारे में विचार, उद्धव को ही सन्देश लेकर गोकुल भेजने का उपक्रम, नन्द–यशोदा और गोप–गोपिकाओं के लिए पत्र, कुब्जा द्वारा पत्र की व्यवस्था, उद्धव की ब्रज–यात्रा, उद्धव का ब्रजागमन, ब्रज–युवतियों का उन्हें कृष्ण जानकर उनके पास आगमन तथा उनका भ्रम–निवारण, तत्पश्चात् उद्धव का उपदेश तथा गोपियों का व्यंग्य एवं उपालम्भ द्वारा उस उपदेश का खण्डन और अन्त में निर्गुणोपासक उद्धव का सगुणोपासक बन जाने की व्यवस्था आदि प्रसंग क्रम–बद्ध रूप में वर्णित हैं।

(2) सूर के भ्रमरगीत में मनोवैज्ञानिक चित्रों द्वारा गोपियों के प्रेम एवं भक्ति–भाव को अंकित किया गया है।

(3) सूर का भ्रमर–गीत विप्रलम्भ शृंगार का अक्षय भण्डार है। उसमें विरह की उत्कृष्ट भावना एवं वियोग की समस्त काम–दशाओं का बड़ी ही सजीवता एवं मार्मिकता के साथ निरूपण किया गया है।

(4) सूर के भ्रमर–गीत में मानव–मनोभावों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है, क्योंकि यहाँ सूर के उद्धव के सन्देश द्वारा यशोदा, नन्द, गोप गोपीजन आदि पर जो भिन्न–भिन्न प्रभाव पड़ते हैं उनका बड़ा ही मार्मिकता एवं दक्षता के साथ निरूपण किया गया है।

(5) इस भ्रमर–गीत में उद्धव के मौखिक सन्देश के अतिरिक्त कृष्ण के लिखित सन्देश एवं कुब्जा के लिखित पत्र द्वारा ब्रज–जन पर विशेषकर कृष्ण के प्रेम में विकल गोपियों पर क्या–क्या प्रभाव पड़ते हैं, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है।

(6) उद्धव का उपदेश सुनकर गोपियों ने उद्धव की मीठी चुटकियाँ ली हैं अथवा कृष्ण पर उपालम्भ किए हैं या अपने विनोदी स्वभाव द्वारा कृष्ण एवं कुब्जा पर जो सपत्नी भाव–मिश्रित तीक्ष्ण व्यंग्य किए हैं। ये सभी प्रसंग सूर के भ्रमर–गीत की विशिष्टता के सूचक हैं।

(7) सूर का भ्रमर–गीत सूर की मौलिक उद्‌भावना–शक्ति का द्योतक है, क्योंकि इसमें उद्धव के ज्ञान–गर्व को खंडित करने का प्रयत्न, उद्धव की सहृदयता, राधा के चरित्र का विकास आदि सूर की मौलिक उद्‌भावनाओं का द्योतक है।

(8) सूर ने अपने भ्रमर–गीत में सरलता एवं भावकुता के साथ तर्क एवं बौद्धिकता से युक्त गोपियों की जो सृष्टि की है, वह सर्वथा अद्वितीय है, क्योंकि ऐसी तर्कशील एवं सहृदय गोपियाँ ही उद्धव जैसे प्रकांड ज्ञानी को परास्त कर सकती हैं।

(9) सूर ने कृष्ण के प्रेम में पगली हुई गोपियों के आत्म–विश्वास, अनन्य प्रेम, उपहास, उपालम्भ, असमर्थता, विरहजन्य तीव्र संताप आदि का जो निरूपण किया है, वह सर्वथा अनुपम एवं अद्‌भुत है।

(10) सूर ने भ्रमर–गीत में नारी–हृदय की शंकालु प्रवृत्ति, ईर्ष्या, डाह, सपत्नीभाव की उत्पत्ति होते ही अपने प्रिय पर निर्दयता के साथ उपालम्भों का प्रहार, सपत्नी का मजाक आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। इसलिए गोपियाँ खीझती हुई कुब्जा का मजाक उड़ाती हैं और 'साखी री काके मीर अहीर' कहकर श्रीकृष्ण पर भी तीक्ष्ण प्रहार करती हैं।

(11) सूर ने अपने भ्रमर–गीत में प्रकृति के उद्दीपन रूप के माध्यम से वियोगिनी की विरह व्यथा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है, जिसमें कहीं वे अपने उजड़े हुए जीवन की हरे–भरे मधुवन से तुलना करती हुई असहनीय पीड़ा अनुभव कर रहीं हैं, तो कहीं उन्हें चादँनी रात भी साँपिनी–सी लग रही है जो डसकर उलटी हो गई है।

(12) सूर ने अपने भ्रमर–गीत में मुख्यतः प्रेमा–भक्ति का ही प्रतिपादन किया है। इसीलिए यहाँ ज्ञान पर प्रेमा–भक्ति की विजय है तथा 'कृपाण की धार' के समान विभिन्न आडम्बरों में परिपूर्ण ज्ञानमार्ग से बचने के लिए सरस एवं मधुर प्रेममयी भक्ति का उपदेश दिया गया है।

(13) सूर का भ्रमर–गीत उक्ति वैचित्र्य एवं वाग्विदग्धता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें उक्तियों की वक्रता एवं कथन की आलंकारिता के साथ–साथ लोकोक्तियों एवं मुहावरों सहित साहित्यिक ब्रजभाषा का चमत्कार भी विद्यमान है।

(14) सूर का सम्पूर्ण भ्रमर–गीत विरहिणी ब्रजबालाओं के करूण–क्रन्दन के मधुर गूँज से आप्लावित है। इसलिए इसमें भग्न–हृदय की दयनीय स्थिति, विरह–जन्य कातरता, प्रियतम की निष्ठुरता, दुर्भाग्य, निराशा, उन्माद, प्रलाप, निरन्तर अश्रु–वर्षा, शारीरिक साज–शृंगार एवं सौन्दर्य के प्रसाधनों की उपेक्षा आदि का बड़ा ही सुन्दर एंव मर्मस्पर्शी वर्णन होता है।

(15) सूर के भ्रमर–गीत की भाषा हृदय के गतिशील भावों के प्रवाह की तीव्रता से भरी हुई है, उसमें कहीं भी बोझिल एवं कृत्रिम शब्द नहीं मिलते और न कहीं उसकी धारावाहिकता ही भग्न हुई है, अपितु सरल अलंकारों की योजना एवं वक्रोक्ति की मुखरता ने उसे भावानुकूल प्रवाहित होने में सहयोग प्रदान किया है और वह प्रकृत एवं अकृत्रिम रूप में होकर भी साहित्यिक बन गई है।

19.5 सारांश

इस प्रकार सूर का भ्रमर–गीत मानव–हृदय का एक आकर्षक चित्रफलक है, जिस पर हृदयस्थ विभिन्न भावों के मनोरम चित्र अंकित हैं, ''जिनमें गति है, जीवन है, सरसता है, मधुरिमा है, सौन्दर्य है और है एक शाश्वत कला, जिसमें विरह–विधुरा नारी की मूक वेदना को मुखरित करके पाषाण से पाषाण हृदय को भी द्रवीभूत करने की अपूर्व क्षमता है। कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों में सूर का स्थान अग्रगण्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ''जिस प्रकार रामचरित गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण चरित गान करने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का। वास्वत में ये हिन्दी काव्य–गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त शिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहां ? हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ, इन्हीं की सरसता से उसका स्त्रोत न सूखने पाया।

19.6 प्रश्नावली

1. भ्रमरगीत परम्परा में सूरदास का स्थान निर्धारित कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. भ्रमरगीत परम्परा में सूरदास किस स्थान पर ठहरते है। स्पष्ट कीजिये।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

19.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

1. भ्रमरगीत का काव्य –वैभव – डॉ. मनमोहन गौतम
2. सूरदास और उनका भ्रमरगीत –डॉ. श्रीनिवास शर्मा
3. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि – डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना


~~~
~~~

सूर का काव्य सौष्ठव

20.0 रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 भूमिका

20.3 सूरदास का काव्य सौष्ठव

20.4 सारांश

20.5 शब्दावली

20.6 प्रश्नावली

20.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

20.1 उद्देश्य

– इस आलेख के माध्यम से आप जान सकेंगे कि सूर काव्य में प्रस्तुत शब्द–भण्डार अपरिमित है।

– जान सकेंगे कि सूर का ब्रज भाषा के विकास की दिशा में कम योगदान न था। वे कवि होने के साथ–ही–साथ भाषा के लिए मार्ग दर्शक भी रहे हैं।

– जान सकेंगे कि भ्रमर गीत में आधिक्य ब्रजभाषा के प्रचलित शब्दों का है।

– ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने के लिए कवि ने भ्रमर गीत में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है।

20.2 भूमिका

काव्य को भी कला का, ललितकला का एक विशिष्ट रूप माना जाता है। कला की श्रेष्ठता के लिए विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि जिस कला – रूप में जितनी कम मूर्तता होगी, जितने ही कम उपकरणों की आवश्यकता होगी , वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। काव्य केवल भावनाओं की कला है, जो सीधे रूप से मानव चित्त का प्रसादन कर उसे प्रभावित करती है। इस आधार पर किसी भी काव्य के सौन्दर्य पर विचार करते समय उसके भाव–पक्ष के साथ ही साथ कला–पक्ष का मूल्यांकन करना भी आवश्यक होगा।

सूर की रचनाओं में हमें जहां भावों का सहज, सरस एवं मुक्त तेज उमड़ता दिख पड़ता है वहीं दूसरी ओर कवि ने अपने काव्य –लोक को विभिन्न कला–सौन्दर्य के बिन्दुओं से सज्जित कर प्रस्तुत किया है । कला पक्ष किसी भी कृति का बाह्य सौन्दर्य होता है आन्तरिक सौंदर्य अथवा भाव–पक्ष के प्रस्तुतीकरण के लिए कला–सौन्दर्य का परिवेश भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है।

20.3 सूर का काव्य–सौष्ठव

सूर का काव्य ब्रजभाषा का श्रृंगार है। उसमें विभिन्न राग–रागनियों के अन्तर्गत एवं भक्त–हृदय के भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। जिसमें श्रीकृष्ण, गाय, वृन्दावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप, गोपी आदि की महत्ता के साथ–साथ सम्पूर्ण ब्रज–जीवन, ब्रज–संस्कृति एवं ब्रज–सभ्यता मुखरित होकर गुंजायमान हो रही है। सूर का प्रत्येक पद कृष्ण–भक्ति के दधि–माखन से ओत–प्रोत है और सूर के सभी भाव भावुक हृदय की गहन अनुभूतियों के भण्डार हैं। इसलिए सूर के काव्य में एक अद्‌भुत संजीवनी शक्ति के दर्शन होते हैं, जो मधुर राग–रागनियों के माध्यम से अन्तः–करण के निगूढ़तम प्रदेश में पहुँचकर सहृदयों को ब्रह्मानन्द में लीन कर देती है। इसी कारण सम्पूर्ण ब्रज–साहित्य सूर की जूठन माना जाता है और इसीलिए सूर को सूर्य के समान एक दिव्य आलोक से परिपूर्ण माना जाता है। वास्तव में सूर ने 'तत्त्व, तत्त्व' ही कहा है और सूर का वह कथन अनुपम, अद्वितीय एवं आलौकिक है। निःसन्देह सूर के काव्य में अतुलित माधुर्य है, अनुमप सौन्दर्य है तथा अपरिमेय सौष्ठव है, निम्नलिखित शीर्षकों की दृष्टि से सूर के सम्पूर्ण काव्य को छः भागों में विभक्त किया जाता है

1 वस्तु –वर्णन :– वर्ण्य विषय की दृष्टि से सूर के सम्पूर्ण काव्य को छः भागों में विभक्त किया जाता है– (1) विनय के पद (2) बालक कृष्ण से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक पद, (3) कृष्ण का रूप–माधुरी सम्बन्धी पद, (4) श्रीकृष्ण और राधा के रति भाव सम्बन्धी पद, (5) मुरली–सम्बन्धी पद, तथा (6) वियोग–श्रृंगार सहित भ्रमर–गीत वाले पद।

इसमें से विनय के पदों में सूर ने विनय की सम्पूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति सम्बन्धी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता निरभिमानता, निष्कपटता, सर्वस्वार्पण, इष्टदेव की महत्ता, भक्त की लघुता आदि का निरूपण बड़ी सजीवता के साथ किया है। इन पदों में सूर ने पतित–पावन एवं दीनबन्धु के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रख दिया है, अपने सम्पूर्ण अपराधों एवं दोषों को स्वीकार किया है तथा एकमात्र भक्ति की ही कामना की है। दूसरे, श्रीकृष्ण के बाल–जीवन सम्बन्धी पदों में तो सूर की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं, क्योंकि उन पदों में सूर ने बाल जीवन

का ऐसा जीता–जागता चित्रण किया है। जिनमें मनोवैज्ञानिकता के साथ–साथ सरसता एवं चिताकर्षकत्ता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। तीसरे श्रीकृष्ण के रूप–माधुरी सम्बन्धी पदों में सूर ने अपने इष्टदेव–कृष्ण के अनन्त सौन्दर्य की ऐसी मनोहर झाँकी अंकित की है, जिसके सौन्दर्य वर्णन ने ही अनेक कृष्ण–भक्तों को जन्म दिया है क्योंकि भक्ति का ऐसा अद्‌भुत सौन्दर्य–सम्पन्न आलम्बन सूर से पहले और कोई भक्त–कवि नहीं दे सका है। चौथे, श्रीकृष्ण और राधा के रतिभाव सम्बन्धी पदों में भले ही जयदेव और विद्यापति की छाया दृष्टिगोचर होती है, परन्तु यहाँ सूर ने कृष्ण के साथ–साथ राधा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और उसे आराध्य देवी के पद पर प्रतिष्ठित करके ब्रह्म की शक्ति के रूप में ही चित्रित किया है। वैसे श्रीमद्‌भागवत् में राधा नहीं है। इसीलिए सूर ने राधा को नायिका का स्थान देकर एक ओर तो श्रृंगार रस के आलम्बन के द्वारा साहित्यिक आदर्श की रक्षा की है और दूसरी ओर भक्ति एवं उपासना के लिए एक सुन्दर युगल मूर्ति प्रदान करके धार्मिक आदर्श की भी स्थापना की है। पाँचवें, मुरली सम्बंधी पदों में सूर ने मुरली के व्यापक प्रभाव को प्रदर्शित करते हुए उसे एक साधारण मनोमुग्धकारी यन्त्र ही नहीं रहने दिया है, अपितु 'योग्य–माया' का स्थान दे दिया है, जिससे मुरली जीवात्मा रूपी गोपियों को ब्रह्मरूपी श्रीकृष्ण से मिलाने में सहायक बनती है और निरन्तर ब्रह्म के समीप विद्यमान रहती हुई ब्रह्म की अनन्य उपासिका गोपियों के लिए ईर्ष्या का विषय भी बन जाती है। वास्तव में सूर की मुरली सम्बन्धी उक्तियाँ बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी हैं, जिनमें सपत्नी भाव के साथ–साथ उक्ति वैचित्र्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। छठे, वियोग–वर्णन के अन्तर्गत आये हुए भ्रमर–गीत सम्बन्धी पदों में सूर की सर्वोत्कृष्ट कला के दर्शन होते हैं। क्योंकि इन पदों में सूर ने सरसता, वाग्वैदग्ध्य एवं माधुर्य के साथ–साथ उद्धव–सन्देश, गोपियों की झुँझलाहट एवं झल्लाहट, प्रेमातिरेक, व्यंग्य–विनोद एवं हास–परिहास, उपालम्भ, उदारता, सहज चपलता, विरहोन्माद, वचन–वक्रता आदि का व्यापक चित्रण किया है। इस प्रकार सूर ने श्रीकृष्ण के बाल–जीवन से लेकर किशोरावस्था तक की सम्पूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं, व्यापारों आदि का मनोहारी चित्रण करके 'सूरसागर' के रूप में अद्‌भुत काव्य की सृष्टि की है, जिसमें वात्सल्य एवं विप्रलम्भ सम्बन्धी वर्णन सर्वोपरि है और जो सूर की अलौकिक प्रतिभा, उर्वर कल्पना एवं गहन अनुभूति के परिचायक हैं।

(2) प्रकृति–निरूपण – सूर का काव्य ब्रज–प्रदेश की सुरम्य प्रकृति का रमणीय स्थल है। इसमें ब्रज की प्रकृति–सुन्दरी का मनोहारी नर्त्तन पद–पद पर सुनाई पड़ता है, उसकी रूपमाण धुरी स्थान–स्थान पर दिखाई देती है और उसका आनन्दोल्लासपूर्ण मधुर कलरव प्रत्येक पद में गुंजायमान हो रहा है। सूर ने प्रकृति–नटी की रमणीय झाँकी अंकित करते हुए उसके षड्‌ऋतुओं में परिवर्तित होने वाले दिव्य सौन्दर्य का अच्छा निरूपण किया है। इसीलिए वसन्त–ऋतु में ब्रज के अन्तर्गत सदैव कोकिल शोर मचाती रहती है, सदा मन्मथ चित चुराता रहता है, द्रुम–डालियाँ विविध वर्ण के सुमनों से भर जाती हैं, जिन पर भ्रमरावली उन्मत्त होकर गूँजने लगती है, सर्वत्र हर्ष एवं उल्लास छा जाता है और कोई भी उदास नहीं रहता –

सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास।।
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर।।
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार।।

ऐसी ही शरद ऋतु में भी ब्रज की प्रकृति एक अद्‌भुत सौन्दर्य से सुसज्जित हो उठती है, क्योंकि सरोवरों में नए–नए सरोज और कुमुदिनी के फूल खिल उठते हैं, चन्द्रिका में सम्पूर्ण वन–प्रदेश स्नान करने लगता है, आकाश भी स्वच्छ रहता है, पृथ्वी रंग–बिरंगे फूलों से आच्छादित हो उठती है। सूर ने शरद की उस दिव्य आभा का निरूपण करते हुए लिखा भी है –

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहे रोम–रोम सुखदाई।।

अथवा –

सरद चाँदनी रजनी सोहे वृन्दावन श्रीकुन्ज।
प्रफुलित सुमन, विविध रंग जहँ–जहँ कूजत कोकिल पुंज।।

सूर ने वर्षा ऋतु में विविध आकृति धारण करने वाली ब्रज–प्रकृति की रमणीय झाँकी भी अंकित की है क्योंकि उस समय वन–उपवन हरीतिमा से भर जाते हैं जलाश्य जल से परिपूर्ण हो जाते हैं, इन्द्रधनुष चमकने लगता है, घन–घटा के बीच वक–पंक्ति दिखाई देने लगती है, चारों और घटायें घिर आती हैं, दामिनी चमकने लगती है, पपीहा पी–पी रटने लगता है, दादुर, पिक और मोर शोर करने लगते हैं और हरी–हरी घास पर अरूण बीरबहूटी चित्त को चुराने लगती है। उस क्षण बादल मदन के हाथी जैसे दिखाई देने लगते हैं, जो अपने बन्धन तोड़कर विरहिणी बालाओं पर आक्रमण करते हुए से जान पड़ते हैं। फिर सावन का महीना तो नई उमंग, नया उल्लास, नई आशा–आकांक्षा एवं नया जीवन लेकर आता है। सूर ने सावन का मनोरम चित्र अंकित करते हुए लिखा है –

कैसे के भरिहैं री दिन सावन के।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।।
दादुर मोर सोन चातक पिक, निसा सिरावन के ।।
गरज चहूँ घन धुमड़ि दामिनी मदन धनुश धन धावन के।
पहिरि कुसुम सारी कुचंकि तन, झुँडनि झुँडनि गावन के।
सूरदास प्रभु दुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के।।

इतना ही नहीं, सूर ने ब्रज–प्रकृति की रमणीय झाँकी अंकित करते हुए प्रभात, वन, द्रुम, लता पुष्प, यमुना, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या आदि का बड़ा ही सरस एवं सुन्दर वर्णन किया है, परन्तु सूर के काव्य में सर्वत्र प्रकृति के रमणीय रूप की ही झाँकी नहीं मिलती, अपितु सूर ने प्रकृति के भयंकर रूप का भी चित्र अंकित किया है। प्रकृति का यह भंयकर रूप दावानल के वर्णन में दिखाई देता है, जिसके परिणामस्वरूप दसों दिशाओं में भयंकर लपटें उठनें लगती हैं, बाँस फटने लगते हैं, कुश–काँस थरथराने लगते हैं, अंगार उलटने लगते हैं, कराल लपटें वन का विध्वंस करने लगती हैं, धरा से अम्बर तक धुआँ मेघ–सा छा जाता है और बीच–बीच में ज्वाला दामिनी सी चमकने लगती है। उस समय जंगली जीव–जन्तु, वाराह, हिरन, मोर, चातक आदि सभी बेचैन हो उठते हैं –

भहरात, झहरात दावानल आयौ।

घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन, धरनि आकाश चहुँ, पास छायौ।

बरत बन बाँस थरहरत कुस काँस, जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ।।

झपटि झपटति लपट फूल–फूल चट–चटकि फटत लटलटकि द्रुम–दल नवायौ।

इस तरह सूर ने अपने काव्य में प्रकृत्ति के सुरम्य एवं भयानक दोनो रूपों की मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं, परन्तु सूर के प्रकृत्ति–चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर के आराध्यदेव निरन्तर प्रकृत्ति में ही रमण करते हैं, वन विहार करते हैं, वन में ही महारास रचाते हैं, वृन्दावन में गौएँ चराते हैं, गोवर्द्धन धारण करते हैं तथा कुंजों में विहार करते हैं। इसी प्रकार सूर के सभी पात्र प्रकृतिमय हो गए हैं और प्रकृत्ति सतत साहचर्य के कारण प्रकृति और सूर के पात्रों में पूर्ण तादात्म्य हो गया है। दूसरे सूर ने शास्त्रीय दृष्टि से प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही अधिक अपनाया है। सूर के पदों मे सर्वत्र प्रकृति सूर के पात्रों के मनोभावों को उद्दीप्त करती हुई दिखाई गई है। इसी कारण यहाँ शरदकालीन चाँदनी कामोद्दीपन करती हुई विरहिणी गोपियों पर आक्रमण करती हुई दिखाई देती है, चातक और कोयल उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, चन्द्रमा की पीयूष–वर्षिणी निशा आग बरसाने लगती है तथा शीतल कुंजे विषम ज्वाला का समूह बन जाती हैं। तीसरे, सूर ने प्रकृति के संवेदनात्मक रूप की बड़ी सजीव झाँकी अंकित की है। इसी से गोपियों की ही भाँति यमुना भी श्रीकृष्ण के वियोग–ज्वर में पीड़ित होकर काली पड़ जाती है और सभी ऋतुयें ब्रज में कुछ और ही हो जाती हैं। चौथे, प्रकृति के आलंकारिक रूप का चित्रण भी सूर ने अत्यधिक मात्रा में किया है। बहुधा उत्प्रेक्षा अलंकार के लिए तो सूर प्रसिद्ध ही हैं और उसके लिए सूर ने प्रकृति के विभिन्न पदार्थों का उपयोग किया है, परन्तु 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' वाले पद में सूर ने रूपकातिशयोक्ति का भी अद्‌भुत चमत्कार दिखाया है। पाँचवे, सूर का प्रकृति–चित्रण सांस्कृतिक परम्परा का भी द्योतक है, क्योंकि ब्रज की प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारों, चेष्टाओं एवं पदार्थों का वर्णन करते हुए सूर ने ब्रज की सांस्कृतिक महत्ता का भी निरूपण किया है, जिसमें अनायास ही यमुना, वृन्दावन, गोवर्द्धन, मधुवन आदि के प्रति हमारे हृदयों में अटूट श्रद्धा जाग्रत हो जाती है और हमें ब्रज की रमणीय प्रकृ ति में एक पावन एवं पुनीत भावना विद्यमान दिखाई देने लगती है। छठे, सूर का प्रकृति–वर्णन विविधता एवं सौन्दर्यप्रियता के लिए प्रसिद्ध है, उसमें कल्पना एवं भावना को सजग करने की अपूर्व क्षमता है तथा कठोर हृदय को भी आकृष्ट करके अपने रूप–सौन्दर्य में रमा लेने की अद्‌भुत शक्ति है।

इतना होने पर भी सूर के प्रकृति–चित्रण में कतिपय दोष भी है। जैसे, सूर ने भी यमुना में कमल खिलाये हैं और उन पर भौरों को गूँजते हुए अंकित किया है। अपने आराध्य देव के आलौकिक कार्यों की ओर संकेत करने के लिए सूर ने भी गोवर्द्धन पर्वत को श्रीकृष्ण द्वारा उँगली पर उठाते हुए लिखा है तथा उन्हें दावानल का पान करते हुए बताया है। इतना ही नहीं, सूर ने रोटी पर रखे हुए माखन की 'मनो बराह भूधसर सह पृथ्वी धरी दसनन की कोटी' कहकर विचित्र कल्पना की है। साथ ही बालक कृष्ण द्वारा अँगूठा–पान करते ही 'बिडरि चले घन प्रलय जानि कै दिग्पति दिग दंतियन सकेलत' कहकर सूर ने प्रलय की स्थिति का वर्णन किया है, जो हास्यास्पद ही जान पड़ता

है, परन्तु ये सभी वर्णन सूर की अनन्य भक्ति एवं इष्टदेव की महत्ता के परिचायक होने के कारण दोषपूर्ण होकर भी सरस एंव आकर्षक जान पड़ते हैं।

(3) भाव एवं रस का निरूपण – 'सूर–सागर' विभिन्न भावोर्मियों से तरंगायित है, जिसमें कहीं प्रेम, कहीं असूया, कहीं ईर्ष्या, कहीं वितर्क, कहीं क्षोभ, कहीं स्पर्धा, कहीं क्रोध, कहीं उत्साह, कहीं रति, कहीं हास, कहीं शोक, कहीं विस्मय, कहीं जुगुप्सा, कहीं भय आदि अनेक भावों की सुन्दर एवं सजीव व्यंजना हुई है। सूर के पद सहृदयता, सरसता एवं भावुकता के भण्डार हैं, जिनमें विविध भावों की योजना इतनी सुव्यवस्थित ढंग से की गई है कि प्रत्येक पद मर्मस्पर्शी एवं हृदयद्रावक बन गया है। यही कारण है सूर के पदों में विभिन्न भावों के साथ–साथ विविध रसों की भी सुन्दर एवं सजीव झाँकियाँ मिलती हैं। सूर के पदों मे प्रेम की आतुरता एवं तल्लीनता के बड़े ही रमणीय चित्र मिलते हैं। गोपियों के छलकते हुए प्रेम को सूर ने अपने पदों के माध्यम से इतनी सजीवता के साथ व्यक्त किया है कि देखते ही बनता है। श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेम में अनुरक्त गोपियों की मनोदशा के चित्रण में सूर ने प्रेम–भाव की विविध झाँकियाँ अंकित की हैं। श्रीकृष्ण के रूप–सौन्दर्य पर अपना मन न्यौछावर कर देने वाली एक प्रेमासक्त गोपी की स्थिति का चित्रण करते हुए सूर ने प्रेम–भाव की कैसी सरस व्यंजना की है –

मेरो मन गोपाल हर्‌यौ री।

चितवत ही उर पैठि नैन मंग ना जानौं धौं कहा कर्‌यौ री।।

माता पिता पति बन्धु सजन जन, सखि आँगन सब भवन भरयौ री।

लोक–वेद प्रतिहार–पहरुआ तिनहूँ पै राख्यौ न पर्‌यौ री।।

कृष्ण के प्रेम में अनुरक्त गोपियों की मनोदशा का चित्रण करते हुए सूर ने प्रेम की गहनता, गुरुता एवं महत्ता का बड़ा ही सजीव प्रतिपादन किया है। कृष्ण की विरहानुभूति में लीन गोपियों की व्यथामयी स्थिति के चित्रण में इस उत्कृष्ट प्रेम की झाँकी और भी गुरुता एवं गम्भीरता के साथ अंकित की गई है। इसलिए सूर की गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं –

हम अलि गोकुल–नाथ अराध्यौ।

मन–बच–क्रम हरि सों धरि पतिब्रत प्रेम जोग तप साध्यौ।

प्रेम भाव के अतिरिक्त सूर ने अन्य भावों के चित्र भी बड़ी ही तत्परता के साथ अंकित किए हैं। जैसे, 'स्पर्धा' नामक मनोभाव का चित्र देखिए –

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।

कितनी बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।।

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों है है लाँबी मोटी।

ऐसे ही 'क्षोभ ' नामक मनोभाव की झाँकी अंकित करते हुए सूर ने कैसा सजीव चित्रण किया है –

खेलत मैं को काको गुसैयाँ।

हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस की कत करत रिसैयाँ।।

जाति–पाँति हमते बढ़ नाहीं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।

अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे है कुछ गैयाँ।।

सूर ने रोष–मिश्रित 'खीझ' एवं झुँझलाहट का चित्रण करते हुए दुःख मिश्रित क्रोध की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है। यशोदा अत्यन्त खीझ के साथ नन्द से कह रही है –

छाँड़ि सनेह चले मथुरा कत, दौरि न चीर गह्यौं

फाटि न गई बज्र सी छाती कत यह सूल सह्यौ।।

इतना ही नहीं, दैन्य–मिश्रित क्षोभ एवं उदासीनता की झाँकी अंकित करते हुए सूर ने यशोदा की मनोदशा का कैसा भावपूर्ण चित्रण किया है –

संदेसो देवकी सों कहियों।

हौं तो धाय तिहारे सूत की, कृपा करति ही रहियो।।

सूर के पदों में असूया, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, ग्लानि, शोक, औत्सुक्य, विषाद, आवेग, जड़ता आदि के अनेक चित्र भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए 'असूया' नामक भाव का सजीव चित्रण देखिए –

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।

सुन री सखी तदपि नन्दनन्दहिं नाना भाँति नचावति।।

ऐसे ही सूर ने गोपियों की मनोदशा का चित्रण करते हुए 'स्मृति' नामक भाव का निरूपण इस प्रकार किया है –

एहि बिरियाँ बन तें ब्रज आवते।

दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते।।

इसी तरह सूर ने अन्य अनेक भावों का चित्रण बड़ी ही कुशलता एवं निपुणता के साथ किया है। भावों के इन विविध चित्रों के अतिरिक्त सूर ने विविध रसों की भी बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं। उदाहरण के लिए, कतिपय रसों के चित्र आगे दिए जाते हैं, जिनमें सूर ने अपनी कला–चातुरी प्रदर्शित की है –

(1) संयोग श्रृंगार –

राधा रुचि–रुचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगन्ध विछावति बारम्बार निहारति।।
भवन गवन करि हैं हरि मेरे हरषि दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि सुभग पाँवड़े डारति।
इहिं अभिलाखहिं मै हरि प्रगटे निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ को 'सूर' उनहिं जिय जानी।।

(2) वियोग श्रृंगार –

पिया बिनु नागिनी कारी रात।
जो कहुँ जामिनी उवति जुन्हैया डसि उलटी है जात।।
जन्त्र न फुरत मन्त्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिपु विकल विरहिनी मुरि–मुरि लहरैं खात।।

(3) हास्य –

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ।।
देखि तुही छींके पर भाजन, ऊँचे घरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, मै कैसे करि पायौ।
मुख दधि पौछिं बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कण्ठ लगायौ।

(4) करूण –

पटकत बाँस काँस कुस लटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अगार फूटत पर, झपटत लपट कराल।।
धूम धूँधि बाढ़ी उर अम्बर, चमकत बिच–बिच ज्वाल।
हरिन–बराइ–मोर–चातक–पिक जरत जीव बेहाल।।

(5) रौद्र

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
बजघातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाई
.....
रिस सहित सुरराज लीन्हे प्रलय मेघ बुलाइ।
सुर सुरपति कहत पुनि–पुनि परौ ब्रज पर आइ।।

(6) वीर –

आजु जौं हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौ गंगा जननी कों, सांतनु सुत न कहाऊँ।।
स्यदन खंडित महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पाडंव–दल सम्मुख है धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।।

(7) भयानक –

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुसकाँस, जरि उडत है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि–झपटति लपट फूल–फूल, चंट–चटकि फटत लट लटकि द्रुमदल नवायौ।

(8) वीभत्स –

आप कहां ब्रजराज मनोहर कहाँ कूबरी राड़।
जिहि छन करत कलोल संग रति गिरधर अपनी चाड़।।
काटत है परजंक ताहि छिन कैधौं खोदत खाड़।
किधौं सदा विपरीत रचत हैं गहि गहि आसन गाड़।
'सूर' सयान भये हरि बाँधत, माँस खाइ गल हाड़।।

(9) अद्‌भुत –

मथत दधि मथनी टेकि खर्‌यौ।
आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्‌यौ।

मन्दर दुरत सिंधु पुनि काँपत फिरि जति मथन करै।
प्रलय होय जनि गहौ मथानी विधि मरजाब टरै।।
सुर अरिसुर ठाढ़े सब चितबै नैनन नीर ढरै।
सूरदास प्रभु मुग्ध जसोदा, मुख दधि बिन्दु गिरैं।

(10) शान्त –

चरन कमल बन्दौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कूँ सब कछु दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि–बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार–बार बन्दौ तेहि पाई।।

(11) वात्सल्य –

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द कैं आँगन, बिम्ब पकरिबैं धावत।।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौ, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि–पुनि तिंहि अवगाहत।।

सारांश यह है कि सूर ने विविध मनोवैज्ञानिक चित्रों के साथ–साथ रसों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। सूर ने उद्‌भावनाशक्ति बड़ी प्रखर दिखाई है। इसीलिए सूर ने एक ही पदार्थ एवं एक ही विषय पर अनेकानेक गीतों की रचना की है और उन सभी गीतों में सुन्दर भावों की सृष्टि करते हुए अपनी नवनवोन्मेश शालिनी प्रतिभा द्वारा विविध रसों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है, परन्तु वात्सल्य एवं विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में सूर सर्वोपरि हैं। वात्सल्य रस के वर्णन में तो सूर हिन्दी–साहित्य के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि सूर ने ही अपनी वर्णन–क्षमता द्वारा वात्सल्य भाव को रस की कोटि तक पहुँचाया है। सूर के भाव एवं रस के निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें उक्ति–वैचित्र्य एंव वाग्वैदग्ध्य की प्रचुरता है। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि ''सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है, उतनी ही वाग्विदग्धता भी है।'' इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर के भ्रमर–गीत सम्बन्धी पद भावकुता के साथ–साथ वाग्विदग्धता से परिपूर्ण हैं। वियोग श्रृंगार का वर्णन करते हुए सूर ने वाणी की चातुरी द्वारा जो वक्रता एवं विदग्धता की सृष्टि की है, वह सर्वथा अनुपम एवं अपरिमेय है। निःसन्देह, सूर भावों के सम्राट हैं, हृदयगत मनोभावों के पारखी हैं और विविध रसों के मर्मज्ञ कवि हैं। इसलिए सूर का प्रत्येक पद सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ–साथ रसास्वादन एंव चमत्कारवादिता से ओत–प्रोत है, उसमें भारतीय जीवन रस का स्त्रोत उमड़ रहा है और वह अद्‌भुत आकर्षण एवं अनुपम कला से परिपूर्ण दिखाई देता है।

(4) अलंकार योजना – सूर के काव्य में वस्तु–विन्यास का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि सूर ने राधा और श्रीकृष्ण के रूप–सौन्दर्य, यमुना, गोप–गोपी, लता–कुन्ज, वृन्दावन, ब्रज–विपिन आदि के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का वर्णन नहीं किया है और इस अभाव की पूर्ति सूर ने अलंकार योजना द्वारा की है। रूप–सौन्दर्य के चित्रण में सूर ने उसी पुरानी परिपाटी का पालन करते हुए घन–दामिनी, सनाल–कमल, नील–मेघ आदि प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग किया है तथा ब्रज प्रदेश के अन्य प्रमुख पदार्थों का वर्णन करते हुए सूर ने केवल यमुना–तट, वंशीवट, कुन्ज–वाटिका, गोचारण, वन–विहार आदि तक ही अपने को सीमित रखा है। वैसे सूर के काव्य में शब्द और अर्थ–सम्बन्धी दोनों प्रकार के अलंकारों की प्रचुरता है, परन्तु शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही बाहुल्य है। सूर उक्ति–वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य के कुशल चितेरे हैं। इसी कारण उनके काव्य में ऐसे अलंकारों की बहुलता है, जो दुरारूढ़ कल्पना के साथ–साथ वैचित्र्य एंव वैशिष्ट्य के द्योतक हैं। सूर ने इसीलिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिश्योक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अर्थालंकारों के साथ–साथ वर्णन–वैचित्र्य दिखाने के लिए श्लेष, वीप्सा, वक्रोक्ति, यमक आदि शब्दालंकारों का भी उपयोग किया है यदि उनका सूरसागर अर्थालंकारों का भण्डार है तो साहित्य–लहरी शब्दालंकारों की निधि है क्योंकि उसके दृष्टकूटों में श्लेष एवं यमक की प्रचुरता है।

सूर की अलंकार–योजना में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर की चमत्कार–प्रियता में सहृदयता का पुट बराबर रहता है। इसीलिए सूर की वाग्विदग्धता प्रत्येक स्थल पर रसात्मकता से ओत–प्रोत दिखाई देती है। वैसे सूर ने कहीं–कहीं अलंकारों की बहुलता द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा की है और उन अलंकारों में भी उत्प्रेक्षा का आश्रय अत्याधिक लिया है, फिर भी सूर की सौन्दर्यानुभूति वहाँ भी अलंकारों का नियन्त्रण करती हुई दृष्टिगोचर होती है वैसे सूर एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए विभिन्न अलंकारों का सहारा लेते हैं और विविध रूपों मे उसका वर्णन करते हुए अपनी गहन सौन्दर्यानुभूति का परिचय देते हैं। जैसे श्रीकृष्ण के अधरों की लाली का वर्णन करते हुए सूर ने अपनी रचना–निपुणता के साथ–साथ, अलंकारों की विविधता एवं अपनी गहन सौन्दर्यानुभूति को इस तरह व्यक्त किया है –

देखि सखि अधरन की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे है, बनमाली।।
मनौं प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनी बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास।।

इतना रूप–सौन्दर्य का आलंकारिक वर्णन करने के उपरान्त अब सूर केवल अधरों की लाली का ही वर्णन अलंकारों की विविधता के साथ करते हैं –

कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिम्ब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, तेल बनत नहिं ताके।।

हँसाति दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।
मनौ नीलमनि–पुट मुकुता–गन, बंदन भरि बगराइ।।
किधौं वज्रकन, लाल नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति।
किधौं सुमन बन्धूक–कुसुम–तर, झलकत जल कन काँति।।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ।
सूर अरुन अधरिन की सोभा, बरनत बरनि न जाइ।।

उक्त पद में रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलंकारों के द्वारा सूर ने श्रीकृष्ण के मुख–सौन्दर्य का कितना प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिससे अलंकारों की विविधता द्वारा सौन्दर्यानुभूति का बड़ा ही सजीव एवं सशक्त चित्रण मिलता है। इस प्रकार सूर ने बड़ी सहृदयता के साथ अलंकारों का भावानुकूल वर्णन किया है।

इतना ही नहीं,सूर ने सांगरूपकों द्वारा भी भावुकता एवं सहृदयता के साथ–साथ गहन सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त किया है। यद्यपि सांगरूपकों के निर्वाह में सूर सर्वत्र सफल नहीं दिखाई देते, तथापि ''माधौ जू नेंक हटको गाइ'' वाले पद में गाय के द्वारा अविद्या–माया का वर्णन करते हुए सूर ने अपने अद्‌भुत कौशल एवं अनुपम सांगरूपक–योजना का परिचय दिया है, जिसमें सीधी सादी पद–योजना द्वारा अभीष्ट प्रभाव डालने की सफल चेष्टा हुई है जो कवि की उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट कलाप्रियता की भी द्योतक हैं। इसी तरह सूर ने संसार रूपी सागर की भयंकरता का वर्णन करते हुए एक सुन्दर सांगरूपक की सृष्टि की है, जिसमें माया को जल, लोभ को लहर, कामदेव को ग्राह, इन्द्रियों को मछली, पापों को सिर का बोझ, क्रोध–दम्भ–गुमान–तृष्णा आदि को झंझावात, नाम को नौका आदि कहकर अपनी उत्कृष्ट अलंकार–योजना का परिचय इस तरह दिया है –

अब कैं नाथ मोहि उधारि।
मगन हौं भाव–अम्बुनिधि में, कृपासिंधु मुरारि।।
नीर अति गम्भीर माया, लोभ–लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौं, गहे ग्राह अनंग।।
मीन इन्द्री तनहिं काटत, मोट अध सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार।।
क्रोध–दम्भ–गुमान तृष्ना, पवन अति झकझोक।
नाहिं चितवन देत सुत–प्रिय, नाम नौका ओर।
थक्यौ बीच विहाल विह्वल, सुनौ करुनामूल।
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै, सूर ब्रज कैं कूल।।

इस भाँति सूर ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा भी अद्‌भुत सौन्दर्यानुभूति का परिचय दिया है। इसके लिए सूर ने 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' नामक पद में साहित्य–प्रसिद्ध समस्त उपमानों को लेकर अद्‌भुत कौशल दिखाया है। इसी तरह निम्नलिखित पद में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा ब्रह्म के निवास–स्थान का मार्मिक वर्णन करते हुए जीवात्मा को वहाँ पहुँचने का आग्रह किया है –

चलि सखि तेहि सरोवर जांहि।

जिहिं सरोवर कमल–कमला रवि बिना बिकसाहिं।

ऐसे ही सूर ने 'नन्द नन्दन मुख देखौ माई' पद में अतिशयोक्ति का, 'चातक न होइ कोउविरहिनि नारी' में अपन्हुति का, हरि के चंचल नैनों को कमल के तुल्य कहकर 'निसि मुद्रित प्रातहि वै विकसित ये विकसित दिन रात में प्रतीप को, 'मुरली सुनत अचल चले' में विभावना का, 'उपमा नैनन एक गही' में व्यतिरेक का,' नाम सुनत अक्रुर तुम्हारे क्रुर भये हो आइ, में परिकइ अलंकार का, दूर करहु बीना कर धरिबो, में विषादन का, तबतें इल सबहिन सचु पायौ, पद में अप्रस्तुत प्रशंसा का तथा 'चकई री चलि चरन–सरोवर जहाँ प्रेम वियोग में अन्योक्ति अलंकार का चमत्कार प्रदर्शित किया है।

उक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त सूर ने अपना चमत्कार–कौशल दिखाने के लिए अनेक शब्दालंकारों का भी प्रयोग किया। जैसे –''जनम जनम जब जब जिहि–जिहि जुग जहं–जहां जन जाइ' में वृत्यानुप्रास,'चरचित चन्दन नील कलेवर बरसत बूँदनि सावन' में छेकानुप्रास, 'धनि राधिका धन्य सुन्दरता धनि मोहन की जोरी' में श्रुत्यानुप्रास, 'हा हा नाथ अनाथ करो जिनि टेरति बाँह पसारि' में वीप्सा, उदै सारंग जान सारंग गयौ अपने देश' में यमक, 'रे मन सुमिरि हरि हरि हरि, सत जज्ञ नाहिन नाम सम परतीति करि करि करि में पुनरुक्ति–प्रकाश आदि विभिन्न शब्दालंकारों द्वारा सूर ने उक्ति वैचित्र्य के साथ–साथ अर्थ–गाम्भीर्य की सृष्टि की है।

सारांश यह है कि सूर की अलंकार–योजना में भावानुकूलता के साथ–साथ सहृदयता एवं वाग्विदग्धता का प्राधान्य है। वैसे सूर के पदों में नाद–सौन्दर्य एवं ध्वन्यात्मकता लाने के कारण अनुप्रास की बहुलता हो गई है परन्तु सूर के शब्दालंकार व्यर्थ भर्ती के लिए नहीं आये हैं, उसमें संगीतात्मकता के साथ–साथ भाव–सौन्दर्य की भी सुन्दर सृष्टि हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर के पास कहने के लिए वर्ण्य विषय अत्यन्त सूक्ष्म रहा है और उसको विस्तार देने के लिए ही अप्रस्तुत–योजना अथवा अलंकारों का आश्रय लिया है, फिर भी सूर की अलंकार–योजना भावाभिव्यक्ति के साथ–साथ काव्योत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई है। इतना अवश्य है कि किसी–किसी पद में 'मानो' की भरमार देखकर मन ऊब जाता है परन्तु ऐसे पद अपेक्षाकृत कम हैं। साथ ही कहीं–कहीं ऊहात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हुए सूर ने दूरारूढ़ कल्पना का भी सहारा लिया है और 'कर धनु ले किन चंदहि मारि' आदि कहकर अस्वाभाविकता का भी प्रदर्शन किया है। फिर भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना करके

सूर के काव्य की रमणीयता एवं सौन्दर्यानुभूति की गहनता का परिचय दिया है तथा सूर के ये सभी अलंकार भाषा को बोझिल न करके सुन्दर भावाभिव्यक्ति में ही सहायक सिद्ध हुए हैं।

(5) सूर की भाषा –सूर के काव्य की भाषा ब्रज–प्रदेश की प्रसिद्ध बोली है, जो ब्रजभाषा के नाम से अभिहित की जाती है, परन्तु सूर की ब्रजभाषा एवं उसके शब्द–भण्डार का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सूर ने अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं एवं समकालीन विभाषाओं के अनेकानेक शब्द अपनाये हैं और अन्धे होने पर भी उनकी साहित्यिक भाषा में गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के शब्द भी मिलते हैं। इतना ही नहीं, इनकी भाषा में खड़ीबोली, अवधी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि बोलियों के अतिरिक्त अरबी, फारसी एवं तुर्की के भी शब्द मिल जाते हैं। सूर का शब्द–भण्डार बड़ा विस्तृत है। अध्ययन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण शब्द–भण्डार को छःभागों में विभक्त किया जा सकता है –

(क) संस्कृत के शब्द

(ख) गुजराती, पंजाबी आदि समकालीन भाषाओं के शब्द

(ग) खड़ीबोली, अवधी, क़न्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि हिन्दी–बोलियों के शब्द

(घ) अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्द

(ङ) देशज शब्द

(च) मिश्रित शब्द

(क) संस्कृत के शब्द – सूर के काव्य में संस्कृत–शब्दों की ही बहुलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उत्तरी भारत की अधिकांश भाषाओं के भण्डार की वृद्धि संस्कृत शब्दों द्वारा हुई है। साथ ही ब्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी से है और शौरसेनी का सीधा सम्बन्ध संस्कृत से ही रहा है। संस्कृत वैसे भी मध्यप्रदेश की प्रमुख भाषा रही है और आज तक उसका सर्वाधिक प्रभाव मध्यदेशीय समस्त भाषाओं एंव विभाषाओं पर दिखाई देता है। संस्कृत के इन शब्दों को तीन भागों में बाँट सकते हैं – (1) तत्सम, (2) अर्द्धतत्सम और (3) तद्भव।

(1) संस्कृत के तत्सम शब्द : सूर की रचनाओं में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। जैसे दधि, घृत, मधु, सरस, मयूर–चन्द्रिका, आभिष, रुधिर, अस्थि, चिबुक, द्विज, कपोल, पुरीष, नाभि, स्वजन, भव–मद, मृतक, कामधेनु, गज, कुंजर, कपोत, उलूक, चक्रवाक, कोक, गरुड़, खद्योत, मधुप, मीन, मकारकृत, भ्रमर, कल्पना, जीविका, त्रास, त्राहि, प्रतिष्ठा, मुखारविंद, कुसुमांजलि रुद्रादिक आदि।

(2) संस्कृत के अर्द्ध–तत्सम शब्द – सूर ने राग एंव सुर की दृष्टि से तत्सम शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया है कि वे अर्द्ध–तत्सम जैसे हो गए हैं। वे शब्द इस प्रकार हैं – अगिनि, अम्रित, अस्थानं, दरपन,

परजंत (पर्यन्त), विलम, मरजादा, रतन, पदारथ, परतीति, मरम, रिधि (ऋद्धि), अस्तुति, निहकाम, लछमी, सरकज, सवाद, करतार, कृतध्न, विसकर्मा, सूकर, परबोधत आदि।

(3) **संस्कृत के तद्भव शब्द –** अँगूठा, अंध्यारी आँसू, अचरज, उछा, कोख, काठ, गाड़े, चौक, जीभ, ताती, पाहन, निनारे, पौरी, बैन, हिय, सतिया, लरी, पाती, काठ, ओटाई, उनहार, आग, उघरी, उबटन, अनाखौंही, आजु, मोती, बिज्जु, वियाहन, मसान, लच्छा, बछल, साँझ, सरिस, लिलार आदि।

(ख) **गुजराती एवं पंजाबी के शब्द –** सूर के काव्य में संस्कृत के अतिरिक्त तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं, जिनमें से गुजराती, राजस्थानी तथा पंजाबी भाषायें प्रमुख हैं। जैसे – 'पेला' 'वियौ' आदि गुजराती के शब्द हैं तथा 'प्यारी' शब्द महँगी के अर्थ मे पंजाबी से आया है।

(ग) **हिन्दी बोलियों के शब्द –** सूर की भाषा वैसे तो ब्रजभाषा है, परन्तु सूर ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जो हिन्दी की विभिन्न बोलियों के हैं उदाहरण के लिए, जैसे गाया, आया, लखाया, ओढ़ाया, बताया, लाया है, जाया है, चरन कमल चित लाया है, आदि शब्द खड़ी बोली के हैं छोट, बड़, अस, आहि, इहाँ, उहाँ, कीन, दुबार, वियारी, मोर, तोर आदि शब्द अवधी के हैं, हुतो, हुती आदि क़न्नौज के शब्द हैं, और जानिबी, प्रगटबी आदि बुन्देलखण्डी के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(घ) **विदेशी भाषाओं के शब्द –** सूर ने तत्कालीन भारतीय बोली, विभाषा एवं भाषाओं के शब्द के अतिरिक्त अविदेशी भाषाओं के शब्दों को भी प्र्याप्त मात्रा में ग्रहण किया है और उनके द्वारा अद्भुत चमत्कार के साथ–साथ भाव–गाम्भीर्य की सृष्टि की है। जैसे अमल, अमनी, कलई, कसब, जवाब, मुजरा, मुहकम, मुहर्रिर, मौज, मुसाहिब, कागर, खबर, खाली, तलफ, दगा, मसकत, मिलिक, सफरी, मसखरा आदि शब्द अरबी भाषा के अपनाये हैं कमान, गुमान, चुगली, दलाली, दरबार, दीवान, मेहमानी, सरदार, राह, अँदेसा, आज़ाद, आवाज, असवार, गुनाहगार, गरद, जहर, जोर, बेसरम, सोर आदि फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है और 'शील सुरंग कुमैत' कहकर 'कुमैत' तुर्की भाषा का शब्द ग्रहण किया है।

(ङ) **देशज शब्द –** उक्त शब्दों के अतिरिक्त सूर के पदों में देशज शब्दों की भी भरमार है। सूर के ये देशज शब्द ऐसे हैं। जो ब्रज के गाँवों में बोले जाते हैं परन्तु न तो इनके मूल उद्गम का पता है और न इनकी व्युत्पत्ति ही सम्भव है। ये शब्द विभिन्न जातीय एवं विजाातीय भाषाओं से गृहीत होकर भी ऐसे अद्भुत एवं विलक्षण रूप में ब्रज के अन्तर्गत प्रचलित हैं कि इनको किसी एक भाषा का कहना सर्वथा असम्भव है तथा अब ये ब्रजभाषा की सहज सम्पत्ति बन गए हैं । जैसे– झुगली, झाम, ढबरी, ढाढ़ी (गायक), घैया, झुगियाँ, ढुकी, टूकटूक, बोहनी, मोट, गोड़ियाँ, खुनुस, टकटोरत, डहकावै, घमर, खरभर, झमक, ठुनक, धरधर, झकोर रुनुक–झुनुक आदि।

(च) **मिश्रित शब्द –** सूर ने कुछ ऐसे भी शब्द अपनाये हैं, जो देशी एंव विदेशी शब्दों के सम्मिश्रण से अथवा देशी प्रत्यय एवं विदेशी शब्दों के योग से बनाये गये हैं। जैसे – 'अनलायक', 'अनाहक' शब्दों मे देशी प्रत्यय,

'अन' एवं विदेशी 'लायक' एंव 'नाहक' शब्दों का मिश्रण हुआ है। ऐसे ही फौजपति, बेपीर, बेहाल, लौन हरामी आदि शब्दों मे देशी और विदेशी शब्दों का मिश्रण करके शब्द बनाये गये हैं।

20.4 सारांश

इस प्रकार सूर ने विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करके अपनी ब्रजभाषा को समर्थ, सशक्त एवं समृद्ध बनाया है, उसके बोलचाल के रूप को सँवार कर शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान किया है और उसे विविध राग–रागनियों के अनुकूल ढालकर नाद–सौन्दर्य एवं संगीतात्मकता से ओतप्रोत किया है। कहना न होगा कि सूर भ्रमरगीत सार में जहां विरह–चित्रणों के सन्दर्भ में भावों की मर्मस्पर्शी करुणधारा प्रवाहित कर सकने में सफल हुए हैं, वहीं दूसरी ओर वे कला पक्ष के विभिन्न सौंदर्य–रूपों के अंकन में भी उतने ही आगे बढ़ गए हैं। इस प्रकार भ्रमर गीत सार का कला सौष्ठव सूर काव्य के महान बिन्दुओं में अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है।

20.5 शब्दावली

गथ–पूंजी

सई–गई

निज– खास

विरान– पराया

कमोरी– दूध

झकति– झींखतीं है

बसबास– निवास

20.6 प्रश्नावली

1 सूरदास के काव्य सौष्ठव पर विचार करें।

_____

_____

_____

_____

_____

2. सूर की भाषा की विशेषताएँ बताइये।

_____

_____

_____

_____

_____

3. सूर काव्य में प्रतीकों का सफल प्रयोग है'–युक्तियुक्त उतर दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

4. सूर काव्य के कला पक्ष की विशेषताएं लिखें।

_____

_____

_____

_____

_____

20.7 पठनीय ग्रन्थ सूची

1. सूरदास एक अध्ययन – अश्विनी पराशर
2. भ्रमरगीत का काव्य सौंदर्य – सत्येन्द्र पारीक
3. सूरदास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल


~~~
~~~

तुलसीदास का समन्वयवाद/लोकनायकत्व

21.0 रूपरेखा

21.1 उद्देश्य

21.2 भूमिका

21.3 तुलसीदास का समन्वयवाद / लोकनायकत्व

21.4 सारांश

21.5 प्रश्नावली

21.6 पठनीय ग्रन्थ सूची

21.1 उद्देश्य

– आप जान सकेंगे कि तुलसी ने अपने अनुभव, अनवेक्षण, शास्त्रज्ञान और सहृदयता के आधार पर कवित्व, धर्म और भक्ति की त्रिपथगा का निर्माण किया और उनकी समन्वय–साधना बहुमुखी है।

– आप जान सकेंगे कि किस प्रकार तुलसी ने सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया और स्वयं धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य आदि के क्षेत्रों में यथा सम्भव समन्वय स्थापित करते हुए पारस्परिक विरोध एवं वैषम्य को दूर करने का प्रयास किया।

21.2 भूमिका

समन्वय भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। समय–समय पर इस देश में कितनी ही संस्कृतियों का आगमन और आविर्भाव हुआ, परन्तु वे घुल मिल कर एक हो गयीं। कितनी ही दार्शनिक, धार्मिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सौंदर्यमूलक विचारधाराओं का विकास हुआ, किन्तु उनकी परिणति संगत के

रूप में हुई उदारचेता विचारकों की सारग्राहिणी प्रतिभा ने दूसरों की ग्राह्यमान्यताओं को निस्संकोच भाव से ग्रहण किया। यह समन्वय–भावना का ही परिणाम है कि नास्तिक बौद्धों ने राम को बोधिसत्व मान लिया, और आस्तिक वैष्णवों ने बुद्ध की अवतार रूप में प्रतिष्ठा की। सांख्य–योग एवं न्याय–वैशेषिक में वेदांत के ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी, और वेदांत में सांख्य की सृष्टि–प्रक्रिया, योग की ज्ञान–साधना तथा न्याय की तर्क–प्रणाली को गौरव दिया गया। अर्थ–काम और धर्म–मोक्ष में, वेद–शास्त्र और लोक–परंपरा में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में, साहित्य और जीवन में समन्वय स्थापित करने के विराट प्रयत्न किये गये, अनेकता मे एकता की स्थापना की गयी, वैषम्य में साम्य का दर्शन किया गया।

समन्वय–सिद्धांत का व्यवस्थित निरूपण और 'कार्यान्वयन मदारी का वृक्ष नहीं है। वह प्रत्यक्ष अनुभव, सूक्ष्म अवेक्षण और गहन अनुशीलन का सम्मिलत परिणाम है। जीवन स्वयं समझौता है। तुलसी ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रहकर उसका साक्षात् अनुभव किया है। वे ब्राह्मण–पुत्र थे। पेट की आग बुझाने के लिए उन्हें 'जाति के सुजाति के कुजाती के' टुकड़े भी खाने पड़े थे। द्वार–द्वार भीख भी माँगी थी, और मठाधीश का सुख–भोग भी किया था। लोगों ने'दगाबाज' कहकर गालियाँ भी दी थीं, और महामुनि मानकर भूपतियों तक ने पाँव भी पूजे थे। वे यौवन की कामासक्ति के शिकार भी हुए थे, और वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचकर आत्माराम भी हो गये थे। वे अर्थ काम–पंकिल, भव सरिता से निकलकर धर्म–दर्शन–विशिष्ट रामभक्ति की राजडगर पर आये थे। उनमें कवि की कारयित्री प्रतिभा, भक्त के निष्काम हृदय और समाज सुधारक की लोकमंगल–भावना का अपूर्व समन्वय था। उन्होंने अपने अनुभव, अनवेक्षण, शास्त्रज्ञान और सहृदयता के आधार पर कवित्व, धर्म और भक्ति की त्रिपथगा का निर्माण किया। उनकी समन्वय–साधना बहुमुखी है

'समन्वय' (सम्+अनु+इ+अच्) का व्युत्पत्यर्थ है – नियमित क्रम, संयोग, पारस्परिक संबंध। जब शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, ब्राह्मण और शूद्र आदि के समन्वय की बात कही जाती है तब समन्वय का अर्थ होता है –उनके पारस्परिक संबंध का निर्वाह। यह उसका व्यापक अर्थ है। उसका एक संकुचित और विशिष्ट अर्थ भी है– परस्पर–विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं या बातों का विरोधपरिहारपूर्वक सामंजस्य। नास्तिक–द्वैतवादी सांख्य और आस्तिक अद्वैतवादी वेदांत के समन्वय का अर्थ होता है – इन दोनों मतों के प्रतीयमान विरोध का परिहार करके दोनों में सामंजस्य–स्थापन। तुलसी दोनों ही अर्थों में समन्वय–साधक हैं।

21.3 तुलसी का समन्वयवाद/लोकनायकत्व

समन्वय के देश में महान् लोकनायक वही हो सकता है जिसमें विशाल समन्वय–बुद्धि हो और जो उस बद्धि का सदुपयोग कर सके। धर्म–दर्शन और समाज सुधार के क्षेत्र में गौतम बुद्ध इसी प्रकार के लोकनायक थे। उनकी महिमा की आधारभूमि 'मध्यमा प्रतिपदा' समन्वय का ही मार्ग है। वाङ्मय के क्षेत्र में इतिहास–पुराण समन्वय–साधना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनमें भागवतपुराण और महाभारत का स्थान अन्यतम है। उनमें विचारधाराओं का संगम है, रोचक कथाओं की सहायता से तत्वज्ञान का उपस्थापन है, किंतु कांतासम्मित उपदेश का विधान करने वाले काव्य की सरसता नहीं है। संस्कृत में रचित होने के कारण वे तुलसीयुगीन लोक–मानस का नेतृत्व करने में

असमर्थ थे। लोकदर्शी तुलसी ने जनता के हृदय की धड़कन को पहचाना और 'रामचरितमानस' के रूप में समन्वय का वह अद्‌भुत आदर्श प्रस्तुत किया जो अपने कवित्वपय भक्ति–दर्शन, भक्तिदर्शनमय कवित्व और आमूढ़–पंडितव्यापिनी लोकप्रियता के कारण अद्वितीय है।

द्वैत–अद्वैत – तुलसी का दार्शनिक समन्वयवाद अत्यंत विवाद का विषय रहा है। तुलसी के युग में वेदांत का प्रभुत्व था। उसके भीतर भी दो प्रकार के संघर्ष थे – (1) सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे। (2) सभी अद्वैतवादी मध्यवाचार्य के द्वैतावाद के विरोधी थे। तुलसी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से मुख्यता प्रभावित थे। परन्तु अन्य मतों से भी उन्होंने विचार ग्रहण किये हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपनिषदों और वेदांत–संप्रदायों में जो मान्यताएँ समान रूप से पायी जाती हैं वे तुलसी को स्वीकार्य हैं, जैसे ब्रह्म सच्चिदानंदस्वरूप हैं, वह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन और आश्रय है आदि। परन्तु जहाँ अद्वैतवादियों और वैष्णव–वेदांतियों में मतभेद हैं, वहाँ उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। केवल द्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष और निर्लक्षण है, अर्थात् उसमें कृपा आदि विशेषताएँ नहीं हैं, माया अविद्या है, उसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, माया की उपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) ही अवतार लेता है, एकमात्र (निर्गुण) ब्रह्म ही सत्य है, जीव, जगत और 'ईश्वर' सब मिथ्या है, केवल–ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, आत्म–स्वरूप में स्थित हो जाता, है जीव के जीवत्व का नाश ही मुक्ति है। वैष्णव आचार्यों के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः सगुण अर्थात्, कृपा आदि दिव्य गुणों से युक्त है, वही कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेता है उसी की शक्ति माया है, जीव उसी का अंश है, सालोक्य आदि मुक्तियाँ श्रेष्ठ हैं।

निर्गुण और सगुण : निर्गुण और सगुण का विवाद दो क्षेत्रों में था, दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में और भक्ति के क्षेत्र में। शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्मवाद के विरुद्ध रामानुज और वल्लभ ने बहुत बल देकर ब्रह्म को स्वभावतः बतलाया था। तुलसी ने राम को बारंबार निर्गुण–सगुण स्वरूप कहा है –

1. **सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।**
2. **अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।**
3. **जय सगुण निर्गुण रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।**

वस्तुत : राम एक हैं। वे ही निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, अव्यक्त और व्यक्त, अंतर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत और गुणाश्रय हैं। निर्गुण राम ही भक्तों के प्रेम–वश सगुण–रूप में प्रकट होते हैं। दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह विश्वास की बात है। अपनी प्रीति–प्रतीति के अनुसार भक्त उन्हें किसी भी रूप में भज सकता है। तुलसी और उनके काव्य में अंकित भक्त सगुण–रूप के उपासक हैं, क्योंकि सगुण राम की भुजाएँ ही भक्तों पर छाया करती आयी हैं, कर रही हैं और करती रहेंगी। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। भक्त अपने चारों ओर उस भगवान् को देखना चाहता है, जो संकट के समय काम भी आ सके। इसीलिए स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी अंतर्यामी की अपेक्षा बहिर्यामी श्रेष्ठ है। पुनश्च:, तुलसी के सगुण–साकार राम के रूप और गुण का शील, शक्ति, और सौंदर्य का अनुपम साम्य है।

विद्या और अविद्या माया – अद्वैतवाद में 'माया और अविद्या' पर्यायवाची हैं। वैष्णव आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे माया को स्वभावतः ब्रह्मा की शक्ति मानते हैं। तुलसी ने दोनों के समन्वित सिद्धांत को ग्रहण किया है। माया की दो विधाएँ विद्या और अविद्या तुलसी की अविद्या–माया (मोह–कारणी–शक्ति) अद्वैतवादियों की 'माया' है। तुलसी ने उसी को मिथ्या कहा है, और उसके लिए प्रायः 'माया' शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे लोगों को भ्रम हो जाता है कि वे शंकराचार्य के मतानुयायी हैं। तुलसी की विद्या–माया शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि वह जगत् की रचना (विक्षेप नहीं) करती है और भक्तों का कल्याण भी। उनके अनुसार माया राम की भावरूपा अभिन्न शक्ति है।

माया और प्रकृति – सांख्या–योग के अनुसार स्वतंत्र प्रकृति सृष्टि का कारण है, यह स्थूल जगत् उसी का विकार है। अद्वैतवाद में मिथ्या जगत् की व्याख्या करने के लिए माया की कल्पना की गयी और जगत् को माया की विक्षेप–शक्ति का कार्य (विवर्त) माना गया। वैष्णवों ने परब्रह्म और उसकी शक्ति माया द्वारा विश्व का निर्माण माना। सृष्टि–प्रकृति के विषय में तुलसी ने वैष्णव–वेदांत की माया और सांख्य योग की प्रकृति का समन्वय किया। उन्होंने प्रकृति को राम के अधीन और माया से अभिन्न मानकर दोनों में एकसूत्रता स्थापित की, सांख्यों के प्रकृति परिणामवाद को समेटते हुए अविकृत ईश्वर–परिणामवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने चार्वाकों के स्वभाव, वैशेषिकों के काल–परमाणु, मीमांसकों के कर्म और शैवों की चित्–शक्ति को रामाश्रित बतलाकर इन सभी का समन्वय किया है।

जगत् की सत्यता और असत्यता – सांख्य–योग, वैष्णव–वेदांत, पांचरात्र आगम और मत में जगत् की सत्यता स्वीकार की गयी है। माध्यमिक बौद्धों ने शंकरमतानुयायियों के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक आभासमात्र (काल्पनिक) है। वेद–विरोधी, अनात्मवादी, अनीश्वरवादी बौद्ध तुलसी की दृष्टि में सर्वथा तिरस्करणीय हैं। शेष मतों का उन्होंने समन्वय किया है। विवर्तवादी वेदांतियों के अनुरूप उक्तियाँ हैं –

(1) **रजत सीप महुँ जिमि जथा भानु कर वारि।**

(2) **यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।**

(3) **झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जै अंत लहा है।**

इसके विरुद्ध राम को विश्वरूप तथा जगत् को रामरूप और राम का अंग बतलाकर उन्होंने जगत् की सत्यता प्रतिपादित की है। क्योंकि राम से अभिन्न जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। वस्तुतः वह विरोधाभास है। समाधान यह है कि जगत् प्रवाह–रूप से नित्य है। कभी वह कारण–रूप में अव्यक्त रहता है, और कभी कार्य–रूप में व्यक्त। राम से भिन्न प्रतीत होने वाला उसका कार्य–रूप परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या है। ज्ञान का उदय होने पर संपूर्ण जगत् दिखायी देने लगता है, विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता–

निज प्रभु मय देखहिं केहि सन सरहि विरोध

दूसरे शब्दों में, तुलसी ने द्वैतवादी और अद्वैतवादी मतों का समन्वय किया है। राम और जगत् में अभेद् है, किन्तु प्रतीयमान व्यावहारिक भेद भी है।

जीव का भेद–अभेद – तुलसी का जीव–विषयक सिद्धांत वैष्णव–सैद्धांतियों के मत का समन्वय है रामानुज और वल्लभ के अनुसार जीव ईश्वर का अंश, नित्य ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, ईश्वराधीन आदि है। तुलसी ने भेदभाव ओर अभेदवाद दोनों का समन्वय किया है। स्वरूप की दृष्टि से जीवन और ईश्वर में अभेद है। वह ईश्वर का अंश है, अतः ईश्वर की भाँति ही सत्य, चेतना एवं आनंदमय है, ऐश्वर्य आदि की दृष्टि से दोनों में भेद है जीवों की संख्या अनंत है। जीव ईश्वर का अंश मात्र है। वह माया का स्वामी नहीं है। मुक्त होने पर वह ईश्वर का स्वरूप तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु ऐश्वर्य नहीं। उसका सारुप्य भोग–साम्य तक ही सीमित है। उसमें ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं आती।

भाग्य और पुरुषार्थ – इस संबंध में प्राचीनकाल से ही विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। कुछ विद्वान दैव को, कुछ स्वभाव को, कुछ पुरुषकार को, और कुछ इनके संयोग को फल प्राप्ति का कारण मानते हैं। ये मत तीन वर्गों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं – दैववाद या भाग्यवाद, पुरुष्कारवाद या पुरुषार्थवाद और संयोगवाद और समन्वयवाद। 'रामचरितमानस' में तीनों प्रकार की उक्तियाँ मिलती हैं। कहीं पुरुषार्थवाद की प्रतिष्ठा है, कहीं भाग्यवाद का उपस्थापन है, और कहीं समन्वयवाद की स्थापना है प्रश्न उठता है, तुलसी का सिद्धांत क्या है? उत्तर है–समन्वयवाद। वस्तुतः पौरुष ही प्रधान है, प्राक्तन (पूर्वदेहार्जित) पौरुष का नाम ही दैव या भाग्य है। जिस पौरुष के साथ फल के कार्य–कारण संबंध को हम मिला नहीं पाते, उसी को भाग्य कह दिया करते हैं। इस जन्म की सफलता में भी पूर्व जन्म का पौरुष सहायक होता है, सिद्धि का रथ पौरुष और भाग्य के दोनों पहियों पर चलता है। याज्ञवल्क्य आदि की भाँति तुलसी भी समन्वयवादी हैं –

पुरुषारथ पूरब करम परमेस्वर परधान।
तुलसी पैरत सरित ज्यों सबहि काज अनुमान।।

ईश्वर पौरुष एवं भाग्य का संचालक तथा नियामक है। इस सिद्धांत का मनोवैज्ञानिक कारण है। ईश्वर–बुद्धि से कर्म करने वाले जीव को पुरुषार्थ की सफलता पर अंहकार नहीं होता, उसकी असफलता पर कुंठा नहीं होती।

कर्म–ज्ञान भक्ति – जीवन की पूर्णता इन तीनों के समन्वय में है। वही साधना सिद्धिदायिनी होती है जो साधक की पूरी सत्ता के साथ की जाए। इसीलिए विभिन्न साधना–पद्धतियों में इन तीनों को स्थान दिया गया है। ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं। सत्कर्म के बिना चित्त निर्मल नहीं हो सकता और मलावृत चित्त में ज्ञान–भक्ति का उदय असम्भव है। समाज–व्यवस्था के लिए सदाचार अनिवार्य है। धर्ममय रथ से ही जीवन–सग्रांम में विजय मिल सकती है। ज्ञान–भक्ति से रहित कर्म मल–जनक और बंधन–कारक होता है। अतएवं तुलसी ने तीनों के समन्वय पर बल दिया है।

ज्ञान और भक्ति ही तत्वतः मुक्ति–साधन हैं। कर्म, वैराग्य, योग आदि इन साधनों के साधन हैं। सांख्य–योग और शंकर वेदांत में ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को श्रेष्ठ माना है तुलसी ने दोनों का समन्वय करते हुए विरति–विवेक–संयुक्त भक्ति, और ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ बतलाया है –

(1) **श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत विरति विवेक**

(2) **राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृति चारिउ उनघ उदारा।।**

चहुँ चतुर चहुँ नाम आधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पिश्रारा।।

भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने नवधा भक्तियों का समन्वय किया है। 'रामचरितमानस' के तृतीय सोपान में लक्ष्मण को भक्ति का उपदेश देते हुए राम ने 'भागवतपुराण' की नवधा भक्ति का निरूपण किया है। दोनों मान्य हैं। अधिकारी की योग्यता के अनुसार भक्ति का कोई भी प्रकार ग्रहणीय है।

भक्ति की श्रेष्ठता के तीन प्रमुख कारण हैं – मनोविज्ञान, अधिकारी की योग्यता और युगधर्म (1) मन स्वभावतः रागात्मक है। उसे आलंबन चाहिए। भक्ति रागात्मका वृति है। वह मानव–मन के अनुकूल और सहज–ग्राह्य है। (2) प्रत्येक व्यक्ति सभी साधनाओं के उपयुक्त नहीं है। उसकी शक्ति सीमित है। धन–साध्य कर्म–मार्ग और कष्ट–साध्य ज्ञानपंथ सबके वश की बात नहीं है भक्ति सर्वोपयोगी है। (3) कलियुग के अत्याचारी शासन की प्रतिकूल परिस्थितियों में धर्म–पालन और ज्ञान–साधना दुष्कर है। भक्ति ही श्रेयस्कर उपाय है। उनमें भी नाम–भक्ति अधिक फलप्रद और निरापद है। नाम–भक्ति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह निर्गुणियों और सगुण–भक्तों को समान रूप से मान्य है इसके द्वारा दोनों भक्ति–धाराओं का भी समन्वय हो जाता है –

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।

जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति – अद्वैतवादियों के अनुसार, आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर देहावसान के पूर्व ही आत्मा की जीवनमुक्ति हो जाती है। अधिकतर वैष्णव आचार्य जीवनमुक्ति नहीं मानते। विदेहमुक्ति के भी अनेक प्रकार बतलाये गये हैं –मुक्तिकोपनिषद्' में कहा गया है कि सालोक्य–मुक्ति नाम भक्तों को सारूप्यमुक्ति सांख्ययोगी भक्तों का, सामीप्यामुक्ति सेवाभिलाषी भक्तों का और सायुज्यमुक्ति अद्वैतवेदांती निर्गुणोपासकों का इष्ट है। 'रामचरितमानस' में समन्वयवादी तुलसी को जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति के उक्त चारों प्रकार मान्य हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। ज्ञान और भक्ति का उदय ही मनोमुक्ति है। शरीरांत के बाद मुक्तात्मा अपने भावानुसार चैतन्यमात्र स्वरूप से या परमात्मा में अभिन्न रूप से अथवा भगवान् के सदृश दिव्यगुणों से संपन्न होकर स्थित हो सकता है।

पं० गिरधर शर्मा, पं० विजयानंद त्रिपाठी आदि ने तुलसी को अद्वैतवादी माना है। पं० श्रीकांतशरण ने संपूर्ण तुलसी–साहित्य की विशिष्टाद्वैतपरक विशद व्याख्या की है। रसिक–संप्रदाय में तुलसी सखी–रूप में समादृत हैं। उपर्युक्त दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि तुलसी किसी दार्शनिक संप्रदाय के कठघरे में बंद नहीं किये जा सकते। एकाध आलोचक और संपादक इस मोह से आक्रांत हैं कि जो तुलसी को अद्वैतवादी (शंकरमतानुयायी) नहीं मानता। वह अद्वैत–वेदांत को समझता ही नहीं है। ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के स्वंयभू ठेकेदारों को लक्ष्य करके तुलसी ने 'रामचरितमानस' के शिव से कहलवाया था – जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना। उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध करने के लिए कुछ पंक्तियाँ नोच ली जाती हैं, और प्रतिकूल पड़ने वाले अंशों की अपेक्षा कर दी जाती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

बिनुपद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी। आदि
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान।।

दोहे के ऊपर की चौपाइयों मे 'श्वेताश्वरोपनिषद्' के अनुसार निर्गुण राम का निरूपण किया गया है। यह अद्वैतवाद के अनुकूल है। किंतु दोहा इसके विरुद्ध है, इसलिए छोड़ दिया जाता है। शंकराचार्य के मतानुसार निर्गुण ब्रह्म अवतार नहीं लेता, यह कार्य मायोपति सगुण ब्रह्म का है तुलसी दोनों में भेद नहीं मानते। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि जो निर्गुण है वही सगुण है, वही अवतार है। दूसरी उक्ति है –

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा।
यत्सत्वादमृषैब भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

दूसरी पंक्ति को लेकर अद्वैतवाद की घोषणा की जाती है, किन्तु श्लोक के पहले ही शब्द पर ध्यान नहीं दिया जाता। यन्माया का अर्थ है – जिसकी माया। शंकर के निर्गुण का अनुसरण करते हुए माया को राम की भावरूपा शक्ति मानते हैं। जगत् वस्तुतः रामरूप है। उसका दृश्यामान भिन्न रूप मृषा है।

इस प्रकार विज्ञान–दीप–प्रकरण के 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी' में प्रयुक्त अंश को 'अंश ईव' कहकर काम चला लिया जाता है। अविनाशी शब्द ध्यान देने योग्य है। वह जीव की सत्यता का द्योतक है। राम ने स्पष्ट कहा है, 'जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा'। वस्तुतः तुलसी का जीव अद्वैतवाद के जीव से बिल्कुल भिन्न है। अद्वैतवाद के अनुसार जीव असत्य है, वह चैतन्य का बुद्धिगत प्रतिबिंब मात्र है। इसके प्रतिकूल तुलसी के मतानुसार जीव 'अबिनासी सत चेतन घन आनंद रासी, है। यह ठीक है कि उन्होंने अद्वैतवाद से बहुत से विचार ग्रहण किये हैं, परन्तु 'रामचरितमानस' में अद्वैतविरोधी उक्तियाँ भी भरी पड़ी हैं। उनके जैसे एकनिष्ठ सगुणभक्त को अद्वैतवाद के शिकंजे में कसना असंगत है।

शैव शाक्त–वैष्णव– तुलसी के युग में ये तीन धार्मिक संप्रदाय प्रबल थे। उनमें परस्पर विरोध था। तुलसी ने समन्वय स्थापित किया। शिव, शक्ति (देवी, पार्वती) और राम या विष्णु की स्तुतियों में प्रायः एक–समान विशेषताएँ बतलायी गयी हैं। राम और सीता ने क्रमशः शिव और पार्वती की पूजा की है। शिव–पार्वती ने राम के प्रति उत्कट भक्तिभाव की व्यंजना की है। 'रामचरितमानास' के वक्ता–श्रोता के रूप में शिव–पार्वती की योजना समन्वय भावना से ही प्रेरित है। विनयपत्रिका की हरिशंकरी स्तुति में यह सिद्धांत प्रतिफलित हुआ है। हाँ यह समन्वय राम भक्ति के केंद्रबिंदु से हुआ है। शैवों के परमशिव शाक्तों की परमशक्ति और वैष्णवों के परमविष्णु उनके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। राम परम आराध्य हैं। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर राम, शिव और पार्वती से क्रमशः कहलाया गया है –

1. **संकर प्रिय मम द्रोही मम दास।**
   ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।।

2. **जहँ लगि साधन बेद बरखानी। सब कर फल हरि भगाति भवानी।।**

3. **नाथ कृपा मम गम संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा।**

वर्णाश्रमधर्म और मानवतावाद – तुलसी वर्णाश्रमधर्म के प्रबल समर्थक हैं। विभिन्न कृतियों में कलियुग का वर्णन करते समय उन्होंने उसके ह्रास पर खेद प्रकट किया है। धर्म–निरूपण के प्रसंगों में उसके पालन पर बल दिया है। परंतु उनकी दृष्टि संकुचित नहीं है। उसका लक्ष्य लोक–कल्याण है। अतः उन्होंने साधारण धर्मों को विशेष महत्व दिया है। राम रावण युद्ध के समय धर्ममय रथ के वर्णन में दोनों का सामंजस्य किया है। मानवतावादी दृष्टि से सत्य, परोपकार और अहिंसा को परम धर्म बतलाया है। सत्य मूल सब सुकृत सुहाए' 'धरमु न दूसरा समाना', 'श्रुति कह परम धरम उपकारा'', 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई', 'परम धरम श्रुतिबिदित अहिंसा' आदि।

ब्राह्मण और शूद्र – वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को समाज–शरीर का सिर और शूद्र को पैर कहा गया है। एक उच्चतम वर्ण है दूसरा निम्नतम। सभी वर्णों के गुण और कर्म नियत हैं समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए वर्ण–बंधन का पालन आवश्यक है। उसके अतिक्रमण से समाज की मर्यादा भंग होती है। समाज की व्यवस्था में वर्ण भेद स्वीकार करते हुए भी तुलसी ने भक्ति के क्षेत्र मे ब्राह्मण और शूद्र को समान स्थान दिया है। क्षत्रिय–श्रेष्ठ भरत और ब्राह्मण रत्न वसिष्ठ ने निम्न–वर्ण निषाद तथा केवट को आत्मविस्मृत होकर प्रेमपूर्वक गले लगायाा है –

1. **भेंटत भरतु ताहि अति प्रीति। लोक सिहाहिं प्रेम कै रीति।।**
   तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।।

2. **प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तैं दंड प्रनामू।**
   रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनू महि लुठत सनेह समेटा।।

व्यक्ति और समाज– मुक्ति और भक्ति व्यक्तिगत वस्तुएँ हैं। तुलसी का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है। परन्तु उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के प्रति व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य हैं। अपनी वृतियों के उदात्तीकरण के साथ ही उसे अपनी सात्विक–शीलता से समाज का भी उन्नयन करना चाहिए। तुलसी के सज्जन पात्र इसी प्रकार का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति और समाज, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय द्वारा तुलसी ने धर्म की सर्वतोमुख रक्षा का प्रयास किया है।

व्यक्ति और परिवार – गृहस्थाश्रम संपूर्ण समाज–व्यवस्था का आधार है। इसलिए व्यक्ति के निर्माण और कर्त्तव्य की दृष्टि से जीवन में परिवार का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, राम, भरत, लक्ष्मण, सीता आदि के माध्यम से तुलसी ने पारिवारिक जीवन का जो महान् आदर्श प्रस्तुत किया है वह सभी के लिए अनुकरणीय है। विभिन्न पात्रों का पारस्परिक संबंध, स्नेह और शील की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित है। मानस के लक्ष्मण और भरत

की 'भायप भगति' तो अप्रतिम है। तुलसी ने दोहावली में कहा है कि भरत से मिलकर सुग्रीव और विभीषण आत्मग्लानि से गड़ गये थे –

सघन चोर मग मुदित मन घनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव विभीषनहि भई भरत की भेंट।।
राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि।
तदपि विभीषन कीसपति तुलसी गरत गलानि।।

साधुमत और लोकमत – तुलसी की धर्म–भावना में इन दोनों का भी सामंजस्य पाया जाता है। सज्जनों के शील के अनुसार व्यक्तिगत धर्म–साधना 'साधुमत' है। व्यक्ति का सात्त्विकशील होना ही पर्याप्त नहीं है उसका सदाचरण लोक–अभीष्ट है उसका अनुसरण करते हुए राम ने अग्नि–परीक्षित सीता को निर्वासित किया, और साधुमत के अुनसार सीता तथा लक्ष्मण ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया है। काकभुशुंडि के गुरू ने साधुमत का आचरण करते हुए क्रोध नहीं किया, किंतु लोकमत की रक्षा के लिए शिख ने भुशुंडि को शाप देकर दंडित किया।

वेदशास्त्र और व्यवहार – तुलसी ने अपनी रचनाओं में वेद, पुराण आदि की आप्तता का बार बार हवाला दिया है। उनका धर्मशास्त्रीय निरूपण बुद्धि विलास नहीं है। उनके पात्र वेदशास्त्र के मत को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करके दोनों का समन्वय उपस्थित करते हैं। इसलिए संस्कारों का अनुष्ठान उन्होंने वैदिक और लौकिक रीतियों की समन्वित पद्धति से कराया है। उनकी कविता–सरिता लोक और वेदमत दोनों के बीच बहती है –

चली सुभग कविता सरिता सो। राम विमल जस जल भरिता सो।
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेदमत मंजुल कूला।

भोग और त्याग – त्यागपूर्ण भोग धर्मशील का आदर्श है। इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक यह कि अनासक्त भाव से कर्म के सुफल का भोग किया जाए। दूसरा यह कि सुख–भोग को अपने तक ही सीमित न रखकर दूसरों को भी उसका भागी और त्याग के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने अश्वमेध के पश्चात् संपत्ति द्विजों को बाँट दी। प्रतिनायक रावण ने तो मानो साम्यवाद के सिद्धांत को फलितार्थ किया है।

हमारे यहाँ दो प्रकार के मार्ग बतलाये गये – प्रवृति मार्ग और निवृति मार्ग। पहला गृहस्थ जीवन का द्योतक है और दूसरा सन्यास का। अनेक आचार्य सन्यास को मुक्ति या भक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं तुलसी समन्वयवादी हैं। उनके मतानुसार घर में रहते हुए भी अनासक्त भाव से व्यवहार करने पर भगवद्भक्ति की उपलब्धि हो जाती है –

घर कीन्है घर जात है घर छाड़े घर जाइ।
तुलसरी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाइ।।

रामचरितमानस के भरत ने इसी प्रकार की निष्काम भक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है।

राजा और प्रजा – किसी भी देश और समाज की सुख–समुद्धि के लिए राजा तथा प्रजा का समन्वित प्रयास अपेक्षित है। तुलसी के युग में पशु–बल के भरोसे शासन करने वाले राजा और बादशाह कर्त्तव्यच्युत हो गये थे, 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार प्रजा भी पाखंड–रत और पतित हो गयी। समाज की यह दुर्दशा खेदजनक थी। आदर्श राम–राज्य में तुलसी ने राजा और प्रजा के अभीष्ट समन्वय का विधान किया। राजभक्त प्रजा धर्म–निरत थी, और प्रजा–पालन–परायण राम ने नागरिकों को उचित गौरव दिया –

सुनहु सकल परजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी।।

नहिं अनीति नहि कुछ प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सुहाई।।

जो अनीति कछु भाषौं भाई तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।

राजतंत्र और जनतंत्र के समन्वय का यह निर्देश युग की परिसीमित पृष्ठभूमि में किया गया है।

संस्कृति–संगम – तुलसी साहित्य में पाँच भिन्न जातियों के पात्रों का चित्रण हुआ है। देव, दानव, नर, वानर और तिर्यक्। उनकी अपनी संस्कृति है। किसी समाज की सौंदर्यमूलक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और दार्शनिक प्रवृतियों का द्योतक 'संस्कृति' शब्द मानव के संबंध में ही प्रयुक्त होता है। वानरों या पक्षियों की चर्चा नहीं की जाती। परन्तु मानस के सुग्रीव और हनुमान अथवा काकभुशुंडि और गरुड़ साधारण वानर या पक्षी मात्र नहीं हैं। उनमें विवेकशीलता और भक्तिमता है। उनके संस्कार की संस्कृतियों का समन्वय करते हुए अंत में रामराज्य की स्थापना द्वारा मानव–संस्कृति की श्रेष्ठता दिखाकर मानवता की प्रतिष्ठा की है।

मानव–संस्कृति के भीतर ही समन्वय दृष्टिगोचर होता है। राजन्य–वर्ग, वन–पथ के जन साधारण और कोल–किरातों की जीवन–पद्धति में भिन्नता है। उसके अनुरूप उन्होंने आचरण किया है। तुलसी ने राम के संबंध से उनका समन्वय किया है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात है हिंदु संस्कृति के साथ मुस्लिम–संस्कृति का समन्वय। तुलसी संकुचित नहीं थे। उन्होंने उदारता के साथ काव्यधर्म का निर्वाह किया है। राम की सेवा मे प्रेषित 'विनयपत्रिका' का विधान मुगल–सम्राट् के पास भेजी जाने वाली अरजी की रीति पर किया गया है। **'उमरि दराज महराज तेरी चाहिए'** अथवा **भइ बड़ि भीर भूप दरबारा**' में दरबारी संस्कृति का प्रतिबिंब स्पष्ट है। तलवार आदि शस्त्रों के वर्णन तथा अरबी–फारसी–शब्दावली के प्रयोग में भी यह सांस्कृतिक समन्वय परिलक्ष्य है।

काव्य और मोक्षशास्त्र – समन्वय–साधक तुलसी की महत्तम उपलब्धि काव्य और मोक्ष शास्त्र के समन्वय में दिखायी देती है। काव्य के तीर्थराज में धर्म, दर्शन और भक्ति की यह त्रिवेणी अनुपमेय है। उसमें आनंद और मंगल का, स्वांत–सुख और लोकहित का, अद्‌भुत समन्वय है। तुलसी ने कवियों के काव्यरस और भक्तों के भक्तिरस में अभेद स्थापित कर दिया है। उनका 'रामचरितमानस' काव्य–रसिकों की दृष्टि से श्रेष्ठ महाकाव्य है, 'धर्म–बुद्धि' जनसाधारण का महनीय धर्मग्रन्थ है, और विषय–विमुख भगवद्‌भक्तों के लिए भक्ति–रस का अजस्र स्रोत है।

काव्य के मानदंड – भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के छः प्रमुख मानदंड निर्धारित किये गये हैं– रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य। 'रामचरितमानस' में इन सबका समन्वय है, सैद्धांतिक रूप में भी तथा प्रयोगात्मक रूप में भी। वह सभी काव्य कसौटियों पर खरा उतरता है।

भावपक्ष और कलापक्ष – काव्य–रचना की सफलता भाव–पक्ष और कला–पक्ष के समुचित समन्वय में है। भाव–पक्ष के निर्बल होने पर ग्रंथ मनोरंजक तमाशा बन जाता है, और कला–पक्ष के निर्बल होने पर वस्तु–भण्डार मात्र रह जाता है। तुलसी शक्ति–संपन्न कवि थे। उनकी प्रतिभा सारग्राहिणी थी। उन्होंने अपने युग में प्रचलित प्रमुख छंद–पद्धतियों और काव्यरूपों का सफल प्रयोग किया। 'रामचरितमानस' में महाकाव्य और पुराण का समन्वय अपने ढ़ंग का एक ही है। लोक–भाषा और संस्कृत का समन्वय भी अन्वेक्षणीय है। पंडित लोग लोक–भाषा के विरुद्ध थे, जन–कल्याण, जन–भाषा के माध्यम से ही संभव था। तुलसी ने प्रतिष्ठित जन–भाषा अवधी में मानस की रचना की, किन्तु संस्कृत–पदावली का प्रचुर व्यवहार किया। उन्होंने प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन शैली के सामंजस्य का निरंतर ध्यान रखा है। उनके काव्य में शब्द और अर्थ, भाव और भाषा, भाव और छंद, अलंकार और अलंकार्य का अपेक्षित समन्वय है।

21.4 सारांश

निष्कर्ष यह है कि 'रामचरितमानस' में काव्य, दर्शन, भक्ति और धर्म का अद्‌भुत समन्वय है। यह रस–मर्मज्ञों की दृष्टि में महाकाव्य है, भक्तों के लिए भक्ति–ग्रंथ है, और साधारण जनता का धर्मशास्त्र है। उसकी असाधारण सफलता, महत्ता और लोकप्रियता का बहुत–कुछ श्रेय उसकी समन्वय–भावना को है। तुलसी की संतुलित प्रतिभा से निर्मित कालजयी 'रामचतिरमानस' अपनी लालित्य–योजना और मंगल–विधान में अद्वितीय है।

21.5 प्रश्नावली

1) 'तुलसी लोक नायक कवि हैं' स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2) महाकवि तुलसीदास के 'समन्वयवाद' पर एक लेख लिखिये।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3) 'तुलसी का काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है, स्पष्ट कीजिए

_____

_____

_____

_____

_____

_____

21.6 पठनीय ग्रन्थसूची

1. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि –डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
2. तुलसी –उदयभानु सिंह
3. तुलसी रसायन – डा. भगीरथ मिश्र


~~~
~~~

तुलसीदास की दार्शनिकता

22.0 रूपरेखा

22.1 उद्देश्य

22.2 भूमिका

22.3 तुलसी का दर्शन

22.4 सारांश

22.5 प्रश्नावली

22.6 पठनीय ग्रन्थ सूची

22.1 उद्देश्य

तुलसी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी ने राम को परम आत्मा माना है । राम ही 'जीव' हो कर सभी प्राणियों मे व्याप्त हैं। ये राम निर्गुण ब्रह्म हैं और विश्व की समस्त चेतना का मूल स्रोत हैं। इसी राम को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए मनु सतरूपा ने तपस्या की। यही दशरथ – कौशल्या के पुत्र रूप में अवतरित हुए। 'रामचरितमानस' में जनक, लक्ष्मण, जामवंत, विभीषण और कागभुशुंडि राम का परिचय ब्रह्म के रूप में देते हैं। माया का स्वामी होने के कारण राम सगुण ब्रह्म भी हैं। इसीलिए जनक उन्हें निर्गुण कहते हुए भी 'गुनरासी' कहते हैं। तुलसी की दृष्टि में निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण सगुण हो जाता है।

22.2 भूमिका

दर्शन शब्द 'दृश' (देखना) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है 'जिस के द्वारा देखा जाए।' मन मे जिज्ञासा उठती है कि 'क्या देखा जाए ?' इसका समाधान करने से पहले यह विचार करना

आवश्यक है कि देखने के लिए जिज्ञासा उत्पन्न ही क्यों होती है। संसार के सभी जीवों के साथ सुख–दुख जुड़े हैं। सत्य यह है कि दुख किसी को प्रिय नहीं है। सभी दुखों से छुटकारा पाने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास तब तक चलता रहता है जब तक जीव सदा के लिए जन्म और मरण से मुक्त नहीं हो जाता। यह जीव का चरम लक्ष्य है, यही दर्शन शास्त्र का परम तत्व है। जिज्ञासु जब किसी ज्ञानी से पूछता है कि वह कौन सी वस्तु है जिसके देखने से अर्थात् पाने से हमेशा दुख से छुटकारा मिल सकता है ? तो उत्तर में ज्ञानी कहता है अरे! आत्मा को देखो। देखने का उपाय है श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन।

तुलसी के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण रूप को समझना सरल है। सगुण का रहस्य पूरा–पूरा ज्ञात नहीं होता। राम की सगुण लीला को समझ कर उसका आनन्द लेने वाले बुद्धिमान ही हुआ करते हैं। बुद्धिहीन उसे देख कर मोहमुग्ध हो जाते हैं। राम के प्रति मोह हमारे ब्रह्म, अज्ञान और मति की मलिनता के कारण होता है। राम सगुण लीलाएं नट की भावना को ले कर करते हैं। जो रूप वे धारण करते हैं। उससे वस्तुतः वे वही नहीं हो जाते। इस रहस्य को अज्ञानी लोग नहीं समझ पाते।

राम विष्णु के अवतार भी हैं। उन्होंने अपने भक्त उन द्वारपालों को मुक्त करने के लिए अवतार लिया है जो शापवश कुंभकरण और रावण हुए थे। नारद के शाप देने पर भी विष्णु ने राम होकर अवतार ग्रहण किया है।

तुलसी जहां एक ओर राम को विष्णु का अवतार बतलाते हैं वहीं दूसरी ओर उन्हें विष्णु से अलग बता कर विष्णु से श्रेष्ठ घोषित करते हैं, राम से भिन्न विष्णु राम का विवाह देखने के लिए जनकनगर पहुँचते हैं और उन्हें दूल्हे के वेश में देख कर मुग्ध हो जाते हैं। विष्णु ब्राह्मण वेश में अन्य देवताओं के साथ उनके विवाह में सम्मिलित होते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव राम की आज्ञा को मानने वाले हैं। राम का ही बल प्राप्त कर विष्णु संसार का पालन, ब्रह्मा उसका सर्जन तथा शिव उसका संहार करते हैं। लंका में पकड़े जाने पर हनुमान रावण से कहते हैं कि हजारों विष्णु भी राम के शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते। शक्ति में राम और विष्णु की कोई तुलना नहीं हो सकती।

तुलसी के अनुसार राम ने पहले भी वाराह, नृसिंह तथा वामन के रूप में अनेक अवतार धारण किए थे। अवतार धारण करने के विषय में शिव पार्वती से कहते हैं कि दुष्कर्मियों का नाश, सत्कर्मियों की रक्षा और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करना एक उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य यह है कि उनकी लीला का गान कर भक्त भवसागर से पार हो जाएं। उनका तीसरा उद्देश्य अपने भक्तों की भक्ति, उनके प्रेम और उनकी साधना को सफल करना है।

22.3 तुलसी का दर्शन

लक्ष्मण – भरत – शत्रुघ्न

राम का अवतार अंशों सहित हुआ है। लक्ष्मण – भरत – शत्रुघ्न राम के अंश हैं। लक्ष्मण सकल जगत के आधार, पृथ्वी धारण करने वाले शेष हैं। लक्ष्मण, राम के ही एक रूप हैं। राम की भांति अपरिवर्तनशील हैं। भरत विश्व का भरण–पोषण करने वाले हैं। शत्रुघ्न शत्रुसूदन हैं। वानरादि देवता हैं। युद्ध की समाप्ति पर इन्द्र की सुधावृष्टि

से मृत वानर जीवित हो उठते हैं, उसका कारण यही है कि वे देवताओं के अंश हैं। वानरादि सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। जब निर्गुण ब्रह्म सगुण के रूप में अवतार धारण करता है तब मोक्ष त्याग कर देवता 'लीला' का आनन्द लेने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

सीता

सीता वह 'आदि शक्ति' है जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है। वह ब्रह्म की माया और मूल प्रकृत्ति है जिससे जगत का उद्‌भव, उसकी स्थिति और उसका संहार हुआ करते हैं। राम की यह माया राम के साथ उसी तरह मिली हुई है जैसे जल के साथ लहर मिली होती है। इस लोक में राम (परम आत्मा) और सीता (मूल प्रकृति) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिए तुलसी इन दोनों की वंदना करते हैं।

सीता लक्ष्मी है। शेष जनक नगर की संपदा का वर्णन इसीलिए नहीं कर पाते हैं कि वहां लक्ष्मी माया नगरी सीता के रूप में निवास करती है। लक्ष्मी का मूल निवास स्थान क्षीर सागर है।

अन्यत्र तुलसी सीता को लक्ष्मी से भिन्न बतलाते हैं। सीता – राम के विवाह में वह विष्णु के साथ सम्मिलित होती है। दूल्हे राम को देख कर मुग्ध हो जाती है। तुलसी सीता को लक्ष्मी से श्रेष्ठ बतलाते हैं। सीता भी अपरिवर्तनशीला है। सीता लक्ष्मी तथा ब्राह्मणों द्वारा वंदित भी है।

माया

माया त्रिगुणात्मक है और गुणों की सहायता से ही वह विश्व की रचना करती है। आदि शक्ति सीता को ब्रह्म की मूल प्रकृति अर्थात् माया कहा गया है जो उद्‌भव, स्थिति और संहारकारिणी है। सारा विश्व इस माया के अधीन है। माया स्वयं निर्बल है। यह राम का बल प्राप्त कर के ही ब्रह्मांड की रचना करती है। यह स्वतः जड़ है। राम का आश्रय पा कर ही सत्य प्रतीत होती है। राम ही जड़ माया को गतिशील करते हैं; माया राम की चेरी है इसलिए राम मायापति हैं यह माया राम से डरा करती है और राम के इंगित पर नाचती है। माया भक्ति से भी डरती है।

माया के दो रूप हैं – (1) विद्या – जो ब्रह्म की शक्ति है और विश्व के निर्माण में सहायक है। यही माया जीव को भगवान से मिलाती है और इसी से जीव भव–बन्धन की बाधा से छूट जाता है। (2) अविद्या जिसके वश में संपूर्ण जीव रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, कामिनी आदि इसके सहायक हैं यह व्यक्ति को कई प्रकार की चिन्ताओं और तीन प्रकार की ऐषणाओं में फंसा कर पतन की ओर ले जाती है। जीव और ब्रह्म एक हैं। परन्तु अविद्या के कारण ही दोनों में अन्तर आ जाता है।

जगत

हमारी इंद्रियां और उनके विषय माया से उत्पन्न हैं। राम की प्रेरणा से माया पांच स्थूल भूतों– धरती, आकाश, वायु, जल, अग्नि को उत्पन्न करती है, इन्हीं से जगत उत्पन्न होता है। मंदोदरी राम के विश्व रूप का प्रतिपादन करते हुए जगत को राम का स्थूल शरीर कहती है।

संसार की सभी वस्तुएं माया – जनित होने के कारण मृषा हैं। राम के सत्य से प्रतिभासित हो कर वे सत्य प्रतीत होती हैं :–

'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सतय इव मोह सहाया।

रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।

जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि'।

जीव

जिसे माया, ईश्वर तथा अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है तुलसी की दृष्टि में वह जीव है। द्वन्द्व से उत्पन्न हर्ष – विषाद, ज्ञान – अज्ञान, अहंकार तथा अभिमान जीव के धर्म हैं।

जीव पंचभौतिक शरीर से भिन्न है। वह जन्म – मरण के बंधन में नहीं पड़ता। ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है वह वस्तुतः मायाजनित हो कर मिथ्या है। दोनों में अतंर ज्ञान – अज्ञान का है। जीव को अगर ज्ञान की प्राप्ति हो जाए तो ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं रहता। यह भेद हमारा भ्रम है जो आत्मानुभूति से नष्ट हो जाता है।

माया ने जीव को अज्ञान में डाल रखा है। राम की इस विषम माया के द्वारा बहकाया जा कर जीव काल, कर्म और गुणों से बंध कर संसार के चक्र में पड़ गया है। भव चक्र और उससे उत्पन्न सारे कष्टों से मुक्ति पाने का एक ही मार्ग है वह यह कि माया का त्याग किया जाए और परलोक (परमार्थ) के साधन में लगा जाए।

शरीर में सबसे अधिक दुर्लभ मानव शरीर है। इसके द्वारा जीव जैसी गति चाहता वैसी प्राप्त कर सकता है। शरीर को प्राप्त कर मनुष्य का केवल एक ही लक्ष्य होना चाहिए – परमार्थ – साधन। जो परमार्थ – साधन नहीं करता, उसको अंत में दुख उठाना पड़ता है।

अविद्या का बंधन कर्म द्वारा नहीं टूटता। कर्मों के द्वारा बंधन अधिक दृढ़ होता है। इसलिए बुद्धिमान और अनुभवी लोग शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को छोड़कर राम की भक्ति करते हैं कर्म के संस्कारों का जो मल चित्त पर लगा हुआ होता है वह कर्म से नहीं छूटता, उसके लिए प्रेम का जल चाहिए। भक्ति जीव को माया के पाश से मुक्त कर देती है। जो मुक्त हो चुके हैं वे भक्ति की आकांक्षा करते हैं भक्ति स्वतंत्र और निरपेक्ष है। ज्ञान और विज्ञान इसके अधीन हैं।

जीव के दुखों को नष्ट करने में ज्ञान और भक्ति दोनों समर्थ हैं। ज्ञान का मार्ग कठिन है क्योंकि उसमें मन को कोई आश्रय नहीं मिलता। ज्ञान मार्ग में जो वस्तु कठिनाइयां झेलने पर मिलती है वह भक्ति मार्ग में आसानी से प्राप्त हो जाती हैं। भक्ति–साधना में जीव को भगवान की कृपा का सहारा भी प्राप्त हो जाता है। माया और भक्ति दोनों ही भगवान की आश्रित हैं। किन्तु माया मात्र नर्तकी है। उसके सारे व्यापार भगवान को रिझाने के लिए होते हैं। भक्ति पर भगवान की अनुकूलता रहती है इसलिए माया भक्ति से डरा करती है।

तुलसी का विश्वास है कि राम से विमुख रह कर कितने भी यत्न क्यों न किए जाएं जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग, यज्ञ, पूजादि साधन अन्य युगों के लिए अनुकूल थे। कलयुग के लिए केवल भक्ति ही अनुकूल है।

जीव को मोहित करने वाली माया राम की दासी है। इसलिए राम – कृष्ण के बिना कोई उसके बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता। काम, क्रोध आदि का शमन भी केवल राम – कृपा से संभव है। राम की भक्ति भी राम की कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

22.4 सारांश

विद्वानों में इस बात को लेकर खींचातान रही है कि तुलसी पर किस दार्शनिक मत का प्रभाव रहा है। कोई उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध करता है तो कोई विशिष्ट अद्वैतवादी। तुलसी ने जीव और ब्रह्म को एक माना परन्तु रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म को अलग–अलग मानते हैं। शंकराचार्य की पद्धति पर तुलसी संसार को मिथ्या मानते हैं। और ब्रह्म के निर्गुण, निरुपाधि, अगम, अगोचर रूप को भी अपनाते हैं। जगत, जीव और माया का वर्णन भी शंकराचार्य के अनुसार करते हैं। रामानन्द की विशिष्टाद्वैत की पद्धति पर तुलसी ने जीव को ब्रह्म का अंश माना है और राम को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है। जीव का ब्रह्म से भेद भी स्वीकार किया है। तुलसी ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए शंकराचार्य के मायावाद और रामानुज, बल्लभाचार्य की भक्ति में समन्वय स्थापित किया है। वस्तुतः तुलसी के दार्शनिक विचारों पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव है। अध्यात्म रामायण के विचारों का तुलसी ने विकास भी किया है। जहां राम और सीता को वे क्रमशः विष्णु और लक्ष्मी से श्रेष्ठ तथा अलग सिद्ध करते हैं वहां उनकी मौलिकता भी दिखाई पड़ती है।

22.5 प्रश्नावली

1 तुलसी के काव्य के दार्शनिक पक्ष पर विचार कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2 'महाकवि तुलसीदास के दार्शनिक विचारों पर अपना मत दीजिये।

_____

_____

_____

_____

_____

3 तुलसी के काव्य में चित्रित 'ब्रह्म' और 'जगत' का स्वरुप स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

22.6 पठनीय ग्रन्थ सूची

1 तुलसीदास –आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

2 तुलसीकृत विनय पत्रिका का काव्य शास्त्रीय अध्ययन –पांडेय राम अवतार

3 तुलसी – एक अध्ययन –रामप्रसाद मिश्र


~~~
~~~

तुलसी की भक्ति भावना

23.0 रूपरेखा

23.1 उद्देश्य

23.2 भूमिका

23.3 तुलसीदास की भक्ति भावना

23.4 सारांश

23.5 प्रश्नावली

23.6 पठनीय ग्रन्थ सूची

23.1 उद्देश्य

– इस आलेख के माध्यम से आप जान सकेंगे कि तुलसीदास सगुणोपासक रामभक्त थे। उन्होंने युग धर्म को पहचाना और गुण की आवश्यकता के अनुसार रामभक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया।

– आप जान सकेंगे कि वे व्यक्तिगत मोक्ष के साथ ही लोक कल्याण के भी अभिलाषी थे।

– उन्होंने कहा है कि विश्व को एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो दीन–दुखियों की पुकार सुन सके, तत्काल पहुँच कर उनकी रक्षा कर सके, अधर्म का नाश करके धर्म की प्रतिष्ठा कर सके।

23.2 भूमिका

मानव जीवन में इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। इच्छा पूर्ति न होने से व्यक्ति में वैसी ही ग्रथियां उत्पन्न हो जाती हैं। इच्छा पूर्ति के लिए मानव उचित–अनुचित सभी साधन अपनाता है। जो सामग्री–संचय व्यक्ति के वश से बाहर होता है उसके लिए वह सामाजिक परिस्थितियों से संघर्ष करता है जिसका परिणाम दुःख होता है।

इच्छा पूर्ति होने पर प्राप्त होने वाला सुख स्थायी नहीं होता। उसकी इच्छा के बार–बार उत्पन्न होने या नई इच्छा के उत्पन्न होने पर पुनः संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सुख–दुख के ऊपर आनन्द की अवस्था है। आनन्द का संबंध ईश्वर से माना गया है ईश्वर के साथ रहना, उसी के गुण गाना, उससे हटकर अन्यत्र न जाना, उसी में तल्लीन, मग्न हो कर निर्द्वन्द्व विचरण करना आनन्द है। यही भक्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग का प्रवर्तन ईश्वर के अतिमानव तथा अतिप्राकृत गुणों के आधार पर हुआ है। मानव के सुख और सामर्थ्य की एक सीमा है। इस सीमा के पश्चात् समर्थ मानव भी अनुभव करता है कि उससे ऊपर कोई अज्ञात शक्ति है जो उसकी सफलता या असफलता को नियंत्रित करती है। वह शक्ति रहस्यात्मक है। इसकी शक्ति की जो खोज करते हैं वे साधक हैं और जो इससे प्रेम करते हैं वे भक्त हैं। भक्त का प्रेम मार्ग भक्ति कहलाता है।

23.3 तुलसी की भक्ति–भावना

भक्त के लक्षण – तुलसी के अनुसार भक्त का लक्षण है कि उसके अन्दर काम, क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह, और माया नहीं रहते। वह जाति–पाति, धन, धर्म, प्रशंसा, परिवार और सुखद ग्रह का त्याग करके केवल राम में अपने आप को केन्द्रित करता है। राम के अतिरिक्त वह किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं करता। भक्त पराई स्त्री को माता के समान और पराये धन को विष के समान समझता है। अवगुणों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करता है। सुख–दुख, निन्दा–स्तुति में वह सम रहता है। वह सबका प्रिय और हितकारी होता है।

राम का स्वरूप – तुलसी जिस ईश्वर के भक्त हैं वे राम हैं। तुलसी के राम निर्गुण भी हैं और सगुण भी; वे निराकार और साकार दोनों हैं। इन दोनों से पृथक् उनका तीसरा रूप भी है, जिसमें यह निखिल ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर समझा गया है। तीनों रूपों में वे अनन्त–सौंदर्य सम्पन्न हैं।

एक अनीह रूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।।
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेइ धरि देह चरित कृत नाना।।

राम सहज प्रकाश स्वरूप हैं। वे विश्व रूप हैं और लीलाएं करते हैं अथर्ववेद में प्रभु के विराट रूप का वर्णन है जिसमें पृथ्वी प्रभु का पैर है, अन्तरिक्ष उदर है, द्यौ मूर्धा है, सूर्य–चन्द्र नेत्र हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राणापान है, दिशाएं क्षेत्र हैं, भूत–भविष्य और वर्तमान का वही अधिष्ठाता है। मानस में राम के इसी विश्व रूप का वर्णन मन्दोदरी रावण से करती है।

विष्णु के अवतार रूप में राम चतुर्भुजधारी हैं। इसी रूप को देखकर कौशल्या विस्मित हो जाती है और राम को नर–शिशु के समान लीला करने के लिए कहती है। चतुर्भुज तथा नरावतारी दोनों रूपों में राम अनन्त छवि के धाम हैं। उनकी छवि को देखकर मुनिजन तृप्त नहीं होते। राम का अनन्त सौंदर्य उनके गुणों के कारण है। परमधाम में वे अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनूप, अनादि, अनीह, अनामय, अज, अलख अविनाशी, निराकार, निर्मोह, निरंजन, नित्य तथा एकरस हैं। जीव की दृष्टि से वे न्यायी, कर्मफलदाता, नाना योनियों में घुमाने वाले ज्ञानी तथा गुणधाम हैं।

जड जगत की दृष्टि से वे प्रकाशक, स्रष्टा, पालक, संहारक और सर्वव्यापक हैं। भक्त की दृष्टि से राम परम उदार, दानी, पतितपावन, उत्थापितों के स्थापक, शरणदाता और करुणा के कोष हैं। शरणागत की वे रक्षा करते हैं।

भक्ति के साधन – तुलसी ने भक्ति–प्राप्ति के नौ साधन माने हैं –

1. सत्संग 2. ज्ञान 3. कर्म 4. तप 5. वैराग्य 6. श्रद्धा–विश्वास 7. प्रेम
8. रामकृपा और 9. राम का आश्रय

1. **सत्संग –** भक्ति प्राप्ति का सबसे आसान साधन तुलसी की दृष्टि में सत्संग है। भक्त सन्तों के जीवन से प्रभावित होकर भगवान से प्रेम करने लगता है। सन्तों का साथ अनेक पुण्यों के प्रताप से सुलभ होता है। सबसे बड़ा पुण्य कर्म ब्राह्मणों की सेवा है क्योंकि ब्राह्मणों से साधक ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान से विवेक जागृत होता है। ज्ञान और वैराग्य भक्ति को दृढ़ करते हैं। सत्संग और भक्ति संसार के दुखों का शमन करते हैं। सत्संग मंगल का मूल है। सत्संग से साधक के संशय छिन्न– भिन्न हो जाते हैं। सत्संग में जो हरिकथा चलती है वह ज्ञान को उत्पन्न करने वाली और मोह को दूर करने वाली होती है।

2. **ज्ञान –** जब तक ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक जीव बन्धनों मे बंधा रहता है। विवेक का उदय होते ही मोह, भ्रम आदि भाग जाते हैं। तुलसी का कहना है कि भक्तिहीन ज्ञान राम को प्रिय नहीं है। इसलिए वे भक्ति को छोड़कर ज्ञान प्राप्ति के लिए परिश्रम करने वालों को जड़ कहते हैं।

3. **कर्म –** ज्ञान के अनुकूल कर्म होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति बहुत कम है; जो ज्ञान के आधार पर स्वयं आचरण करते हैं। विश्व में कर्म प्रधान है। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। कर्म और भाग्य एक दूसरे में मिले हुए हैं। तुलसी भक्ति विहीन कर्म को स्वीकार नहीं करते।

4. **तप –** तप से दुख और दोष मिट जाते हैं और मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। सारी सृष्टि तप के आधार पर स्थित है। रावण और कुंभकरण जैसे राक्षस भी तप के कारण शक्तिशाली बने थे, यह तप का प्रभाव है। तप के प्रभाव को छिपा कर रखना चाहिए, अन्यथा उसका फल नष्ट हो जाता है।

5. **वैराग्य –** तप के साथ वैराग्य का घनिष्ठ संबंध है। साधना के दो अंग हैं अभ्यास और वैराग्य। साधक प्रभु–प्रेम का अभ्यास करता है और माया, मोह, ममता से वैराग्य करता है। माया अत्यन्त बलवान है। वह बड़े–बड़े ज्ञानियों को भी फंसा लेती है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और अंहकार इसके पुत्र हैं। साधक को इन सबके साथ युद्ध करना पड़ता है। माया की इस सेना के साथ वैराग्य का युद्ध होता रहता है। सफलता उसी साधक को मिलती है जिस पर राम कृपा करते हैं।

6. **श्रद्धा–विश्वास –** तुलसी के अनुसार श्रद्धा धर्म का मूल है। उत्तरकाण्ड में तुलसी ने सात्विक श्रद्धा को ही फलवती माना है। विश्वास के साथ जो भक्त अन्य आशाओं को छोड़ देते हैं वे अनायास संसार–सागर को पार कर जाते हैं। विश्वास के बिना भक्ति नहीं होती और भक्ति के बिना भगवान द्रवित नहीं होते।

7. **प्रेम –** जिस साधन से राम द्रवित होते हैं। वह साधन है प्रेम। राम न हमारी विधा को देखते हैं, न कुल को, न जाति को, उनकी दृष्टि आचरण पर भी नहीं जाती, उन्हें तो केवल भक्त का प्रेम प्रिय है। योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि राम को प्राप्त नहीं करा सकते। ये साधन अवश्य हैं, पर वह सोपान जिस पर चढ़कर भगवान के दर्शन होते हैं वह प्रेम ही है।

8. **राम–कृपा –** तुलसी का कहना है सद्‌गुण रूपी साधनों द्वारा भक्ति सुलभ हो जाती है, पर साधनों के सम्पादन में जो कष्ट होता है वह भगवतकृपा से ही दूर होता है। माया–मोह में ग्रसित जीव राम–कृपा से निस्तार पाता है।

9. **राम का आश्रय –** तुलसी के अनुसार संसार स्वप्न के समान मिथ्या है केवल भगवान ही सत्य है। संसार की वस्तुएं स्थायी नहीं हैं वे हमेशा साथ नहीं रह सकतीं। इसलिए साधक ऐसी शक्ति की शरण में जाना चाहता है जो शाश्वत, सर्वशक्तिमान और दयालु है। प्रभु करुणा के स्वरूप हैं इसलिए साधक उन्हीं के आश्रय में रहना चाहता है। तुलसी राम को ही अपना जनक, जननी, गुरू, पति, बन्धु तथा हितकारी समझते हैं।

उपर्युक्त साधनों से सम्पन्न भक्त को काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव से उत्पन्न दुख भी दुखी नहीं कर सकते। प्रभु कृपा से उसकी सभी कामनाएं पूर्ण होती रहेंगी।

भक्ति के प्रकार

1. **भाव भक्ति (प्रेमाभक्ति) –** भक्ति के लिए–तुलसी को यह सिद्धांत मान्य है। मोक्ष द्वारा प्राप्त सुख अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। इसलिए मोक्ष को न चाह कर भक्ति–भाव में ही लीन रहना चाहते हैं। इसी भाव–भक्ति का दूसरा नाम प्रेमाभक्ति है।

प्रेमाभक्ति में न तो योग करना पड़ता है न यज्ञ, न जप–तप और न उपवास। आवश्यकता केवल सरल स्वभाव और जो मिले उसी में संतुष्ट रहने की है। प्रेम के दो पक्ष हैं : प्रभु भक्त से प्रेम करे या भक्त प्रभु से प्रेम करे। तुलसी के हाथ में दूसरा पक्ष है, राम मेरे हैं और मैं राम का हूँ वह विश्वास ही तुलसी की संपत्ति है।

लोक में प्रेम के अनेक रूपों में से तुलसीदास दास के रूप को स्वीकार करते हैं। राम उनका मालिक है और वे राम के दास हैं। तुलसी ने राम के बाल रूप की उपासना का वर्णन भी किया है।

2. **अनन्य भक्ति –** तुलसी राम का अनन्य साधक है। वह राम की जगह किसी अन्य देव को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। राम समदर्शी हैं फिर भी उन्हें अनन्य गति वाला सेवक ही प्रिय है। तुलसी चातक हैं जिस की दृष्टि राम रूपी मेघ की ओर लगी रहती है।

3. **प्रेम का सातत्य –** तुलसी की सम्मति में चातक स्वाति नक्षत्र में भी जल नहीं पीता। प्रेम रूपी प्यार का बढ़ते रहना ही उसे अच्छा लगता है। प्रेम निरन्तर बना रहे, इसके लिए प्रेमी के सामने प्रिय का सदैव रहना आवश्यक है। प्रेम को स्थिरता देने के लिए चातक की तरह सदैव विरह का अनुभव करते रहना आवश्यक है।

नवधा भक्ति – तुलसी के काव्य में नवधा भक्ति के दो रूप मिलते हैं। एक रूप 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित रूप के अनुसार है। दूसरा रूप मानस के अरण्य कांड में है जो 'अध्यात्मरामायण' से मिलता जुलता है।

'रामचरितमानस' में राम शबरी से कहते हैं कि भक्ति विहीन नर बिना जल वाले बादल के समान होता है। वे शबरी को नवधा भक्ति मन में धारण करने के लिए कहते हैं। राम के अनुसार – 1. संतों का संसर्ग, 2. हरिकथा में अनुराग, 3. गुरुसेवा, 4. हरिगुणगान, 5. दृढ़विश्वासपूर्वक राम नाम का जाप 6. दम, शील और विविध प्रकार के कर्मों से वैराग्य, 7. संसार को राममय देखना और संतों को राम से भी अधिक समझना 8. जो कुछ मिले उसी में संतोष करना और पर दोष से पृथक रहना 9. निष्कपट होकर सबसे सरल व्यवहार करना और राम के भरोसे रहकर हृदय में हर्ष तथा दैन्य का अनुभव न करना नवधाभक्ति है। इन नौ में से यदि एक भी किसी के पास है तो वह राम का प्रेमपात्र है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार–श्रवण, कीर्तन, जप, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और आत्मनिवेदन नवधा भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। नवधा भक्ति के इन रूपों के उदाहरण मानस में मिल जाते हैं।

श्रवण – जिस राम कथा का वर्णन मुनियों ने नाना प्रकार से किया है उसे बार–बार सुनना चाहिए। जो एक बार कथा सुन कर संतुष्ट हो जाता है उसने राम नाम के रस को विशेष रूप से जाना नहीं है। जो भवसागर से पार जाना चाहते हैं। राम कथा उनके लिए दृढ़ नाव के समान है।

कीर्तन – यज्ञ और ज्ञान कलियुग के योग्य नहीं है। कलयुग में राम के गुणों का गायन ही एक आधार है।

जप – राम नाम का जप भव–बन्धन को काटने वाला है। जाप के समय शरीर पुलकित हो जाता है और प्रेम के कारण नेत्रों से अश्रु बहने लगते हैं।

स्मरण – जो व्यक्ति आदर पूर्वक राम का स्मरण करते हैं। वे भव–सागर से पार हो जाते हैं चाहे वे पापी ही क्यों न हों।

पादसेवन – तुलसी का प्रण है कि वह राम के चरण–कमलों को देखते हुए जीवित रहेगा और चरणों की सेवा करेगा।

अर्चन – तुलसी राम का परिवार सहित पूजन करता है। वह राम को भोजन का भोग लगाएगा और वस्त्र और आभूषणों से राम को अलंकृत करेगा।

वन्दन – तुलसी राम और गुरू के चरणों को नमन करता है और राम के बाल रूप की वन्दना करता है।

दास्य – तुलसी अपने को राम का सेवक मानते हैं और कहते हैं सेवक–सेव्य भाव के बिना भवसागर पार नहीं किया जा सकता।

आत्मनिवेदन – 'विनय पत्रिका' के पद आत्मनिवेदन से भरे पड़े हैं। तुलसी अपने दोषों को गिना कर उन्हें हटाने के लिए राम से विनय करते हैं। तुलसी की भक्ति में विनय की सातों भूमिकाएं–दैव्य, मानमर्षता भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा–दृष्टिगोचर होती है।

एकादश आसक्तियां – नारदभक्तिसूत्र में जिन ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख है उनमें से पांच गुणहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यसक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति –ऊपर वर्णित नवधा भक्ति में आ जाती हैं। शेष आसक्तियों के उदाहरण निम्न हैं –

सख्यासक्ति – भक्तों की ओर से तो नहीं, राम की ओर से यह भाव मानस में व्यक्त हुआ है। उत्तरकाण्ड में विभीषण, सुग्रीव, नल–नील, हनुमान, जाम्बवान, अंगद आदि का परिचय गुरु वसिष्ठ से राम सखा के रूप में कराते हैं।

रूपासक्ति – राम का मुख कमल के समान है जिस पर मुनियों के भ्रमरों रूपी लोचन रस पान करते हैं। मनु सतरूपा राम की छवि को एकटक देखते रह जाते हैं।

वात्सल्यासक्ति – कौशल्या राम को कभी गोद में लेकर, कभी पालने में लिटा कर 'प्यारे ललना' कहकर दुलार करती है।

कान्तासक्ति – मृग, पक्षी और वृक्षों को देखने के बहाने सीता जी बार–बार घूम जाती हैं और राम को देख कर उनका प्रेम बढ़ता ही जाता है।

तन्मयतासक्ति – अशोकवाटिका में राम के चरणों मे लीन रहते हुए रात्रि के चारों प्रहर सीता बिता देती है। वह सदैव राम के गुणों का स्मरण करती रहती है।

परमविरहासक्ति – सीता कहती है कि मन, वचन और कर्म से राम के चरणों में उसका प्रेम है फिर किस अपराध के कारण राम ने उसे त्याग दिया है।

शरणागत–वत्सलता – तुलसी ने शरणागत–वत्सलता को विशेष महत्व दिया है। तुलसी ने लौकिक शरणागति को भक्ति की शरणागति से अलग माना है। भक्त पापी या दुष्ट हृदय लेकर भगवान की शरण में आ ही नहीं सकता। भगवान की शरण में आकर जब वह आर्त्त वाणी से पुकारता है तो राम उसे अपनाकर साधु बना देते हैं।

तुलसी के काव्य में शरणागति के छः प्रकार हैं। जिन्हें प्रपत्तिमार्ग कहा जाता है। ये छः प्रकार हैं अनुकूल, संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्ववरण, रक्षा का विश्वास, कार्पण्य और आत्मनिक्षेप।

23.4 सारांश

तुलसी की भक्ति में विनय, प्रेम, आसक्ति और शरणागति की प्रधानता है। वे अपना सारा दायित्व राम पर डाल देते हैं। राम की भक्ति राम कृपा के बिना प्राप्त नहीं होती । तुलसी का एकमात्र उद्देश्य राम की भक्ति प्राप्त

करना है। भक्ति को छोड़कर वे मुक्ति भी प्राप्त नहीं करना चाहते।वे लोक दर्शी थे, उन्होंने व्यक्ति –कल्याण के साथ लोक–कल्याण करने वाले भक्ति मार्ग का उपस्थापन किया। उन्होंने लोक धर्म –विरोधी भक्ति पद्धतियों का खरेपन के साथ विरोध किया।

23.5 प्रश्नावली

1. तुलसी की भक्ति का स्वरुप स्पष्ट कीजिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

2. भक्ति भावना की दृष्टि से विनय पत्रिका का विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

23.6 पठनीय ग्रन्थ सूची

1 तुलसी साहित्य सुधा – भगीरथी मिश्रा

2 तुलसीदास –निराला

3. तुलसी का मानवतावादी दृष्टिकोण– डॉ. राम प्रसाद मिश्र

4. तुलसी– संपादक –उदयभानु सिंह


~~~
~~~

तुलसी का काव्य सौष्ठव

24.0 रूपरेखा

24.1 उद्देश्य

24.2 भूमिका

24.3 तुलसीदास का काव्य सौष्ठव

24.4 सारांश

24.5 प्रश्नावली

24.6 पठनीय संदर्भ ग्रंथ

24.1 उदेश्य

– इस आलेख के माध्यम से आप जान सकेंगे कि तुलसी दास भक्ति के क्षेत्र में जितने महान थे उतने ही कविता के क्षेत्र में भी। उनकी कविता उनकी भक्ति का ही रुप है

– आप जान सकेंगे कि गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रज भाषा और अवधी भाषा दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्णरूप से निर्वाह किया। भाषा शैथिल्य तो उनकी रचनाओं में कहीं मिलता ही नहीं है। प्रत्येक शब्द पूर्ण भाव व्यंजक होकर अपने अस्तित्व की सप्रयोजनता को प्रकट करता है। साथ में आप यह भी जान सकेंगे कि विनयपत्रिका में इन्होंने गीत–पद्धति का अनुसरण किया है।

24.2 भूमिका

गोस्वामी तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। उन्होंने 'स्वांतः सुखाय' राम भक्त के उद्‌गार व्यक्त किये थे। भक्ति के गम्भीर सागर में आप्लावित होते हुए भी उनका काव्य अपने युग से सर्वथा असंपृक्त नहीं है और हो भी नहीं

सकता था, क्योंकि 'सीता राम मय सब जग जानी' की अनुभूति करने वाला भक्त जीवन और जगत की उपेक्षा कैसे कर सकता था? तुलसी का समस्त काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। तुलसी के काव्य में भाव पक्ष एवं कला पक्ष दोनों ही उत्कृष्ट हैं। तुलसी के काव्य–सौष्ठव को समझने के लिए उनके साहित्य के भाव पक्ष एवं कला पक्ष की विशेषताओं का अध्ययन करना होगा।

24.3 तुलसी का काव्य सौष्ठव

भाव पक्ष की विशेषताएं :–

1. **भक्ति–भावना का विवेचन :–** हिन्दी–साहित्य के मध्य–युग में भक्ति–भगीरथी की जो अनेक धाराएं प्रवाहित होकर जन–मन की क्लांति को मिटाकर शान्ति में अवगाहन करा रही थीं , उनमें सबसे गहन गम्भीर धारा तुलसी की थी। उन्होंने लोक–संग्रह एवं जन–मंगल विधायन के लिए सौन्दर्य– शील शक्ति समन्वित घनश्याम राम के रूप में अवतरित ब्रह्मा के चरणों में चातक सदृश अपने हृदय को समर्पित कर दिया था–

एकभरोसो एक बल एक आस विस्वास।

एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।

राम चाहे ब्रह्मा हैं, चाहे मानव, प्रत्येक दशा में तुलसी के वे ही आराध्य हैं। लौकिक एवं राजा राम की राजकीय मर्यादा के परिपालनार्थ 'विनयपत्रिका' में गणेश, शिव, देवी, सूर्य आदि देवताओं की स्तुतियां करते हुए भी उन्होंने सभी से राम–भक्ति की ही याचना की है।

तुलसी दास्य– भाव की भक्ति को ही भव–सागर तरने के लिए आवश्यक समझते हैं। अन्य प्रकार की भक्ति में 'अहम्' के उदय की आशंका रहती है और जहां अहम् आया कि भक्त अपने स्थान से च्युत हुआ। अतएव दास्य भक्ति ही स्पृहणीय है –

'सेवक सेव्य भाव बिनु

भव न तरिअ उरगारि।।'

दार्शनिक भावना :– तुलसी की दार्शनिक भावना वस्तुतः समन्वयात्मक ही है। उसे समझने के लिए उनके ब्रह्मा, माया, जीव, जगत, मोक्ष एवं साधना संबंधी विचारों का अनुशीलन आवश्यक है।

ब्रहमा :– तुलसी के राम दाशरथ होते हुए भी परब्रह्मा हैं। वे व्यापक, अनीह, अज, निर्गुण, अविनाशी अद्वैत, अनादि, अनन्त, सच्चिदानंद हैं। वहीं निर्गुण, निराकार, नाम रूप हीन ब्रह्मा ही भक्त के लिए नाना प्रकार के अनूप चरित्र करते हैं।

माया :– ब्रह्मा अपनी जिस शक्ति से सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करता है, वही माया है। माया के दो रूप हैं विद्या माया और अविद्या माया। माया जब जीव के अनुकूल हो जाती है तो ब्रह्मा की साक्षात्कार साधना में सहायता प्रदान करती है। तुलसी भी इसीलिए माता जानकी से प्रार्थना करते हैं :–

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरि हू सुधि द्यारवी कछु करुण कथा चलाइ।।

इसके अतिरिक्त माया का दूसरा स्वरूप भी है, जिसका परिचय देते हुए राम लक्ष्मण से कहते हैं :–

मैं अरु मोर तोर ते माया,
जेहि बस कीन्है जीव निकाया।।

अविद्या माया का प्रयोग तुलसी ने छल, कपट आदि का रूप धारण करने के लिए किया है।

जीव :– गोस्वामी जी ने जीव को ईश्वर का अंश मानकर उसे उन्हीं के गुणों से युक्त बताते हुए कहा है।

ईश्वर अंश जीव अविनासी,
चेतन अमल सहज सुखरासी।

समन्वय–साधना :– तुलसी के अवतरण के समय में देश में मुगलों का साम्राज्य था। सुलतानी शासन से त्रस्त हिन्दू जनता मुगलों की कथित उदार नीति, जो साम्राज्य लिप्सा से अनुप्राणित थी, के द्वारा भी वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं कर पा रही थी, क्योंकि उस पर राज्य का अप्रत्यक्ष अंकुश विद्यमान था। धार्मिक क्षेत्र में तांत्रिंको, वज्रयानी सिद्धों और गोरखपंथी साधुओं ने अपनी अद्भुत करामातों से जनता को विमोहित कर रखा था, इसलिए भक्ति का स्वस्थ स्वरूप विलुप्त हो गया था। निर्गुण और सगुण, ज्ञान और भक्ति का विरोध चल रहा था। शैव–शाक्त–वैष्णव परस्पर द्वन्द्व–लीन दिखाई पड़ते थे। दान के क्षेत्र में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि विभिन्न वादों का संघर्ष हो रहा था। सामाजिक जीवन वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना के कारण अव्यवस्थित हो गया था तथा पारिवारिक जीवन को व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ने विशृंखल कर दिया था। तुलसी की अन्तरात्मा देश की इस विषम अवस्था को देखकर सिहर उठी। उन्होंने 'सुरसरि सम सब कर हित' करने वाली वाणी से इस विषमता को मिटाकर संतुलित समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया तथा 'रामचरित' के माध्यम से जनता के हृदय को छूकर प्रेम और विश्वास की सरस धारा प्रवाहित की। उन्होंने समन्वय की जो साधना की, उसमें विचार तत्त्व की गहनता, भावना की मार्मिकता तथा विश्वास की दृढ़ता की त्रिवेणी का संगम दृष्टिगत होता है।

सन्त महिमा :– राम नाम के प्रसंग में तुलसी ने प्रण्यात्मक साधुओं के गौरव–वर्णन पर भी बारम्बार बल दिया है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शेषनाग आदि के द्वारा सन्त–महिमा को अनिर्वचनीय जताकर उन्होंने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि कविगण इस ओर प्रवृत्त तो होते हैं, किन्तु जिस प्रकार मणियों के गुणों का उल्लेख शकविक्रेता नहीं कर सकते, उसी प्रकार सन्तों की गुणावली एवं भक्ति भावना को शब्दबद्ध करना सरल नहीं है।

"विधि हरि हर कबि कोबिद बानी,
कहत साधु महिमा सकुचानी।
सो मो मन कहि जात न कैसे,
साक बनिक मनि गुण गन जैसे।"

प्रकृत्ति चित्रण :– तुलसी ने प्रकृत्ति और अन्य लौकिक दृश्यों को भी अवसर विशेष पर अनिर्वचनीय कहा है। उदाहरणस्वरूप बनवासी राम के पम्पा सरोवर के तट पर पहुँचने और वहाँ के प्रकृति–सौंदय का उल्लेख करने के अनन्तर कवि ने यह कहा है कि सरोवर के तटवर्ती पक्षियों की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता 'चक्रवाक बक खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई।' यहां प्राकृतिक सुषमा के प्रति कवि का सम्मोहन आशातीत है। चित्रकूट–शोभा के विषय में ये उक्तियां भी इसी प्रकार की हैं:

अ) कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन।

आ) चित्रकूट कानन छवि को कबि बरनै पार।

इन पंक्तियों में प्रकृति के प्रति कवि के मुग्ध होने और भावों के शब्दों में न बंध पाने की व्यंजना निश्चय ही विद्यमान है। वस्तुतः दृश्यविशेष के वर्णन में कवि की अक्षमता का रहस्य यह है कि वर्ण्यमान् वस्तु के अभिधानमात्र से संतुष्ट न होकर वह सदृश्य के प्रत्यय के लिए अपने कथन में विशिष्टता लाना चाहता है। इस वैशिष्टय के लिए अलंकार, विशेषण, प्रतीक आदि अभिव्यंजना–धर्मों का आश्रय न लेकर वह सहृदय की अर्थ–ग्रहण शक्ति को ही पर्याप्त मानता है।

राम का जो जीवन तुलसीदास ने चित्रित किया है उसका अधिकांश भाग प्रकृत्ति की रंगभूमि में ही व्यतीत हुआ है। चित्रकूट का वह वर्णन देखिए :

जलजुत बिमल सिलनि झलकत
नभ बन प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग रचना विचित्र
बिलसति विराट अंग अंग।।

कवि ने प्रकृत्ति के अप्रस्तुतों से प्रस्तुतों को सजाया संवारा है, सौन्दर्य–वर्णन के संदर्भ में अंग–प्रत्यंग के लिए उपमानों का चयन प्रायः प्रकृति से ही किया है।

कवि–गण प्रायः उद्दीपन के रूप में भी प्रकृत्ति का वर्णन करते रहे हैं। प्रकृत्ति के जो दृश्य संयोग के समय आनन्ददायक होते हैं, वे ही वियोग के समय विषादजनक बन जाते हैं। तुलसी ने भी प्रकृत्ति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया है। राम और सीता के प्रथम मिलन को कवि ने जिस वातावरण में चित्रित किया है, वह तदनुकूल एवं उद्दीपक हैं –

भूप बागु बर देखेउ जाई।
जहं बसन्त रितु रही लोभाई।।
लागे बिटप मनोहर नाना।
बरन बरन बर बेलि बिताना।।

संयोग के साथ–साथ तुलसी ने राम–सीता और गोपियों के संयोग के साथ–साथ तुलसी ने राम–सीता और गोपियों के विरह वर्णन में प्रकृति के उद्दीपक रूप का चित्रण भी किया है।

तुलसी ने प्रकृत्ति के सभी अंगों–सूर्योदय, चन्द्रोदय, संध्या, रात्रि, वन, पर्वत, समुद्र, सरिता, सरोवर इत्यादि सभी का वर्णन किया है।

काव्य पक्ष की विशेषताएं

1. **काव्य भाषा :–** कवि के भाव–संप्रेषण के लिए भाषा अनिवार्य माध्यम होती है और प्रायः सभी कवियों का अपना भाषादर्श होता है। तुलसी के युग में काव्य–भाषा के रूप में ब्रज और अवधी भाषाएं प्रचलित थीं। तुलसी के काव्य में ब्रज और अवधी के विविध स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' और 'विनय पत्रिका' का विनय भाग विशुद्ध परिष्कृत ब्रजभाषा में है तो 'कवितावली' में सामान्य ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। 'रामलला नहछू' की भाषा ग्रामीण अवधी है तो 'पार्वती मंगल' और –जानकी मंगल' की भाषा ठेठ अवधी और 'रामचरितमानस' की भाषा विशुद्ध साहित्यिक अवधी है।

इसी तरह तुलसी की कृतियों में प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित शब्दावली का प्रयोग भी मिलता है। मुहावरे और लोकोक्तियों में भाषा की प्रबल शक्ति होती है, जिनके द्वारा कवि मार्मिक अर्थ की व्यंजना करता है। तुलसी ने भी इनका प्रयोग कहीं अप्रस्तुत के रूप में, कहीं अर्थ को तीव्र करने के लिए और कहीं कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए किया है। राम की भक्ति के बिना मनुष्य की जगत में कितनी उपेक्षापूर्ण स्थिति हो जाती है। इसकी व्यंजना कवि ने इस कौशल से की है।

तुलसी बनी है राम राबरे बनाए ना तौ,
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को।

इसी कारण राम के प्रति वे अनन्य भक्ति रखते हैं उन्हें राम केवल राम ही दिखाई देते हैं, अन्य कुछ नहीं। अपने इस भाव को उन्होंने इस प्रकार व्यंजित किया है :–

मोहि तो सावन के अंधहि
ज्यों सूझत रंग हरौ।

लोकोक्तियों के प्रयोग से भी तुलसी ने अपने काव्य को शक्ति प्रदान की है। राम धनुष चढ़ाने के लिए आगे बढ़ते हैं, वे देखते हैं कि सीता की आकुलता बढ़कर चरम सीमा पर पहुंच गई है, अब बिलम्ब करने से पश्चाताप ही हाथ लगेगा। उनकी इस मनोदशा को कहावत द्वारा मूर्त रूप देते हुए तुलसी कहते :–

तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा।
मुए करइ का सुधा तडागा।।

विविध–शब्द–शक्तियों का प्रयोग

भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है, शब्द की अर्थ–शक्ति का ज्ञान। एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द होते हैं, कहां किस शब्द से अभिप्रेत अर्थ की सटीक व्यंजना होगी, इसका जिस कवि को ज्ञान होता है, वही भाषा के प्रयोग में सफल होता है। शब्दों के अर्थों में जो सूक्ष्म अन्तर होता है, उसे तुलसी भली–भांति समझते हैं। इसीलिए उन्होंने उनका उपयुक्त प्रयोग किया है।

तुलसी की भाषा में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में मिलता है। सरल एवं सुबोध रचनाओं में तो अभिधा का ही प्राधान्य है। किन्तु मुहावरे एवं लोकोक्तियों के प्रयोग में तुलसी ने लक्षणा शक्ति का सफल प्रयोग किया है, जिससे अर्थ गाम्भीर्य के साथ–साथ उक्ति–वैचित्र्य की भी सृष्टि हुई है। जैसे – करत गगन को गेंडुआ, जारिकै हीये। आदि पदों में लक्षणा का प्रयोग किया है। इसके साथ ही तुलसी ने व्यंजना शक्ति का प्रयोग भी अत्याधिक मात्रा में किया है। जैसे –जेई बाटिका बसति तहँ खग–मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।

अप्रस्तुत–योजना एवं अलंकार–विधान

अपने काव्य को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भावों के त्वरित संप्रेषण के हेतु, शैली में सौन्दर्य लाने के लिए तथा काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने के लिए कविगण अप्रस्तुत योजना करते हैं। तुलसी का ज्ञान–क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था, उनकी कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रखर थी, उनका पाण्डित्य प्रकाण्ड था तथा मनीषा उर्वर थी, इसीलिए उनके अप्रस्तुत विधान में वैविध्य दृष्टिगत होता है। उन्होंने परम्परागत उपमानों को अपनाते हुए ही उनमें नवीनता का समावेश किया है तथा अनेक नवीन अप्रस्तुतों को भी अपनाया है उनके अप्रस्तुतों में इतना वैविध्य तथा इतनी अनेकरूपत्ता है कि जिसका वर्गीकरण करना भी जटिल है।

वनस्पतियों तथा फल–फूलों के तरुओं में उन्होंने कमल, शिरीष, कदम्ब, चम्पक, तमाल, तुलसी, पीपल, रसाल, सुपारी इत्यादि अनेक वृक्षों के अतिरिक्त वन–वाटिका, लता–कुंज प्रभृति को अप्रस्तुत के रूप में अपनाकर मार्मिक भाव व्यंजना की है। जब शिव धनुष को उठाने में कोई समर्थ नहीं हो सका और राम उसकी और बढ़े तो धनुष की विशालता एवं गुरुता तथा राम की किशोरावस्था जनित कोमलता को देखकर जनक–समाज चिन्ता ग्रस्त हो गया।

एक उदासीनता और विपन्नता का वातावरण छा गया। उसी समय अत्यन्त लाघव से राम ने धनुर्भंग कर दिया। रानियों को जो उल्लास हुआ, उसकी व्यंजना उत्प्रेक्षा के द्वारा कितनी सुन्दर हुई है।

सखिन सहित हरषी अति रानी, सूखत धान परा जनु पानी।।

सौन्दर्य वर्णन के लिए कमल का उपमान तो अत्यन्त सामान्य और प्रख्यात है। इसलिए नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणै' जैसी पंक्तियों से सौन्दर्य की कोई व्यंजना नहीं होती, इसीलिए तुलसी ने व्यभितिरेक से उसे अयोग्य घोषित कर दिया है :–

सिय मुख सरद–कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निस दिन यह बिगसाइ।।

इसी तरह रूपक, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा अनेक अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत किए हैं।

अलंकार विधान :– अप्रस्तुत योजना अलंकार विधान के अर्न्तगत ही समाहित है किन्तु काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले जितने धर्म हैं वे सभी अलंकार हैं, वचन की प्रत्येक भंगिमा अलंकारमयी होती है। अतः अलंकार का क्षेत्र व्यापक है और वह अप्रस्तुत योजना के अतिरिक्त भी सम्भव है। तुलसी का काव्य अलंकारों का भी अनन्त भंडार है और विशेषता यह है कि प्रायः स्वाभाविक रूप से काव्य–प्रवाह के अन्तर्गत आ गये हैं, प्रयत्न साध्य नहीं हैं। अप्रस्तुत योजना के विवेचन में हम तुलसी के उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशायोक्ति, दृष्टान्त, उदाहरण इत्यादि अनेक अलंकारों की छटा देखते हैं इसके अतिरिक्त तुलसी ने दृष्टांत, उदाहरण, वैषम्यमूलक, विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर विवेचन किया है।

शब्दालंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार उत्पादन के लिए किया जाता है। अतः तुलसी की प्रवृत्ति इस ओर कम है। शब्दालंकारों में से अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग तुलसी के काव्य में हुआ है। अतः तुलसी की अप्रस्तुत–योजना और उनका अलंकार–विधान काव्य की गरिमा, अर्थ की उदात्तता और भाव–सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए हुआ है केवल चमत्कारोत्पादन और पाण्डित्य–प्रदर्शन के लिए नहीं।

24.4 सारांश

इस प्रकार तुलसी का काव्य–सौष्ठव अद्वितीय है। उनके काव्य में भाव–प्रवणता, शैली सौष्ठव और जो उदात्तता है वह अन्य कवियों में विरल ही नज़र आती है। तल्लीनता, प्रबन्ध–पटुता रचना–चातुर्य, भाषा –सौष्ठव रस– परिपाक, अलंकार योजना आदि चाहे जिस दृष्टि से देखें गोसाईं जी में हम सब दशाओं में कला का अन्यतम उत्कर्ष पाते हैं।

24.5 प्रश्नावली

1. तुलसीदास की काव्य शैली को स्पष्ट कीजिये।

_____

_____

_____

_____

2. तुलसी के अलंकार सौष्ठव का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. 'काव्य की दृष्टि से तुलसी की प्रतिभा अप्रतिम हैं' सिद्ध कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

24.6 पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि – डॉ. द्वारिका प्रसाद
2. तुलसी – संपादक उदयभानु सिंह
3. तुलसी कृत विनयपत्रिका का काव्य शास्त्रीय अध्ययन –डॉ. राम अवतार पाण्डेय।


~~~
~~~